

Printed by Ramchandra Yerru Sledge, at the 'Nirnaya-sagar'
Press, 23 Ko'ltat Lane, Bombay.

Edited by Shri Rameshankar Jagajeevan Javeri Hon. Vyasar'pad
Shree Paramashrota Prabhavak Mandal, Javeri Bazar,
Kharakusa, Bombay. No 2.



प्रस्तावना.

आज मैं मोक्षके इच्छुक पाठकोंके सम्मुख इस यथार्थ गुणवाले परमात्मप्रकाश ग्रंथको दो टीकाओंसहित उपस्थित करता हूँ । यह ग्रंथ साक्षात् मोक्षमार्गका प्रतिपादक है । जिस तरह श्रीबुद्धदेवचार्यकी प्रसिद्ध नाटकप्रणी है उसी तरह यह भी अध्यात्मविषयकी परम सीमा है क्योंकि ग्रंथकर्ताने स्वयं इस ग्रंथके पढ़नेका फल लिखा है कि इसके हमेशा अभ्यास करनेवालोंको मोक्ष कर्म दूर होकर केवलज्ञानपूर्वक मोक्ष अवश्य ही होसकती है परंतु हम ग्रंथके पात्र बनकर अभ्यास करना चाहिये अन्यथा यगलाभक्तिसे इच्छित फल नहीं मिल सकता । इसका आनंद ये ही भव्यजीव जान सकेंगे जो इसका शुद्ध मनसे स्वाध्याय और इसके अनुसार आचरण करेंगे । वचनसे इसकी प्रशंसा नहीं होसकती । कविशर बनारसीदासजीने भी अपने नाटकसमयसारमें कहा है कि 'हे जीव यदि तू असली आत्मीकमुसका खाद चखने चाहता है तो जैसे विषयभोगादिमें हमेशा चिंत लगाता है वैसे आत्माके स्वरूपके विचारमें छह महीना कमसे कम अभ्यास करके देख ले तो तुझे स्वयं उम परमानंदके रसका अनुभव होजाइगा' इत्यादि । इसलिये इसका पठन मनन करनेसे इसका आनंद व फल उनको अवश्य मिल सकेगा ।

इस आत्माकी अनंत शक्ति है यह बात आजकलके पिजली आदि अचेतन पदार्थोंको देखनेवाले व्यवहारी जीवोंको झूठी मालूम पड़ती होगी परंतु जिसका "आत्मा अनंत शक्तिवाला है" ऐसा वचन है उसीने यह भी कह दिया है "अपज्ञेयं जयेत् सरं अर्थात् जगतको जीतनेवाले कामदेवको जिसने जीतलिया है" इस वचनकी तरफ किसीकी भी दृष्टि नहीं पड़ती । अतएव ब्रह्मचर्यपालनेवाला ही इसका पात्र हो सकता है ।

इस ग्रंथके मूलकर्ता श्री योगीन्द्रदेव हैं । उन्होंने अपने 'प्रभाकरमठ'के प्रभु करनेपर जगतके सब भव्यजीवोंके कल्याण होनेका विचार रख कर उत्तररूप उपदेश प्राकृतभाषामें तीनसौ पैंतालीस दोहा छंदोंमें दिया है । ये आचार्य इनकी कृति देखनेसे तो बहुत प्राचीन मालूम होते हैं परंतु इनका जन्मसंवत् तथा जन्मभूमि हमें निश्चित नहीं हुई है । इन प्राकृतदोहा गृध्रोंपर श्री ब्रह्मदेवजीने संस्कृतटीका रची ।

ब्रह्मदेवके समयनिर्णयके लिये शृङ्खलसंग्रहमें उद्धृत हो चुका है कि विक्रमकी १६ वीं शताब्दिके मध्यमें किसीसमय श्री ब्रह्मदेवजीने अपने अवतारसे भारतवर्षको पवित्र किया था । विशेष शृङ्खलसंग्रहमें देखलेना ।

इस संस्कृत टीकाके अनुसार ही पंडित दौलतरामजीने प्रजभाषा बनाई । यद्यपि उक्त पंडितजीकृत भाषा प्राचीनपद्धतिसे बहुत ठीक है परंतु आजकलके नवीन प्रचलित हिंदी-भाषाके संस्कारकमहाशयोंकी दृष्टिमें वह भाषा सर्वदेसीय नहीं समझी जाती है । इस कारण मैंने पंडित दौलतरामजीकृत भाषानुवादके अनुसार ही नवीन सरल हिंदीभाषामें अवि-कल अनुवाद किया है । इतना फेरफार अवश्य हुआ है कि उस भाषाको अन्यथा तथा भावार्थरूपमें बांट दिया है । अन्य कुछभी न्यूनाधिकता नहीं की है । कहीं लेखकोंकी भूलसे कुछ छूटगया है उसको भी मैंने संस्कृतटीकाके अनुसार संमाल दिया है ।

इस ग्रंथका जो उद्धार स्वर्गाय तत्त्वज्ञानी श्रीमान् रायचंद्रजी द्वारा स्थापित श्रीपरमशुन-प्रभावकमंडलकी तरफसे हुआ है इसलिये उक्त मंडलके उत्साही प्रबंधकर्त्ताओंको कोटिग-धन्यवाद देता हूं कि जिन्होंने अत्यंत उत्साहित होकर ग्रंथ प्रकाशित कराके मध्य जीवोंको महान् उपकार पहुंचाया है । और श्रीजीसे प्रार्थना करता हूं कि वीतसगप्रणीत उच्च श्रेणीके तत्त्वज्ञानका इच्छित प्रसार करनेमें उक्तमंडल कृतकार्य होवे ।

द्वितीय धन्यवाद श्रीमान् ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको दिया जाना है कि जिन्होंने इस ग्रंथकी संस्कृतटीकाकी प्राचीन प्रति लाकर प्रकाशित करनेकी अत्यंत प्रेरणा की । उन्हींके उत्साह दिलानेसे यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है ।

अब मेरी अंतमें यह प्रार्थना है कि जो प्रमादवश दृष्टिदोषसे तथा बुद्धिकी न्यूनतासे कहीं अशुद्धियां रह गई हों तो पाठकगण मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढ़ें क्योंकि इस आध्यात्मिक ग्रंथमें अशुद्धियोंका रहजाना संभव है । इस तरह धन्यवादपूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावनाको समाप्त करता हूं । अर्ल विज्ञेपु ।

खतरगली होदावादी

पो० गिरगांव-बंबई

वैशाख वदि ३ बी० सं० १४४२

जैनसमाजका सेवक

मनोहरलाल

पादम (मैनपुरी) निवासी ।

श्री पीतरागाय नमः ।

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित ग्रन्थोंका

सूचीपत्र ।



१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय भाषाटीका यह श्री अमृतचन्द्रस्वामी विरचित प्रसिद्ध शास्त्र है । इसमें आचारसंयन्त्री बडे २ गूढ रहस्य हैं निरोप कर हिंसाका स्वरूप बहुत खूबीके साथ दर्साया गया है, यह एक बार छपकर विक्रमयाथा इसकारण फिरसे संशोधन कराके दूसरीबार छपाया गया है । न्यौ. १ रु.

२ पञ्चास्तिकाय संस्कृत भा. टी. यह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल और श्रीअमृतचन्द्रगूरीकृत संस्कृतटीकासहित पहले छपा था । अबकी बार इसकी दूसरी आवृत्तिमें एक संस्कृतटीका तात्पर्यवृत्ति नामकी जो कि श्रीजयसेनाचार्यने बनाई है अर्थकी सरलताकेलिये लगादी गई है तथा पहली संस्कृतटीकाके सूक्ष्म अक्षरोंको मोटा करादिया है और गाथासूची व विषयसूची भी देखनेकी सुगमताके लिये लगादी हैं । इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांच द्रव्योंका तो उत्तम रीतिसे वर्णन है तथा कालद्रव्यका भी संक्षेपसे वर्णन किया गया है । इसकी भाषा टीका स्वर्गीय पाडे हेमराजजीकी भाषाटीकाके अनुसार नवीन सरल भाषाटीकामें परिवर्तन कीगई है । इसपर भी न्यौ. २ रु.

३ ज्ञानार्णव भा. टी. इसके कर्ता श्रीशुभचन्द्रस्वाामीने ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है । प्रकरणवश ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी बहुत दिखलाया है यह एकबार छपकर विक्रमया था अब द्वितीयबार संशोधनकराके छपाया गया है । न्यौ. ४ रु.

४ सप्तभंगीवरंगिणी भा. टी. यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है इसमें ग्रंथकर्ता श्रीविमलदासजीने स्वादन्त्रि, स्वात्तास्त्रि आदि सप्तभंगी नयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है । स्वाद्वादमत क्या है यह जाननेकेलिये यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिये । इसकी पहली आवृत्तिमेंकी एक भी प्रति नहीं रही, अब दूसरी आवृत्ति छपकर प्रकाशित हुई है । न्यौ. १ रु.

५ बृहद्रव्यसंग्रह संस्कृत भा. टी. श्रीनेमिचन्द्रस्वामीकृत मूल और श्रीब्रह्मदेवजीकृत संस्कृतटीका तथा उसपर उत्तम बनाई गई भाषाटीका सहित है । इसमें छह द्रव्योंका स्वरूप अतिस्पष्टरीतिसे दिखाया गया है । न्यौ. २ रु.

६ द्रव्यानुयोगतरङ्गणा इस ग्रंथमें शास्त्रकार श्रीमद्गोत्रगागरजीने गुणमनामे मन्दबुद्धि-जीवोंको द्रव्यज्ञान होनेकेलिये 'अथ, "गुणपर्यवडयम्" इस महाशाय नत्तार्थमूत्रके अनुकूल द्रव्य—गुण तथा अन्य पदार्थोंका भी विशेष वर्णन किया है और प्रमगग 'स्यादस्ति' आदि सप्तमंगोंका और दिगंवरार्थवर्ग श्रीदेवमेनस्त्रामीत्रिनिन नयनरुके आ-धारसे नय, उपनय तथा मूलनयोंका भी विस्तारसे वर्णन किया है। न्यो. २ रु.

७ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगममूत्र इसका दूसरा नाम तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र भी है। जैनियोंका यह परममान्य और मुख्य ग्रन्थ है। इसमें जैनधर्मके संपूर्णसिद्धान्त आचार्यवर्य श्रीउमास्वामि (भी) जीने बड़े लाघवसे संग्रह किये हैं। ऐसा कोई भी जैनसिद्धान्त नहीं है जो इसके सूत्रोंमें गभित न हो। सिद्धान्तसागरको एक अत्यन्त छोटेसे तत्त्वार्थरूपी घटमें भरदेना यह कार्य अनुपमसामर्थ्यवाले इसके रचयिताका ही था। तत्त्वार्थके छोटे २ सूत्रोंके अर्थगामीर्थको देखकर विद्वानोंको विस्मित होना पड़ता है। न्यो. २ रु.

८ स्वाद्वादमंजरी संस्कृत भा. टी. इसमें छहों मतोंका विवेचनकरके टीका कर्ता विद्वद्रय श्रीमद्विषेणसूरीजीने स्वाद्वादको पूर्णरूपसे सिद्ध किया है। न्यो. ४ रु.

९ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) संस्कृतछाया और संक्षिप्त भाषाटीका सहित। यह महान् ग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है। इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतना विस्तारसे है कि वचनद्वारा प्रशंसा नहीं होसकती देखनेसेही मादस होसकता है, और जो कुछ संसारका श्रगडा है वह इन्हीं दोनों (जीव-कर्म) के संबन्धसे है सो इनदोनोंका स्वरूप दितानेकेलिये अपूर्व सूर्य है। न्यो. २ रु.

१० गोम्मटसार (जीवकांड)—यह पहले मूलमात्र तो दूसरी जगह छप चुका था और इसका कर्मकांड भी छाया तथा संक्षिप्तभाषाटीका सहित पहले इसी मंडलसे प्रकाशित हो चुका है। अब इसका 'जीवकांड' भी छाया भाषाटीका सहित छप गया है। केवल गाथा सूची विषयसूची आदि परिशिष्टके दो तीन फारम छपना बाकी हैं सो शीघ्र ही तयार कराकर पाठकोंकी सेवामें पहुंचाया जादगा। न्योछावर लगभग पैंने तीन २॥॥) रु० के होगी।

११ प्रवचनसार श्रीअमृतचन्द्रसरिकृत तत्त्वप्रदीपिका सं. टी., "जो कि यूनिवर्सिटीके फोर्समे दाखिल है" तथा श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति सं. टी. और बालावसोभिनी भाषाटीका इन तीन टीकाओं सहित छपाया गया है। इसके मूलकर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य हैं। यह अध्यात्मिक ग्रन्थ है। न्यो. ३ रु.

१२ परमात्मप्रकाश यह ग्रंथ श्रीयोगीन्द्रदेव रचित प्राकृतदोहाओंमें है। इसकी संस्कृत-टीका श्रीब्रह्मदेवकृत है तथा भाषाटीका पं० दौलतरामजीने की है उसके आधारसे नवीन

પ્રચલિત હિંદીભાષા અન્યથાથે માવાથે ટૂંક કરકે બનાઈ ગઈ છે । હસતરહ દો ટીકાઓ સહિત ઉપકર તયાર છે । યે અધ્યાત્મમન્ય નિશ્ચયમોક્ષમાર્ગકા સાધક હોનેસે વહુત ઉપયોગી છે । ન્યોહાવર તીન ૩) રૂ૦ છે ।

૧૩ મોક્ષમાઝા—કર્તા મરહુમસણાવખાની કવી શ્રીમદ્રાજચંદ્ર છે. આ એક સ્યાદ્-વાદ તત્વાવબોધવૃક્ષનું बीज છે. આ મંથ તત્વ પામવાની જિજ્ઞાસા ઉત્પન્ન કરીશકે છું. એમાં કંઈ અંશે પણ દૈવત રહ્યું છે. આ પુસ્તક પ્રસિદ્ધ કરવાનો મુખ્ય હેતુ ઉછરતા માલ્યુવાની અવિચેકી વિધાપામી જે આત્મસિદ્ધીથી મદદ માગે છે તે મદદતા અટકાવવાનો છે. આ મોક્ષમાઝા મોક્ષમેઢવવાનાં કારણ રૂપ છે. આ પુસ્તકની યે બે આવૃત્તિઓ સલાસ થઈ ગઈ છે અને પ્રાદ્કોની બહોઢી માગણી થી આ ત્રીજી આવૃત્તિ છપાવી છે. કીમત તાર ૥૥) આના.

૧૪ માવનાચોધ—આ મંથના કર્તા પણ ઉક્ત મહાપુરુષજ છે. ધૈરાગ્ય ય આ મંથનો મુખ્યવિષય છે. પાત્રતા પામવાનું અને કષાયમલ દૂર કરવાનું આ મંથ ઉત્તમ સાધન છે. આત્મગવેષિઓને આ મંથ આનંદોહાસ આપનાર છે. આ મંથની પણ બે આવૃત્તિઓ સ્વીકૃતિ જવાથી અને પ્રાદ્કોની બહોઢી માગણી થી આ ત્રીજી આવૃત્તિ છપાવી છે. કીમત ચાર આના. આથને મંથો રાસ કરીને પ્રમાવના કરવામારુ અને પાઠશાઢા, જ્ઞાનશાઢા તે મજ સ્કૂલોમાં વિધાર્થીઓને વિધામ્યાસ કરવામાટે અતિ ઉત્તમ છે. અને તેથી સર્વ કોઈ લામ લદ્ રકે તેમાટે ગુજરાતી ભાષામાં અને બાલબોધ ટાઈપમાં છપાવેલ છે.

આવશ્યક સૂચના ।

હસ સમય અપૂર્વે ઔર અતિ ઉપયોગી દો મહાન્ મંથોકા પ્રકાશન હોરહા છે ।

૧ પોઢશક પ્રકરણ—યદ મંથ શ્વેતામ્બરાચાર્ય થી હરિમદ્સૂરિકા બનાયા હુઆ સંસ્કૃત આર્ષાહંદોમેં હે હસમેં સોલદ ધર્મોપદેશકે પ્રકરણ હે । હસકા સંસ્કૃત ટીકા તથા હિંદીભાષાટીકા સહિત પ્રકાશન હોરહા છે । એક વર્ષકે લગભગ તયાર હોજાદ્ગા ।

૨ લઢ્ધિસાર (ક્ષપણાસાર ગર્મિત)—યદ મંથ થી થી નેમિચંદ્રાચાર્યસિદ્ધાંતચક્રવર્તીકા બનાયા હુઆ હે ઔર ગોમ્મટસારકા પરિશિષ્ટ ભાગ હે । હસોસે ગોમ્મટસારકે સ્વાધ્યાય કરનેકી સફલતા હોતી હે । હસમેં મોક્ષકા મૂલકારણ સસ્યક્ત્વકે પ્રાપ્ત હોનેકી પાંચ લઢ્ધિયોકા વર્ણન હે ફિર સમ્યક્ત્વહોનેકે વાદ કર્મોકે નાશ હોનેકા વહુત અચ્છા ક્રમ ચલતાયા ગયા હે ફિ મળ્યજીવ શીખ હી કર્મોસે છૂટ અનંતમુક્તકો પ્રાપ્ત હોકર અવિનાશી પદકો પાસકતે હે । યદ થી મૂલ ગાથા છાયા તથા સંશિષ્ટ ભાષા ટીકા સહિત છપાયા જારહા હે । હદ મદીનેકે લગ ભગ તયાર હોજાદ્ગા ।

सादर निवेदन ।

आत्मकल्याणके इच्छुक मध्यजीवोंसे प्रार्थना है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके प्राहक बनकर अपनी चललक्ष्मीको अचल करें और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्तोंका पठन पाठन द्वारा प्रचार कर हमारी इस परमार्थयोजनाके परिश्रमको सकल करें । तथा प्रत्येक सरस्वतीभण्डार, समा और पाठशालाओंमें इनका संग्रह अवश्य करना चाहिये ॥

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनिमहाराजोंने तथा विद्वानोंने बहुत की है उसको हम स्थानाभावसे लिख नहीं सकते । और यह संस्था किसी स्वार्थकेलिये नहीं है केवल परोपकारकेवास्ते है । जो द्रव्य आता है वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमग्रन्थोंके उद्धारकेवास्ते लगाया जाता है ॥ इति शम् ॥ ता० २०।१।१६ ई०

ग्रंथोंके मिलनेका पता—

शा. रेवाशंकर जगजीवन जौहरी,
ऑनैरैरी व्यवसायक श्रीपरमश्रुतप्रभावकर्मण्डल,
जौहरीवाजार-स्वाराकुवा. पो० नं. २ रंगई. ।



श्रीपरमात्मने नमः ।

श्रीमद्योगीन्द्रदेवविरचितः

परमात्मप्रकाशः ।

(टीकाद्वयोपेतः)

श्रीमद्ब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीका ।

चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।

परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

इदानीं प्रथमपौतनिकाभिप्रायेण व्याख्याने क्रियमाणे ग्रन्थकारो ग्रन्थस्यादौ मंगलार्थ-
निष्ठदेवतानमस्कारं कुर्वाणः सन् दोहकमूत्रमेकं प्रतिपादयति;—

जे जाया झाणगियण, कम्मकलंक डहेवि ।

णिघणिरंजणणाणमय, ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

श्रीपंडित दौलतरामजीकृत भाषाटीका ।

दोहा—चिदानंद चिद्रूप जो, जिनपरमात्मदेव ।

सिद्धरूप मुविशुद्ध जो, नमों ताहि करि सेव ॥ १ ॥

परमात्म निजवस्तु जो, गुण अनंतमय शुद्ध ।

ताहि प्रकाशनके निमित्त, चंदू देव प्रशुद्ध ॥ २ ॥

‘चिदानंद’ इत्यादि श्लोकका अर्थ—श्रीजिनेश्वर देव शुद्ध परमात्मा आनंदरूप
चिदानंद चिद्रूप जो हैं उनकेलिये मेरा सदाकाल नमस्कार होवै । किसलिये । परमात्माके
स्वरूपके प्रकाशनेके लिये । कैसे हैं वो भगवान् । शुद्ध परमात्मस्वरूपके प्रकाशक हैं
अर्थात् निज और पर सबके स्वरूपको प्रकाशते हैं । फिर कैसे हैं । ‘सिद्धात्मने’ जिनका
आत्मा श्रुतकृत्य है । सारांश यह है कि नमस्कार करनेयोग्य परमात्मा ही है इसलिये
परमात्माको नमस्कारकर परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथका व्याख्यान करता हूं ॥

ये जाता ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कानि दग्ध्वा ।

नित्यनिरञ्जनज्ञानमयास्तान् परमात्मनः नत्वा ॥ १ ॥

जे जाया ये केचन कर्तारो महात्मानो जाता उत्पन्नाः । केन कारणभूतेन । ज्ञान-
गियए ध्यानाग्निना । किं कृत्वा पूर्वं । कम्मकलंक डहेयि कर्मकलंकमलान् दग्ध्वा
भग्मीकृत्वा । कथंभूताः जाताः । णिचणिरञ्जणणाणमय नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः ते परमप-
णवेयि तान्परमात्मनः कर्मतापनाशत्वा प्रणम्येति तात्पर्यार्थव्याख्यानं समुदायकथनं संपि-
ण्डितार्थनिरूपणमुपोद्घातः संप्रहृवाक्यं वार्तिकमिति यावन् । इतो विशेषः । तथा—ये
जाता उत्पन्ना मेघपटलविनिर्गतदिनकरकिरणप्रभाववत्कर्मपटलविघटनसमये सकलविमल-
केवलज्ञानाग्नान्तचतुष्टयव्यक्तिरूपेण लोकालोकप्रकाशनमभ्यर्थेन सर्वप्रकारोपादेयभूतेन कार्य-
ममयमारूपपरिणताः । कया नयविवक्षया जाताः । सिद्धपर्यायपरिणतिव्यक्तरूपतया
घातुनागने सुवर्णरयायपरिणितव्यक्तियन् । तथाचोक्तं पञ्चास्तिकाये । पर्यायाधिकनयेन
“अवदुषुब्धो हवदि मिद्धो” इत्याधिकनयेन पुनः गतपेक्षया पूर्वमेव शुद्धबुद्धैकस्वभार-

अब प्रथमरातनिकाके अभिप्रायसे व्याख्यान किया जाता है उसमें ग्रंथकर्ता श्री-
योगीन्द्राचार्य ग्रंथके आदिमें मंगलकेलिये इष्टदेवता श्रीभगवानको नमस्कार करते
हुए एक दोहाउंद कहते हैं—[ये] जो भगवान् [ध्यानाग्निना] ध्यानरूपी अग्निसे
[कर्मकलङ्कानि] पढ़ते कर्मरूपी मैलोंको [दग्ध्वा] भस्मकरके [नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः
जाताः] नित्य, निरञ्जन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं [तान्] उन
[परमात्मनः] मिटोंको [नत्वा] नमस्कारकरके मैं परमात्मप्रकाशका व्याख्यान करता
हूँ । यह मोक्ष व्याख्यान किया । इसके बाद विशेष व्याख्यान करते हैं—जैसे मेघप-
टलमें बार निक्षी हुई सूर्यकी किरणोंकी प्रभा प्रकट होती है उगीतरह कर्मरूप
केदम्परह विनश होनेपर अन्यान्य निमेष केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयकी प्रगटतात्पर्यरूप
परमात्मा परिणत हुए हैं । अनंतचतुष्टय अर्थात् अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतगुण अनंतरीति
ये अनंतचतुष्टय स्वयंकार अंगीकार करने योग्य हैं तथा लोकालोकके प्रकाशनेको समर्थ
हैं । अब सिद्धाग्नेयी अनंतचतुष्टयरूप परिणमे तब कार्यममयगार हुए । अनंतरागभव-
स्वप्ने दग्धजननदग्ध्वा ये । अब कार्यममयगार हुए तब मिद्ध पर्याय परिणतिनी प्रगटतात्पर्यरूप
शुद्ध परमात्मा हुए । जैसे सौदा अन्धधनुक मिठापमे रहित हुआ अपने सोदृशानरूप
प्रगट होता है उसीतरह कर्म केदम्परहिन मिद्धपर्यायरूप परिणमे । तथा पंचादिद्वयप्रथमे
ही कहा है—ये पर्यायाधिकनयका “अवदुषुब्धो हवदि मिद्धो” अर्थात् जो पढ़ते
निद्धर्मादि कर्मोंकी पढ़े की वह कर्मकेदम्परह मिठापमे रहते । यह पर्यायाधिकनयकी
सुदृक्त्वसे बखत है, ऐसे दग्धर्थाधिकनयका शक्तिनी अंगता यह जीव सदा ही शुद्ध बुद्ध

निष्ठानि धातुपापाणि सुवर्णशक्तिवन् । तथाचोक्तं द्रव्यसंग्रहे । शुद्धद्रव्याधिकनयेन “सत्त्वे शुद्धा तु शुद्धण्या” सर्वे जीवाः शुद्धसुदृक्त्वभावाः । केन जाताः । ध्यानाग्निना करण-भूतेन ध्यानशब्देन आगमापेक्षया धीतरागनिर्विकल्पशुद्धध्यानं, अध्यात्मापेक्षया धीतराग-निर्विकल्परूपातीतध्यानं । तथाचोक्तं । “पदस्यं मन्त्रवाक्यस्यं पिण्डस्यं स्वात्मचिन्तनं । रूपस्यं सर्वेचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम् ॥” तत्र ध्यानं वस्तुवृत्त्या शुद्धालसाम्यश्रु-भद्धानुमानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नीतरागपरमानन्दसमरसीभा-वसुखरसादिरूपमिति ज्ञानव्यम् । किं कृत्वा जाताः । कर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कर्ममल-शब्देन द्रव्यकर्मभावकर्मणि शृङ्खन्ते । पुद्गलपिण्डरूपाणि ज्ञानावरणादीन्यष्टौ द्रव्यकर्माणि, रागादिसंकल्पविकल्परूपाणि पुनर्भावरूपाणि । द्रव्यकर्मदहनमुपचरितासन्नूतव्यवहारनयेन भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिम्बयेन, शुद्धनिम्बयेन घन्धमोक्षं न सः । इत्थंभूतकर्ममलकलङ्कान् दग्ध्वा कर्मभूता जाताः । नित्यनिरञ्जनज्ञानमयाः । क्षणिककान्तवादिस्तौगतमत्तानुसारि-

(ज्ञान) समाव तिष्ठता है । जैसे धातुपापाणके मेलमें भी शक्तिरूप सुवर्ण मीजूद ही है क्योंकि सुवर्णशक्ति सुवर्णमें सदाही रहती है जब पर वस्तुका संयोगदूर होजाता है तब वह व्यक्तिरूप होता है । सारांश यह है कि शक्तिरूप तो पहले ही था लेकिन व्यक्तिरूप सिद्धपर्याय पानेसे हुआ ॥ शुद्ध द्रव्याधिकनयकर सभी जीव सदा शुद्ध ही हैं । ऐसा ही द्रव्यसंग्रह में कहा है “सत्त्वे शुद्धा तु शुद्धण्या” अर्थात् शुद्ध नयकर सभी जीव शक्ति-रूप शुद्ध हैं और पर्यायाधिकनयसे व्यक्तिकर शुद्ध हुए । किस कारणसे ! ध्यानाग्निना अर्थात् ध्यानरूपी अग्निकर कर्मरूपी कलंकोंको भस्म किया तब सिद्धपरमात्मा हुए । वह ध्यान कौनसा है ! आगमकी अपेक्षा तो धीतराग निर्विकल्प शुद्धध्यान है और अध्यात्म-की अपेक्षा धीतराग निर्विकल्प रूपातीत ध्यान है । तथा दूसरी जगह भी कहा है— “पदस्यं” इत्यादि, उसका अर्थ यह है कि णमोकार मंत्र आदिका जो ध्यान है वह पदस्य कहलाता है, पिंड (शरीर) में ठहरा हुआ जो निज आत्मा है उसका चिंतन वह पिण्डस्य है, सर्व चिद्रूप (सकल परमात्मा) जो अरहंतदेव उनका ध्यान वह रूपस्य है और निरंजन (सिद्ध भगवान) का ध्यान रूपातीत कहा जाता है । वस्तुके समापसे विचारा जाये तो शुद्ध आत्माका सम्बन्धदर्शन सम्बन्धज्ञान सम्बन्ध चरित्ररूप अभेद रसप्रयमई जो निर्विकल्प समाधि है उससे उत्पन्न हुआ धीतराग परमानन्द समरसी भाव सुखरसका आस्वाद वही जिसका स्वरूप है ऐसा ध्यानका लक्षण जानना चाहिये । इसी ध्यानके प्रभावसे कर्मरूपी मेल सौई हुए कलंक उनको भस्मकर सिद्ध हुए । कर्मकलंक अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म इनमेंसे जो पुद्गलपिण्डरूप ज्ञानावरणादि पाठ कर्म वे द्रव्यकर्म हैं और रागादिक सकल्प विकल्परूप परिणाम भावकर्म कहेजाते हैं । वही भावकर्म का दहन

शिव्यं प्रति द्रव्यार्थिकनयेन नित्यदङ्कोत्कीर्णज्ञापकस्वभावपरमानन्दद्रव्यव्यवस्थापनार्थं नित्यविशेषणं कृतं, अथ कल्पप्रते गते जगत् शून्यं भवति पञ्चात्मद्वयविशेषणं जगत्करणवियये चिन्ता भवन्ति तदनन्तरं मुक्तिगतानां जीवानां कर्माञ्जनमयोगं कृत्वा संसारे पतनं करोतीति नैयायिका वदन्ति तन्मतानुमार्गिशिव्यं प्रति भावकर्मद्रव्यकर्मनोफर्माञ्जननिषेधार्थं मुक्तजीवानां निरञ्जनविशेषणं कृतं । मुक्तान्मां मुनावस्थाद्विर्ज्ञेयविषये परिज्ञानं नास्तीति सांख्ये वदन्ति तन्मतानुमार्गिशिव्यं प्रति जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसर्वपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानम्यापनार्थं ज्ञानमय-विशेषणं कृतमिति । तानित्यंभूतान् परमात्मनो नत्वा प्रणम्य नमस्कृत्येति क्रियाकारकमन्वयः । अत्र नत्वेति शब्दरूपो वाचनिको द्रव्यनमस्कारो ब्राह्ममद्भूतव्यवहारात्मनयेन ज्ञातव्यः, केवलज्ञानाद्यन्तर्गुणस्मरणरूपो भावनमस्कारः पुनरशुद्धनिश्चयनयेन, शुद्धनिश्चयनयेन बन्धवन्धकभावो नास्तीति । एवं पदव्यञ्जनारूपेण ज्ञेयार्थः कथितः, नयविभागकथनरूपेण

अशुद्ध निश्चयनयकर हुआ, तथा द्रव्यकर्मका दहन असद्रूत अनुपचरितव्यवहार नयकर हुआ । और शुद्धनिश्चयकर तो जीवके बंधमोक्ष दोनों ही नहीं है । इसप्रकार कर्मरूपम-लौको भस्मकर जो भगवान् हुए वे कैसे हैं ? वे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी नित्य निरञ्जन ज्ञानमई हैं । यहाँ पर नित्य जो विशेषण किया है वह एकांतवादी बौद्ध जो कि आत्माको नित्य नहीं मानता क्षणिक मानता है उसके समझानेके लिये है । द्रव्यार्थिकनयकर आत्माको नित्य कहा है दंकोत्कीर्ण अर्थात् टांकीकासा पड़वा सुपट ज्ञापक एकस्वभाव परम द्रव्य है ऐसा निश्चय करनेके लिये नित्यपनेका निरूपण किया है । इसके बाद निरञ्जनपनेका कथन करते हैं । जो नैयायिकमती हैं वे ऐसा कहते हैं “सौ कल्प काल चले जानेपर जगत् शून्य हो जाता है । सब जीव उससमय मुक्त होजाते हैं । नव सदाशिवको जगतके करनेकी विता होती है । उसके बाद जो मुक्त हुए थे उन मयके कर्मरूप अंजनका संयोगकरके संसारमें पुनः डाल देता है” ऐसी नैयायिकोंके श्रद्धा है । उनके संयोगपनेके लिये निरञ्जनपनेका वर्णन किया कि भावकर्म द्रव्यकर्म नोफर्मरूप अंजनका संसर्ग सिद्धोंके कभी नहीं होता । इसीलिये सिद्धोंको निरञ्जन ऐसा विशेषण कहा है । अब सांख्यमती कहते हैं— “जैसे सोनेकी अवन्नामें सोने हुए पुरुषको बाध पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता वैसे ही मुक्त-जीवोंको बाध पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है” ऐसे सिद्धदर्शमें ज्ञानका अभाव मानते हैं उनके प्रतिबोध करनेके लिये तीन जगत् तीनकालवर्ती सब पदार्थोंका एक समयमें ही जानना है अर्थात् जिसमें समस्त लोकलोकेके जाननेकी शक्ति है ऐसे ज्ञापकत्वरूप केवल ज्ञानके स्मरण करनेके लिये सिद्धोंका ज्ञानमय विशेषण किया । वे भगवान् नित्य हैं निरञ्जन हैं और ज्ञानमय है ऐसे सिद्ध परमात्माओंको नमस्कारकरके सबका व्याख्यान करता हूँ । यह

तयोर्भक्तिः, धौर्ज्यादिस्वरूपकथनप्रत्याये मतार्थोपि निरूपितः, एवंगुणविशिष्टाः
जा गुणाः शक्तिरित्यागमार्थः प्रणिद्धः, अत्र निम्ननिरञ्जनज्ञानमयत्वरूपं परमात्मद्रव्य-
तत्त्वमिति भावार्थः । अनेन प्रचारेण शब्दनयमनागमभाषार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं
एव शङ्क्य इति ॥ १ ॥

अथ संगाराद्यमुद्रोक्तोपायभूतं रजिस्वर्गनिर्विकल्पसमाधिपतेन समाम्नाये शिवमयनि-
रञ्जनमया भक्तिरन्त्यमे मानहं नमस्कारोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा प्रत्यकारः सूत्रमाह,
तनेन जप्तेन पाननिवाण्यरूपे सर्वत्र शाण्ड्यम् :—

ते पदं सिरिसिद्धगण, होसहिं जेवि अर्णत ।

सिधमयणिरूपमज्ञानमय, परमसमाहि भजंत ॥ २ ॥

तान् वन्दे भीसिद्धगणान् भविष्यन्ति येवि अनन्ताः ।

शिवमयनिरूपमज्ञानमया, परमसमाधि भजन्तः ॥ २ ॥

ते पदं सिरिसिद्धगण, होसहिं जेवि अर्णत । तान् वन्दे । तान् वन्दे । सिरिसिद्धगण भीसिद्धगणान् । ये हिं कल्पन्ति ।
महिं जेवि अर्णत भविष्यन्त्यमे वेप्पवन्ताः । कथंभूता भविष्यन्ति । शिवमयणिरूप-
मज्ञानमय शिवमयनिरूपमज्ञानमयाः । हिं भजन्तः सन्तः इत्थंभूता भविष्यन्ति ।
परमसमाहि भजन्त रगारिचिकन्परहितममाधि भजन्तः सेवमानाः । इतो विशेषः ।

नमस्कारशब्दरूप वचन द्रव्यनमस्कार है और केवलज्ञानादि अनंतगुणस्वरूप भावनमस्कार
हो जाना है । यह द्रव्य भावरूप नमस्कार व्यवहारनयकर साधकदशा में कहा है शुद्ध
व्ययनयकर बंधवन्दक भाव नहीं है । ऐसे पदसंहनारूप शब्दार्थ कहा और नयविभाग-
प कथनकर नयार्थ भी कहा तथा धौर्ज्या नैयायिक सांख्यदिमतके कथनकरनेसे मतार्थ
है, इसप्रकार अनंत गुणात्मक सिद्धपरमेष्ठी संसारसे मुक्त हुए हैं यह सिद्धांतका अर्थ
सिद्ध ही है और निरञ्जन ज्ञानमई परमात्माद्रव्य आदरने योग्य है उपादेय है यह
भावार्थ है । इसीतरह शब्दनयमनागमभाषार्थ व्याख्यानके अथसरपर सबत्रगह जानलेना ।
ह पहले दोहाका अर्थ कहा ॥ १ ॥ अब संसार समुद्रके तरनेका उपाय जो
रजिस्वर्गनिर्विकल्पसमाधिरूप जिहान है उसपर चढ़के जो आगामी कालमें कल्याणमय
अनुपमज्ञानमई होंगे उनको मैं नमस्कार करता हूं;—[“अहं”] मैं [तान्] उन
सिद्धगणान्] सिद्धसमूहोंको [वन्दे] नमस्कार करता हूं [येवि] जो [अनन्ताः]
आगामीकालमें अनंत [भविष्यन्ति] होंगे । कैसे होंगे ! [शिवमयनिरूपमज्ञानम-
याः] परमकल्याणमय, अनुपम और ज्ञानमय होंगे । क्या करते हुए ? [परमसमाधि]
रगादिविकल्परहित जो परमसमाधि उसको [भजन्तः] सेवते हुए ॥ अब विशेष कहते
—जो सिद्ध होवेंगे उनको मैं वन्दता हूं । कैसे होंगे आगामी कालमें सिद्ध ! केवल-

तथाहि—तान् सिद्धगणान् कर्मतापन्नान् अहं वन्दे । कथंभूतान् । केवलज्ञानादिमोक्ष-
लक्ष्मीसहितान् सम्यक्त्वाद्यष्टगुणविभूतिसहितान् अनन्तान् । किं करिष्यन्ति । ये वीतराग-
सर्वज्ञप्रणीतमार्गेण दुर्लभयोधिं लब्ध्वा भविष्यन्त्यग्रे श्रेणिकादयः । किंविशिष्टा भविष्यन्ति ।
शिवमयनिरुपमज्ञानमयाः । अत्र शिवशब्देन स्वशुद्धात्मभावानोत्पन्नवीतरागपरमानन्दमुख्यं
प्राप्तं, निरुपमशब्देन समस्तोपमानरहितं प्राप्तं, ज्ञानशब्देन केवलज्ञानं प्राप्तं । किं कुर्वाणः
सन्त इत्यंभूता भविष्यन्ति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्ज्ञानज्ञानानुचर-
णरूपामूल्यरत्नत्रयभारपूर्णं मिथ्यात्वविषयकपायादिरूपममसविभावजलप्रवेगारहितं शुद्धा-
त्मभावानोत्पन्नसहजानन्दैकरूपमुत्सामृतविपरीतनरकादिदुःस्वरूपेण धारजलेन पूर्णस्य संसार-
समुद्रस्य तरणोपायभूतं समाधिपोतं मजन्तः सेवमानास्तदाधारेण गच्छन्त इत्यर्थः ।
अत्र शिवमयनिरुपमज्ञानमयशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ २ ॥

अथानन्तरं परमसमाध्यग्निना कर्मन्वनहोमं कुर्वाणान् वर्तमानान् सिद्धान्तं
नमस्करोमि;—

तेहउ वंदउं सिद्धगण, अत्थहिं जेवि हवंत ।

परमसमाहिमहग्गियण, कस्मिंघणइ जुणंत ॥ ३ ॥

तान् वन्दे सिद्धगणान्, तिष्ठन्ति येपि भवन्तः ।

परमसमाधिमहामिना, कर्मन्वनानि होमयन्तः ॥ ३ ॥

तेहउ वंदउं सिद्धगण तानहं सिद्धगणान् वन्दे । ये कथंभूताः । अत्थहिं जेवि हवंत

ज्ञानादि मोक्षलक्ष्मी सहित और सम्यक्त्वादि आठगुणों सहित अनन्तें होंगे । कहा करके
सिद्ध होंगे ? वीतराग सर्वज्ञदेवकर प्ररूपित मार्गकर दुर्लभ ज्ञानको पाके राजा श्रेणिक
आदिकके जीव सिद्ध होंगे । पुनः कैसे होंगे ? शिव अर्थात् निज शुद्धात्माकी भावना
उसकर उपजा जो वीतराग परमानन्द सुख उभ स्वरूप होंगे, समस्त उपमारहित अनुपम
होंगे और केवलज्ञानमर्द होंगे । क्याकरते हुए ऐसे होंगे ? निर्मलज्ञानदर्शनस्वभाव जो
शुद्धात्मा है उसके यथार्थ अद्वान ज्ञान आचरणरूप अमोलिक रत्नत्रयकर पूर्ण और
मिथ्यात्व विषयकपायादिरूप समस्त विभावरूप जलके प्रवेशसे रहित शुद्धात्माकी भावनासे
उत्पन्न हुआ जो सहजानन्दैकरूप सुसामृत उसमें विपरीत जो नारकादि दुःख ये ही हुए
धारजल उनकर पूर्ण हम मंगारूपी समुद्रके तरनेका उपाय जो परम समाधिरूप जिज्ञाज
उनको सेवन हुए उसके आधारमें चढ़ने हुए अनन्त सिद्ध होंगे । इस व्याख्यानका यह
भावार्थ हुआ कि जो शिवमय अनुपम ज्ञानमय शुद्धात्मस्वरूप है वही उपादेय है ॥ २ ॥
यह दूसरे दोहेका अर्थ हुआ । आगे परमसमाधिरूप अग्निमें कर्मरूप ईधनका होम करते
हुए वर्तमानकाटमें ध्याविदेह क्षेत्रमें सीमंभरामामी आदि तिष्ठने हैं उनको नमस्कार

इदानीं तिष्ठन्ति ये भवन्तः संतः । किं शुचोऽणान्तिष्ठन्ति । परमसमाधिमहाम्गियए
कर्मिण्यपि हि दुष्टेन परमगमाध्यक्षिना कर्मैन्धनानि होमयन्तः । अतो विशेषः । तथा-
ताम गिह्यगमूहानां वन्दे वीतरागनिर्विकल्पसंवेदनज्ञानलक्षणपारमार्थिकसिद्धभक्त्या
नमस्करोमि । ये विविदिष्टाः । इदानीं पञ्चमहाविदेहेषु भवन्तस्तिष्ठन्ति भीरीमन्धरस्यामि-
प्रभृतयः । किं शुर्वन्तस्तिष्ठन्ति । वीतरागपरमसमाधियुक्तभावनाविनाभूतनिर्दोषपरमात्म-
सम्पत् भजानज्ञानानुपरणरूपाभेदरसत्रयान्तरनिर्विकल्पसमाधिबैधानरे कर्मैन्धनाहुतिभिः
कृत्या होमं शुर्वन्त इति । अत्र शुद्धात्मद्रव्यस्योपादेयभूतस्य प्राप्त्युपायभूतत्वामिर्विकल्पसमा-
धिरेवोपादेय इति भावार्थः ॥ ३ ॥

अथ स्वरूपं प्राप्यापि तेन संबन्धानुष्ठानवलेन ये सिद्धा भूत्वा निर्वाणे वसन्ति
तानहं वन्दे;—

ते पुणु पदं सं सिद्धगण, जे निष्ठायाणि वसन्ति ।
णार्णि तिहुयणिगरूपाधि, भयसापरि ण पडन्ति ॥ ४ ॥
तान् पुनः वन्दे सिद्धगणान्, ये निर्वाणे वसन्ति ।
ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि, मयसागरे न पतन्ति ॥ ५ ॥

ते पुणु पदं सं सिद्धगण तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् । किं विविदिष्टान् । जे निष्ठायाणि
पसन्ति ये निर्वाणे मोक्षपदे वसन्ति तिष्ठन्ति । पुनरपि कथंभूता ये । णार्णि तिहुयणि-

करता हं;—['अहं'] में [तान्] उन [सिद्धगणान्] सिद्ध समूहोंको [वन्दे]
नमस्कार करता हं [येषि] जो [भवन्तः तिष्ठन्ति] वर्तमान समयमें विराज रहे हैं ।
क्या करते हुए ! [परमसमाधिमहाप्रिना] परम समाधिरूप महा अमिकर [कर्मैन्ध-
नानि] कर्मरूप ईधनको [होमयन्तः] भस्मकरते हुए । अब विशेष व्याख्यान है—
उन सिद्धोंको मैं वीतरागनिर्विकल्पसंवेदन ज्ञानरूप परमार्थ सिद्धभक्तिकर नमस्कार
करता हं । कैसे हैं वे ! अब वर्तमान समयमें पंच महाविदेह क्षेत्रोंमें भीमन्धरस्यामी आदि
विराजमान हैं । क्या करते हुए ! वीतराग परमसमाधियुक्त चारित्रिकी भावनाकर संयुक्त जो
निर्दोष परमात्माका यथार्थ भजान ज्ञान आचरणरूप अभेद रसत्रय उसमई निर्विकल्पसमा-
धिरूपी अग्निमें कर्मरूप ईधनको होम करते हुए तिष्ठ रहे हैं । इस कथनमें शुद्धात्मद्रव्यकी
प्राप्तिका उपाय भूत निर्विकल्प समाधि उपादेय (आदरने योग्य) है यह भावार्थ हुआ
॥ ३ ॥ यह तीसरे दोहेका अर्थ कहा । आगे जो महामुनि होकर शुद्धात्मस्वरूपको पाके
सम्यग्ज्ञानके बलसे कर्मोंका क्षयकर सिद्ध हुए निर्वाणमें वस रहे हैं उनको मैं वन्दता
हं;—[पुनः] फिर ["अहं"] मैं [तान्] उन [सिद्धगणान्] सिद्धोंको [वन्दे]
वन्दता हं [ये] जो [निर्वाणे] मोक्षमें [वसन्ति] तिष्ठरहे हैं । कैसे हैं वे [ज्ञानेन]

गुरुयावि भवमायरि ण पडंति ज्ञानेन त्रिभुवनगुरुका अपि भवसागरे न पतन्ति ।
अत ऊर्ध्वं विशेषः । तथाहि—तान पुनर्वन्देऽहं सिद्धगणान् ये तीर्थकरपरमदेवभगवा-
पाण्डवादयः पूर्वकाले धीतरागनिर्विकल्पमयवेदनज्ञानवन्देन शुद्धात्मस्वरूपं प्राप्य कर्मभयं
कृत्वेदानीं निर्वाणं तिष्ठन्ति यदापि न मंत्रयः तानपि लोकालोकप्रकाशकेन्द्रज्ञानमयवेदन-
त्रिभुवनगुरुन । त्रैलोक्यालोकनपरमात्मस्वरूपनिश्चयव्यवहारपदपदार्थव्यवहारनयनेन ज्ञान-
प्रकाशेन समाहितस्वरूपभूते निर्वाणपदोपादेयमिति तान्यर्थार्थः ॥ ४ ॥

अत ऊर्ध्वं व्यवहारनिश्चयशुद्धात्मनो हि सिद्धात्मयापि निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं
तिष्ठंतीति कथयति;—

ते पुणु बंदउं सिद्धगण, जे अप्पाणि वसंत ।

लोपालोउवि सयलुइहु, अन्यहि विमलु णियंत ॥ ५ ॥

तान पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्तः ।

लोकालोकमपि सकलं तिष्ठन्ति विमलं निश्चयन्तः ॥ ५ ॥

ते पुणु बंदउं सिद्धगण तान पुनर्वन्दे सिद्धगणान जे अप्पाणि वसंत लोपालोउवि
सयलुइहु अर्थाहिं विमलु णियंत ये आत्मनि वसन्तो लोकालोकं मतम्यस्वरूपपदार्थं
निश्चयन्त इति । इदानीं विशेषः । तथाया—तान पुनरहं वन्दे सिद्धगणान सिद्धममूर्ह

ज्ञानसे [त्रिभुवनगुरुका अपि] तीनलोकमें गुरु हैं तौमी [भवसागरे] संसारसमुद्रमें
[न पतन्ति] नहीं पड़ते हैं । भावार्थ—जो भारी होता है गुरुतर होता है वह जलमें
डूबजाता है वे भगवान् त्रैलोक्यमें गुरु हैं परंतु भवसागरमें नहीं पड़ते हैं उन सिद्धोंको
मैं बंदता हूं जो तीर्थकर परमदेव तथा भरत सगर राघव पांडवादिक पूर्वकालमें धीतराग-
निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानके बलसे निजशुद्धात्मस्वरूप पाके कर्मोंका क्षयकर परमसमाधान-
रूप निर्वाणपदमें विराज रहे हैं उनको मेरा नमस्कार होवे यह सारांश हुआ ॥ ४ ॥

आगे यद्यपि ये सिद्ध परमात्मा व्यवहारनयकर लोकालोकको देखते हुए मोक्षमें तिष्ठते
हैं लोकके शिखर ऊपर विराजते हैं तौभी शुद्ध निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं
उनको मैं नमस्कार करता हूं;—[“अहं”] मैं [पुनः] फिर [तान्] उन [सिद्ध-
गणान्] सिद्धोंके समूहको [वन्दे] बंदता हूं [ये] जो [आत्मनि वसन्तः]
निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें तिष्ठते हुए व्यवहारनयकर [सकलं] समस्त [लोकालोकं]
लोक अलोकको [विमलं] संशय रहित [निश्चयन्तः] प्रत्यक्ष देखते हुए [तिष्ठन्ति]
टहर रहे हैं । विशेष—मैं कर्मोंके क्षयके निमित्त फिर उन सिद्धों को नमस्कार करता हूं
जो निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें स्थित हैं और व्यवहारनयकर सब लोकालोकको निःसं-
देहपनेसे प्रत्यक्ष देखते हैं परंतु पदार्थोंमें तन्मयी नहीं हैं अपने स्वरूपमें तन्मयी हैं जो पर

बंदे । फर्मभाष्यनिमित्तं । पुनरपि फर्मभूतं सिद्धस्वरूपं । चैतन्यानन्दस्वभावं लोकालोक-
 एतापिगुरुभूपर्यायगुह्यस्वरूपं ज्ञानदर्शनोपयोगलभणं निश्चय परीभूतव्यवहाराभावे स्वात्मनि
 अपि च सुगन्धुःशरभावाभावयोरप्रीकृत्य हरसंवेद्यस्वरूपे व्ययमे तिष्ठन्ति । उपधरितासद्भूत-
 व्यवहारं लोकालोकाग्रसोकनं रामसंबंधं प्रतिभाति आत्मस्वरूपकैवल्यज्ञानोपदामं यथा
 पुष्पापेपदार्थदृष्टो भवति तेषां बाह्यवृत्तिनिमित्तमुत्पत्तिस्थूलसूक्ष्मपरपदार्थव्यवहारात्मानमेव
 जानन्ति । यदि निश्चयेन तिष्ठन्ति तर्हि परकीयसुगन्धुःशरपक्षिताने सुगन्धुःशरानुभवः
 प्राप्नोति, परकीयरागद्वेषपरिज्ञाने च रागद्वेषमयत्वं च प्राप्नोतीति महारूपं । अत्र यत्र
 निश्चयेन स्वस्वरूपेऽवस्थानं भणितं तदेवोपादेयमिति आशयः ॥ ५ ॥

अथ निष्कलात्मानं सिद्धपरमेष्ठिनं नत्वा तत्त्वेदानीं सिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य च
 प्रतिपादकसकलालानं नमस्करोमिः—

केवलदंसणणाणमय, केवलसुखसहाय ।

जिणयर पंदउं भत्तियए, जेहि पयासिय भाय ॥ ६ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखसमायाः ।

जिनवरान् बंदे भक्त्या यैः प्रकाशिता भावाः ॥ ६ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयाः केवलसुखसमाया ये तान् जिनवरानहं बंदे । कया । भक्त्या ।
 यैः किं कृतं । प्रकाशिता भावा जीवाजीवादिपदार्था इति । इतो विशेषः । केवलज्ञा-
 नाद्यनंतपमुष्टयस्वरूपपरमात्मनस्वभ्रम्यक्भद्धानज्ञानानुभूतिरूपाभेदरक्षत्रयालकं सुगन्धुःशर-
 जीवितमरणलाभालाभशानुमित्रममानभावनाविनाभूतवीतरागनिर्विकल्पसमाधिपूर्व जिज्ञो-

पदार्थोमिं तन्मयी हो तो परके सुखदुःख से आप सुखी दुःखी होवे ऐसा उनमें कदाचित्
 नहीं है । व्यवहारनयकर स्थूलसूक्ष्म सबको केवलज्ञानकर प्रत्यक्ष निःसंदेह जानते हैं
 किसी पदार्थसे रागद्वेष नहीं है । यदि रागके हेतुसे किसीको जाने तो वे रागद्वेषमयी
 होयें यह बड़ा दुष्ण है इसलिये यह निश्चय हुआ कि निश्चयनयकर अपने स्वरूपमें
 निवास करते हैं परमें नहीं और अपनी शायकशक्तिकर सबको प्रत्यक्ष देखते हैं जानते
 हैं । जो निश्चयकर अपने स्वरूपमें निवास कहा इसलिये यह अपना स्वरूपही आराधने
 योग्य है यह भावार्थ हुआ ॥ ५ ॥ आगे निरंजन निराकार निःशरीर सिद्ध परमेष्ठीको
 नमस्कार करता हूं;—[केवलदर्शनज्ञानमयाः] जो केवलदर्शन और केवलज्ञानमयी हैं
 [केवलसुखसमायाः] तथा जिनका केवल सुख ही समाव है और [यैः] जिन्होंने
 [भावाः] जीवादिक सकल पदार्थ [प्रकाशिताः] प्रकाशित किये उनको मैं [भक्त्या]
 भक्तिसे [बंदे] नमस्कार करता हूं । विशेष—केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयस्वरूप जो
 परमात्मतत्त्व है उसके यथार्थब्रह्मज्ञान ज्ञान और अनुभव इन स्वरूप अभेदरत्नत्रय यह जिन-

पदेशं लब्ध्वा पश्चादनंतचतुष्टयस्वरूपा जाता ये । पुनश्च किं कृतं । यैः अनुवादरूपेण जीवादिपदार्थाः प्रकाशिताः । विशेषेण तु कर्माभावे सति केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूप-लाभात्सको मोक्षः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरक्षत्रयात्सको मोक्षमार्गश्च, तानहं वंदे । अत्रार्हद्विगुणस्वरूपस्वशुद्धात्मस्वरूपमेवोपादेयमिति भावार्थः ॥ ६ ॥

अथानंतरं भेदाभेदरक्षत्रयाराधकानाचार्योपाध्यायसाधून्मस्करोमिः—

जे परमप्पु णियंति मुणि, परमसमाहि धरेवि ।

परमाणंदहकारणिण, तिणिणवि तेवि णवेवि ॥ ७ ॥

ये परमात्मानं निर्यान्ति मुनयः परमसमार्धि धृत्वा ।

परमानंदकारणेन ग्रीनपि तानपि नत्वा ॥ ७ ॥

जे परमप्पु णियंति मुणि ये केचन परमात्मानं निर्गच्छन्ति स्वसंवेदनज्ञानेन जानन्ति मुनयस्तपोधनाः । किं कृत्वा पूर्वं । परमसमाहि धरेवि रागादिविकल्परहितं परमसमार्धि धृत्वा । केन कारणेन । परमाणंदहकारणिण निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसदानन्दपरमसमर-सीभावमुत्तरसाक्षादनिमित्तेन तिणिणवि तेवि णवेवि ग्रीनयाचार्योपाध्यायसाधून् नत्वा नमस्कृत्येत्यर्थः । अतो विशेषः । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसंबंधं द्रव्यकर्मनोर्कर्मरहितं सधैवाशुद्धनिश्चयसंबंधं मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायरहितं च यच्चिदा-

का स्वभाव है और सुखदुःख जीवित मरण लाभ अलाम शत्रु मित्र सबमें समान भाव होनेसे उत्पन्न हुई धीतरामनिर्विकल्प परमसमाधि उसके कहनेवाले जिनराजके उपदेशको पाकर अनंतचतुष्टयरूप हुए तथा जिन्होंने यथार्थ जीवादिपदार्थोंका स्वरूप प्रकाशित किया तथा जो कर्मका अभाव है वही केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप मोक्ष और जो शुद्धा-त्माका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरक्षत्रय वही हुआ मोक्षमार्ग ऐसे मोक्ष और मोक्षमार्गको भी प्रगट किया उनको मैं नमस्कार करता हूं । इस व्याख्यानमें अरहंतदेवके केवलज्ञानादिगुणस्वरूप जो शुद्धात्मस्वरूप है वही आराधने योग्य है यह भावार्थ जानना ॥ ६ ॥

आगे भेदाभेदरक्षत्रयके आराधक जो आचार्य उपाध्याय और साधु हैं उनको मैं नमस्कार करता हूं;—[ये मुनयः] जो मुनि [परमसमार्धि] परमसमाधिको [धृत्वा] धारण करके सम्यग्ज्ञानर [परमात्मानं] परमात्माको [निर्यान्ति] जानते हैं । किस वास्ते ! [परमानंदकारणेन] रागादि विकल्प रहित परमसमाधिसे उत्पन्न हुए परम सुखके रसका अनुभवकरनेके लिये [तान् अपि] उन [ग्रीन् अपि] तीनों आचार्य उपाध्याय साधुओंकी भी [नत्वा] मैं नमस्कार करके परमात्मनकाशका व्याख्यान करता हूं । विशेष—अनुपचरित अर्थात् जो उपचरित नहीं है इसीमे अनादि संबंध है परंतु असाद्भूत (मिथ्या)

नैकैक्यभावं शुद्धात्मतत्त्वं तदेव भूतार्थं परमार्थरूपमवयवमाशब्दवाच्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतं
तस्माच्च यदन्यत्तद्वेयमिति । चतुर्मतिनामगाढरहितत्वेन निश्चयप्रदानबुद्धिः सम्यक्त्वं तत्राचरणं
परिणमनं दर्शनाचारमत्रैव संशयविपर्ययोमानवयवमाशब्दरहितत्वेन स्वसंबन्धनज्ञानरूपेण ग्राह्य-
बुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः, तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविपर्ययरहितत्वेन
नित्यानन्दमयगुणपरमात्मादभिरानुभवने च सम्यक्चारित्र्यं तत्राचरणं परिणमनं चारित्र्या-
चारः, तत्रैव परद्वयव्यञ्जानिरोधेन महाज्ञानैक्यरूपेण प्रवर्तनं तत्राचरणं तत्राचरणं परिणमनं
तत्राचरणाचारः, तत्रैव शुद्धात्मस्वरूपे स्वगतजननवृद्धनेनाचरणं परिणमनं दीर्घाचार इति
निश्चयपञ्चापाः । निःसङ्काशप्रगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः, बाह्यविनयाप्रभेदो बाह्यज्ञाना-
चारः, पञ्चमहाप्रणपञ्चरमिति त्रिगुनिनिर्मलरूपो बाह्यचारित्र्याचारः, अनन्यनारिहात-
भेदरूपो बाह्यतत्राचरणाचारः, बाह्यमहाप्रणवगुणरूपो बाह्यदीर्घाचार इति । अयं तु
व्यवहारपञ्चाचारः पारंपर्येण साधारण इति । विमुक्तज्ञानदर्शनमन्त्रमात्रशुद्धात्मनश्चमन्त्र-
है ऐसी व्यवहारनयकर द्रव्यकर्मनोकर्मका संबंध होनाहें उगमे रहित और अनुदनिश्चयनय-
कर सागादिकका संबंध है उसमें तथा मतिज्ञानादि विभावगुणके संबंधने रहित और
नानारकादि चतुर्गतिरूप विभावपर्यायोमे रहित ऐसी जो विशदसंचित्प्र एक अवयवमात्र
शुद्धात्मनश्च है वही मन्त्र है । उसीको परमार्थरूप समझना कहना चाहिये । वही सब प्रकार
आराधने योग्य है उससे जुड़ी जो पर वस्तु वह सब स्थावर है । ऐसी दृष्टिमीनि पंचाचार-
हित निर्मल अवगाह परम श्रद्धा है उसको सम्यक्त्व कहते हैं । उसका जो आचरण स-
र्वात् उत्तमरूप परिणमन वह दर्शनाचार कहा जाता है । और उसी निश्चयरूपो निश्चय
विमोह विभ्रम रहित जो स्वसंबन्धनज्ञानरूप ग्राह्य बुद्धि वह सामानान शुभा उगवा
जो आचरण अर्थात् उत्तमरूप परिणमन वह ज्ञानाचार है, उसी शुद्धात्मरूपो शुभ अनुद
समस्त संस्कार विकल्प रहित जो नित्यानन्दमय निजसाक्षा आगाह निश्चय अनुद
सम्यक्चारित्र्य उसका जो आचरण उत्तमरूप परिणमन वह चारित्र्याचार है, उसी दगा-
नंदस्वरूपमें परद्वयही दृष्टावा निरोध कर महाप्र आनंदरूप तत्राचरण स्वरूप दीर्घाच-
रणा वह दीर्घाचार है और उसी शुद्धात्मस्वरूपमें अपनी साक्षिकी साक्षर आचरण दीर्घ-
मन वह दीर्घाचार है । वह निश्चयपंचाचारका लक्षण कहा । अब व्यवहार लक्षण
कहते हैं—नि संशयको आदि ऐकर अष्ट अंगरूप बाह्यदर्शनाचार, साक्षर शुद्ध आनंद
आदि अष्टप्रकार बाह्य ज्ञानाचार, पंच महाप्रण पंच साक्षिकी तीन शुद्धिस्वरूप आचार
चारित्र्याचार, अनन्यनारि बाह्यतत्राचरण तत्राचार और अपनी रहित साक्षर शुद्धिस्वरूप
आचरण वह व्यवहार दीर्घाचार है । वह व्यवहार पंचाचार पंचाचार कोशक कहा है ।
और निर्मल ज्ञान दर्शनमन्त्राह जो शुद्धात्मरूप उगवा सार्वभौमिक रूप आचार
परद्वयही दृष्टावा निरोध और निश्चयनिकी साक्षर करना ऐसी वह निश्चय पंचाचार

परमेष्ठिनमन्त्रारमुच्यते “जे जाया ज्ञानगियण” इत्यादि सप्त दोहकसूत्राणि भवन्ति, तदनंतरं विज्ञापनमुच्यते “भावे णविवि” इत्यादिसूत्रत्रयं, अत ऊर्ध्वं बहिरंतः-परमभेदेन विधानाप्रतिपादनमुच्यते “पुणु पुणु णविवि” इत्यादिसूत्रपञ्चकं, अधानंतरं मुक्तिगण्यनिरूपपरमात्मकथनमुच्यते “तिहुयण वंदिउ” इत्यादि सूत्रदशकं, अत ऊर्ध्वं देहभित्तानिरूपपरमात्मकथनमुच्यते “जेहु जम्मलु” इत्यादि अंतर्भूतप्रक्षेपपञ्चकस-क्तिपरमुक्तिनिरूपसूत्राणि भवन्ति, अथ जीवस्य स्वदेहप्रभितिविषये स्वपरमतविचारमुच्यते “अप्पा जोदय” इत्यादिसूत्रपट्टं, तदनंतरं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपकथनमुच्यते “अप्पा जणियउ” इत्यादि सूत्रत्रयं, अधानंतरं कर्मविचारमुच्यते “जीवह कम्म अणाइ” इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनंतरं सामान्यभेदभावनाकथनेन “अप्पा अप्पुजि” इत्यादि सूत्रनयकं, अत ऊर्ध्वं निश्चयसम्यग्दृष्टिकथनरूपेण “अप्पे अप्पु” इत्यादि सूत्रमेकं, तदनंतरं मिथ्याभा-वकथनमुच्यते “पज्जइ रउउ” इत्यादि सूत्राष्टकं, अत ऊर्ध्वं सम्यग्दृष्टिभावनामुच्यते “कालु लहेविणु” इत्यादि सूत्राष्टकं, तदनंतरं सामान्यभेदभावनामुच्यते “अप्पा संजमु” इत्यादौकाधिकप्रतिशतप्रमितानि दोहकसूत्राणि भवन्ति ॥ इति श्रीयोगीन्द्र-देवविरचितपरमात्मप्रकाशशास्त्रे प्रयोर्विंशत्यधिकशतदोहकसूत्रैर्बहिरंतःपरमात्मस्वरूपकथन-मुच्यते प्रथमप्रकरणपातनिका समाप्ता । अधानंतरं द्वितीयमहाधिकारप्रारंभे मोक्षमोक्ष-

पंचपरमेष्ठीके नमस्कारकी मुख्यताकर “जे जाया ज्ञानगियण” इत्यादि सात दोहा जानना, विज्ञापना की मुख्यताकर “भावे णविवि” इत्यादि तीन दोहा, बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा इन भेदोंसे तीन प्रकार आत्माके कथनकी मुख्यताकर “पुणु पुणु णविवि” इत्यादि पांच दोहा, मुक्तिको प्राप्त हुए जो प्रगटस्वरूप परमात्मा उनके कथनकी मुख्यता-कर “तिहुयण वंदिउ” इत्यादि दस दोहा, देहमें तिष्ठे हुए शक्तिरूप परमात्माके कथनकी मुख्यतासे “जेहु जम्मलु” इत्यादि पांच क्षेपकोसहित चौबीस दोहा, जीवके निजदेह प्रमाण कथनमें स्वमत परमतके विचारकी मुख्यताकर “किवि भणंति जिउ सम्भगउ” इत्यादि छह दोहा, द्रव्यगुणपर्यायके स्वरूप कहनेकी मुख्यताकर “अप्पा जणियउ” इत्यादि तीन दोहा, कर्मविचारकी मुख्यताकर “जीवह कम्म अणाइ जिय” इत्यादि आठ दोहा, सामान्य भेद भावनाके कथन कर “अप्पा अप्पुजि” इत्यादि नौ दोहा, निश्चय-सम्यग्दृष्टिके कथनरूप अप्पे अप्पुजि” इत्यादि एक दोहा, मिथ्याभावके कथनकी मुख्यताकर “पज्जइ रउउ” इत्यादि आठ दोहा, सम्यग्दृष्टीकी मुख्यताकर “कालुलहेविणु” इत्यादि आठ दोहा और सामान्यभेदभावकी मुख्यताकर “अप्पा संजमु” इत्यादि इकतीस दोहा कहे हैं । इसतरह श्रीयोगीन्द्रदेव विरचित परमात्मप्रकाश ग्रंथमें एकसौ तेईस १२३ दोहा-ओंकर पहला प्रकरण कहा है, इस प्रकरणमें बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्माके स्वरूपके कथनकी मुख्यता है तथा इसमें तेरह अंतर अधिकार हैं । अब दूसरे अधिकारमें मोक्ष मोक्ष-

पञ्चमोऽश्रमार्गस्वरूपं कथ्यते—अत्र प्रथमतस्तत्त्वात् “गिरिगुरु” इत्यादिमोक्षमार्गस्वरूप-
मुख्यत्वेन दोहाकसूत्राणि दशकं, अत ऊर्ध्वं “दंशणणाणु” इत्यादिमोक्षमार्ग मोक्षफलं, तद-
नंतरं “जीवहं मोक्षसह हेउवरु” इत्यादिमोक्षमार्गमिति मूत्रपर्यंतं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्ग-
मुख्यतया व्याख्यानं, अथानंतरमभेदव्यवहारमुख्यत्वेन “जो भत्तउ” इत्यादि मूत्रादिकं,
अत ऊर्ध्वं समभावमुख्यत्वेन “कम्म पुरकिउ” इत्यादिमूत्राणि चतुर्दश, अथानंतरं पुण्य-
पापसमानमुख्यत्वेन “बंधहं मोक्षसह हेउणिह” इत्यादिमूत्राणि चतुर्दश, अत ऊर्ध्वं
एकचत्वारिंशन्मूत्रपर्यंतं प्रक्षेपकान् विहाय शुद्धोपयोगस्वरूपमुख्यत्वमिति ममुदाहरणान्तिका ।
तत्र प्रथमतः एकचत्वारिंशन्मध्ये “मुद्धह संजमु” इत्यादि मूत्रपञ्चपर्यंतं शुद्धोपयोग-
मुख्यतया व्याख्यानं, अथानंतरं “दाणं लब्धह” इत्यादि पंचदशमूत्रपर्यंतं वीतरागसंवे-
दजनमानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदनंतरं “लेणह इच्छइ मूड” इत्यादि मूत्राष्टपर्यंतं
परिग्रहत्यागमुख्यतया व्याख्यानं, अत ऊर्ध्वं “जो भत्तउ रणत्तयह” इत्यादि त्रयोदश-
सूत्रपर्यंतं शुद्धनयेन षोडशवर्णिकासुवर्णवन् सर्वे जीवाः केवलज्ञानादिस्वभावलक्षणैः समाना
इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं । इत्येकचत्वारिंशत्सूत्राणि गतानि । अत ऊर्ध्वं “पर जाणंतुवि”
इत्यादि समाप्तिपर्यंतं प्रक्षेपकान् विहाय सप्तोत्तरशतसूत्रचूल्हिका व्याख्यानं । तत्र सप्तो-
त्तरशतमध्ये अवसाने “परमसमाहि” इत्यादि चतुर्विंशतिमूत्रेषु सप्तम्यल्लानि भवन्ति । तस्मिन्

फल मोक्षमार्ग इनका स्वरूप कहा है, उसमें प्रथम ही “सिरि गुरु” इत्यादि मोक्षस्वरूपके
कथनकी मुख्यताकर दस दोहा, “दंशण णाणु” इत्यादि एक दोहाकर मोक्षका फल,
निश्चयव्यवहार मोक्षमार्गकी मुख्यताकर “जीवहं मोक्षसह हेउ वरु” इत्यादि उगनीम
दोहा अभेदरत्नत्रयकी मुख्यताकर “जो भत्तउ” इत्यादि आठ दोहा, समभावकी मुख्यताकर
“कम्म पुरकिउ” इत्यादि चौदह दोहा, पुण्य पापकी समानताकी मुख्यताकर “बंधहं
मोक्षसह हेउ णिह” इत्यादि चौदह दोहा हैं । और शुद्धोपयोगके स्वरूपकी मुख्यताकर
प्रक्षेपकोंके बिना इकतालीस दोहा पर्यंत व्याख्यान है । उन इकतालीस दोहाओंमेंसे प्रथम
ही “मुद्धह संजमु” इत्यादि पांच दोहा तक शुद्धोपयोगके व्याख्यानकी मुख्यता है,
“दाणं लब्धह” इत्यादि पंद्रह दोहा पर्यंत वीतराग संवेदनज्ञानकी मुख्यताकर व्याख्यान
है, परिग्रह त्यागकी मुख्यताकर “लेणह इच्छइ” इत्यादि आठ दोहा पर्यंत व्याख्यान है,
“जो भत्तउ रणत्तयह” इत्यादि तेरह दोहा पर्यंत शुद्धनयकर सोलहवर्णके सुवर्णकी तरह
सब जीव केवलज्ञानादि स्वभावलक्षणकर समान हैं यह व्याख्यान है । इसतरह इकतालीस
दोहाओंके व्याख्यानकी विधि कही उनके चार अधिकार हैं । यहांपर एकसौ ग्यारह
दोहाओंका दूसरा महा अधिकार कहा है उसमें दस अंतर अधिकार हैं । इसके बाद “पर
जाणंतुवि” इत्यादि एकसौ सात दोहाओंमें ग्रंथकी समाप्ति पर्यंत चूल्हिका व्याख्यान है
इनके सिवाय प्रक्षेपक हैं । उन एकसौ सान दोहाओंमेंसे अंतके “परम समाहि” इत्यादि

प्रथमस्थले निर्विकल्पसमाधिमुख्यत्वेन “परमममाहिमहासरहिं” इत्यादि सूत्रत्रयं, तदनंतर-
मर्हत्पदमुख्यत्वेन “सयलवियप्पहं” इत्यादि सूत्रत्रयं, अधानंतरं परमात्मप्रकाशनाममुख्यत्वेन
“सयलहं दोसहं” इत्यादि सूत्रत्रयं, अथ सिद्धपदमुख्यत्वेन “ज्ञाने कम्मवरउ करिवि”
इत्यादि सूत्रत्रयं, तदनंतरं परमात्मप्रकाशाशायकपुरुषाणां फलकथनमुख्यत्वेन “जे परम-
प्पययाम मुणि” इत्यादिमूत्रत्रयं, अत ऊर्ध्वं परमात्मप्रकाशाशायकफलकथनमुख्यत्वेन
“जे भवदुक्करहं” इत्यादि सूत्रत्रयं, अधानंतरं परमात्मप्रकाशाशायकफलकथनमुख्यत्वेन
तथैवाद्यन्यपरिहारमुख्यत्वेन च लण्ठणहं” इत्यादि सूत्रत्रयं । इति चतुर्विंशतिदोहसूत्र-
चतुर्लिकावसाने समस्थलानि गणानि । एवं प्रथमपातनिका समाना । अथवा प्रकारान्तरण
द्वितीया पातनिका कथ्यते । तथा—प्रथमतस्तत्त्वद्विहारात्मांतरात्मपरमात्मकथनरूपेण
प्रक्षेपकान् विहाय त्रयोविंशत्यधिकज्ञानसूत्रपर्यंतं व्याख्यानं प्रियत इति समुदायपातनिका ।
तत्राहं “जे जाया” इत्यादि पञ्चविंशतिसूत्रपर्यंतं त्रिधात्मपीठिकाव्याख्यानं, अधानंतरं
“जेहउ जिम्मलु” इत्यादि चतुर्विंशतिसूत्रपर्यंतं सामान्यविवरणं, अत ऊर्ध्वं “अप्पा
जोइय मच्चगउ” इत्यादित्रिचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं विशेषविवरणं, अत ऊर्ध्वं “अप्पा संजमु”
इत्याद्येकाविंशत्सूत्रपर्यंतं चतुर्लिकाव्याख्यानमिति “प्रथममहाधिकारः” समाप्तः । अधानंतरं
मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गस्वरूपकथनमुख्यत्वेन प्रक्षेपकान् विहाय चतुर्विंशत्यधिकज्ञानसूत्रपर्यंतं

चौवीस दोहा पर्यंत परमसमाधिका कथन है उनमें सान्स्थल हैं । उनमेंसे प्रथमस्थलमें निर्वि-
कल्प समाधिकी मुख्यताकर “परमममाहि महासरहिं” इत्यादि छह दोहा, अर्हत्तरदरी
मुख्यताकर “सयल वियप्पहं” इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशनामकी मुख्यताकर
“सयलहं दोसहं” इत्यादि तीन दोहा, सिद्धपदकी मुख्यताकर “ज्ञाने कम्मवरउ करिवि”
इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशके आशायक पुरुषोंको फलके कथनकी मुख्यताकर
“जे परमप्पययाम मुणि” इत्यादि तीन दोहा, परमात्मप्रकाशकी आशयनाके योग्य
पुरुषोंके कथनकी मुख्यताकर “जे भवदुक्करहं” इत्यादि तीन दोहा और परमात्मप्रकाश-
शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर तथा गर्वके त्यागकी मुख्यताकर “लण्ठण हं”
इत्यादि तीन दोहा हैं । इसप्रकार चतुर्लिकाके अंतमें चौवीस दोहाओंमें सान्स्थल बड़े
गये हैं । इसतरह तीन महा अधिकारोंमें अंतर रख अनेक हैं एक तो इसप्रकार पातनिका
कही ॥ अथवा अन्य तरह कथनकर दूसरी पातनिका कहते हैं—पहले अधिकारमें
पदिरात्मा अंतरात्मा और परमात्माके कथनकी मुख्यताकर क्षेत्रकोंको छोड़कर एकाकी तैरैम
दोहा पढ़े हैं । उनमेंसे “जे जाया” इत्यादि पञ्चीस दोहा पर्यंत तीनप्रकार आत्माके कथनका
पीठिकाव्याख्यान, “जेहउ जिम्मलु” इत्यादि चौवीस दोहा पर्यंत सामान्यवर्णन, “अप्पा
जोइय मच्चगउ” इत्यादि तैराहीस दोहा पर्यंत विशेषवर्णन और “अप्पा संजमु” इत्यादि
इकतीस दोहा पर्यंत चतुर्लिका व्याख्यान है । इसतरह अंतर अधिकारों सहित “पहल

द्वितीयमहाधिकारः प्रारभ्यत इति समुदायपातनिका । तत्रादौ “सिरि गुरु” इत्यादि-
त्रिंशत्पञ्चपर्यंतं पीठिकाव्याख्यानं, तदनंतरं “जो भक्तउ” इत्यादिपद्त्रिंशत्पञ्चपर्यंतं
मानान्वयविवरणं, अथानंतरं “मुद्रहं मंजमु” इत्यागेरुचत्वारिंशत्पञ्चपर्यंतं विशेषविवरणं,
तदनंतरं प्रश्नकान् पिहाय समोत्तरगतपर्यंतमभेदरत्नत्रयमुख्यतया चूलिकाव्याख्यानं,
इति द्वितीयायपातनिका ज्ञातव्या ॥

अथ प्रभाकरभट्टः पूर्वोक्तप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिनो नत्वा पुनरिदानीं श्रीयोगीश्वरेण
विज्ञापयति,—

भार्ति पणयिधि पंचगुरु, सिरिजोइंदुजिणाउ ।
भट्टपहापरि चिण्णयउ, विमलु करेयिणु भाउ ॥ ८ ॥
भायेन प्रणम्य पणगुरुन् श्रीयोगीश्वरिनः ।
भट्टप्रभाकरेण विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावम् ॥ ८ ॥

भार्ति पणयिधि पंचगुरु भायेन भावगुरुणा प्रणम्य । कान् । पञ्चगुरुन् । पञ्चाष्टि-
कान् । निरिजोइंदुजिणाउ भट्टपहापरि चिण्णयउ विमलु करेयिणु भाउ श्रीयोगीश्वरेण-
ज्ञातव्या भवतस्तत्र प्रभाकरभट्टेन कर्तृभूतेन विज्ञापितः विमलं कृत्वा भावं परिणाममिति । अथ
भट्टप्रभाकरः मुद्रात्मकविज्ञानार्थं श्रीयोगीश्वरेण भक्तिप्रकरणेण विज्ञापितवानित्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ,—

मउ मंगारि वमंताहं, मामिय कालु अणंतु ।
गर मउ किंयि न पशु सुहृ, दूकरु जि पशु महंतु ॥ ९ ॥

गतः संसारे वसतां स्वामिन् कालः अनंतः ।

परं मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महत् ॥ ९ ॥

गड संसारि वसंताहं सामिय कालु अणंतु गतः संसारे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन् । कोसौ । कालः । क्रियान् । अनंतः परं महं किंपि न पतु सुदु दुवरु जि पतु महंतु परं किंतु मया किमपि न प्राप्तं सुखं दुःखमेव प्राप्तं महदिति । इतो विस्तरः । तथाहि—स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नवीतरागपरमानंदममरमीभारूपसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखरूपेण क्षारनीरेण पूर्णे अजरामरपदविपरीतजानिजरामरणरूपेण मकरानिजलचरममूहेन संकीर्णे अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकमुदविपरीतनानामानसादिदुःखरूपवडवानलशिखासंदीपिताभ्यंतरे वीतरागनिर्विकल्पममाधि विपरीतसंकल्पविकल्पजालरूपेण कहोलमालाममूहेन विरायिते संसारस्नानरे वसतां तिष्ठतां हे स्वामिन्नंतकालो गतः । कस्मान् । एवेन्द्रियविकलेन्द्रियबंधेन्द्रियसंक्षिप्याममनुप्यत्वदेशमुलरूपेन्द्रियपदुत्बनिर्घ्याभ्यामुष्णवरसुद्धिमद्धर्मप्रवणप्रहणधारणप्रदानसंयमविषयमुदभ्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनेषु परंपरदुर्लभेषु । कथंभूतेषु । लक्ष्म्येषु तपोभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनाधर्मेषु शुद्धात्मभावनालक्षणस्य वीतरागनिर्विकल्पममाधिदुर्लभत्वान् । तदपि कथं । वीतरागनिर्विकल्पममाधिविधौप्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामानां प्रयत्नत्वादिनि । मन्थगर्जनमानधारित्रा-

यह विनती इसतराह है—[हेस्वामिन्] हे स्वामी [संसारे वसतां] इस संसारमें रहते हुए हमारा [अनंतः कालः गतः] अनंतकाल बीत गया [परं] लेकिन [मया] मैंने [किमपि सुखं] कुछ भी सुख [न प्राप्तं] नहीं पाया उल्टा [महत् दुःखं एव] महान् दुःख ही पाया है । यहांसे विशेष ।—निज शुद्धात्माकी भावनाकर उत्पन्न हुआ जो वीतराग परम आनंद समरमीभाव है उसरूप जो आनंदामृत उसने विपरीत नरकादिदुःखरूप क्षार (सारी) जलसे पूर्ण (भरा हुआ), अजर अमर पदसे उलटा जन्म जरा (बुढ़ापा) मरणरूपी जलचोके समूहकर भरा हुआ, अनाकुलता स्वरूप निश्चय सुखसे विपरीत अनेक प्रकार आधि व्याधि दुःखरूपी वडवानलकी शिखाकर प्रवलित, वीतराग निर्विकल्पममाधिहर रहित महान संकल्प विकल्पोंके जालरूपी कहोलोंकी मालाओंकर विराजमान, ऐसे संसाररूपी समुद्रमें रहते हुए मुझे हे स्वामी अनंतकाल बीत गया । इस संसारमें एकंद्रीसे दोहंद्री, ते हंद्री, चौहंद्री स्वरूप विकल्पप्रय पर्याय पाना दुर्लभ (कठिन) है; विकल्पप्रयसे पंचेद्री, मैत्री, छह पर्यायियोंकी संपूर्णता होना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्य होना अत्यंत दुर्लभ, उसमें आर्यक्षेत्र दुर्लभ, उसमेंसे उत्तमकुल ब्राह्मण शनिय वैश्यवर्णरूप पाना कठिन है, उसमें भी सुंदर रूप, समान पांचों इन्द्रियोंकी प्रवीणता, दीर्घ आयु, बल, शरीर नीरोग, जैनधर्म इनका उत्तरोत्तर मिलना कठिन है ।

यहिरासांतरासपरमांसभेदेन त्रिविधात्मा भवति । अयं त्रिविधात्मा यथा त्वया पृष्ठो
प्रभाकरमहत् तया भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियाः परमांसभावनोत्थवीतरागपरमानंदमुधारम
विपासिता वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतविपरीतनारकादिदुःखमयभीता भव्य
धरपुण्डरीका भरतसगररामपांडवश्रेणिकादयोपि वीतरागसर्वज्ञतीर्थकरपरमदेवानां समवस
रणे सपरिवारा भक्तिभरनमितोत्तमांगाः संतः सर्वांगमप्रश्रानंतरं सर्वप्रकारोपादेयं शुद्ध
ज्ञानं पृच्छन्तीति । अत्र त्रिविधात्मस्वरूपमध्ये शुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ११ ॥

अथ त्रिविधात्मानं ज्ञात्वा यहिरात्मानं विहाय स्वसंवेदनज्ञानेन परं परमात्मानं भाव
त्वमिति प्रतिपादयति;—

अप्पा निविहु मुणेवि लहु, मूढउ मिह्महि भाउ ।

मुणि सण्णाने णाणमउ, जो परमप्पसहाउ ॥ १२ ॥

कहता हूं सो [हे प्रभाकर मह] हे प्रभाकर मह [त्वं] तू [निश्चय] निश्चय
हूँ ॥ भावार्थ—यहिरात्मा अंतरात्मा परमात्माके भेदकर आत्मा तीनतरहका है सो
प्रभाकर मह जैसे तूने मुझे पूछा है उसीतरहसे भव्योंमें महाश्रेष्ठ भरतचक्रवर्ती सगर
चक्रवर्ती रामचंद्र बलमद्र, पांडव तथा श्रेणिक बगैरः बड़े राजा जिनके भक्तिभारक
नर्माग्न मन्त्र होगये हैं महाविनयवाले परिवारसहित समोसरणमें आके वीतराग सर्व
परमदेवसे गये आगमका प्रभकर उसके बाद सबतरहसे ध्यानकरने योग्य शुद्धात्माका
स्वरूप पृच्छते हुए । उनके उत्तरमें भगवान्ने यही कहा कि आत्मज्ञानके समान दूसरा को
मार नहीं है । मरणादि बड़े श्रोताओंमेंसे भरतचक्रवर्तीने श्रीक्षपमदेव भगवान्को पूछा
सगरचक्रवर्तीने श्रीअजितनाथको, रामचंद्र बलमद्रने देसनृपण कुलनृपण केवली
तथा मन्त्रनृपण केवलीको, पांडवोंने श्रीनेमिनाथभगवान्को और राजा श्रेणिकने श्री
हार्तिगामीको पूछा । कैसे हैं ये श्रोता कि जिनको निश्चयस्वरूप और ध्वजहारस्वरूप
ज्ञान दिया है, परमात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परमानंदरूप अमृतसके प्यासे हैं जो
वीतराग निर्विकल्पसमाधिकर उत्पन्न हुआ जो मुख्यरूपी अमृत उससे विपरीत जो नारका
का दुःखियोंके दुःख उनमें मयमीन हैं । सो जिनमह इन मध्यजीवोंने भगवंतसे पूछा
हैं भगवंतने तीनप्रकार आत्माका स्वरूप कहा वैसा ही मैं जिनवाणीके अनुसार तुझे कह
हूँ । स्वर्ग पर हुआ कि तीनप्रकार आत्माके स्वरूपमेंसे शुद्धात्मस्वरूप जो निज परमात्मा
वही प्रज्ञ करने योग्य है । जो मोक्षका मूलकारण स्वरूप कहा है वह मैंने निज
स्वरूप देखने कहा है उसमें अपने स्वरूपका अज्ञान, स्वरूपका ज्ञान और
स्वरूपका ही अज्ञान यह ती निश्चयस्वरूप है इसीका दूसरा नाम अमेद भी है । जो
देखने के ही अज्ञान, ज्ञानोंकी अज्ञान, आगमका ज्ञान तथा गीतमार्ग से अज्ञान

२ आत्मानं त्रिविधं मतः १ लघु मूढं गुंघ भावम् ।

मन्यन् श्रद्धानेन ज्ञानमयं यं परमात्मस्वभावम् ॥ १२ ॥

अप्पा निविट्टु सुणेपि लघु मूढउ भेट्टहि भाउ हे प्रभाकरभट्ट आत्मानं त्रिविधं मतः १ लघु शीघ्रं मूढं बहिरात्मस्वरूपं भावं परिणामं गुंघ मूणि गण्णाने जाणमउ जो परमस्य महाउ पभता त्रिविधात्मपरिणामज्ञानानंतरं मन्यन्व जानीहि । केन करणभूतेन । अंतरात्म्यश्रद्धानेन रागनिर्विबन्धनसंवेदनज्ञानेन । कं जानीहि । यं परमात्मस्वभावं ।

१ लघुय है रगीका नाव भेदरत्नत्रय है । इनमेंसे भेदरत्नत्रय तो साधन है और अभेदरत्नत्रय साध्य है ॥ ११ ॥ आने तीनप्रकार आत्माको जानकर बहिरात्मपना छोड़ स्वसंवेदन ज्ञानकर तू परमात्माका ध्यान कर यह कहते हैं—[आत्मानं त्रिविधं ज्ञात्वा] हे प्रभाकर भट्ट तू आत्माको तीनप्रकारका जानकर [मूढं भावं] बहिरात्मस्वरूप भावको [लघु] शीघ्र ही [गुंघ] छोड़ और [यः] जो [परमात्मस्वभावः] परमात्माका स्वभाव है उसे [श्रद्धानेन] स्वसंवेदनज्ञानसे अंतरात्मा होता हुआ [मन्यन्व] जान । यह स्वभाव [ज्ञानमयः] केवलज्ञानकर परिपूर्ण है ॥ भावार्थ—जो वीतराग संवेदनकर परमात्मा जाना था वही ध्यानकरने योग्य है । यहां शिष्यने मदन किया था जो स्वसंवेदन अर्थात् अपनेकर अपनेको अनुभवना इसमें वीतराग विशेषण क्यों कहा क्योंकि जो स्वसंवेदन ज्ञान होवेगा वह तो रागरहित होवेगा ही । इसका समाधान श्रीगुरुने दिया—कि विषयोके आस्वादनसेभी उन वस्तुओंके स्वरूपका जानपना होता है परंतु रागभावकर दूषित है इसलिये निजरसका आस्वाद नहीं है और वीतरागदशामें स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होता है आनन्दरहित होता है । तथा स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्थामें चौथे पांचवें गुणस्थान वाले मूढस्वके भी होता है वहापर सराग देसनेमें आता है इसलिये रागसहित अवस्थाके निषेधकेलिये वीतराग स्वसंवेदनज्ञान ऐसा कहा है । राग भाव है वह कषायरूप है इसकारण जबनक मिथ्यादृष्टिके अनंतानुबंधीकषाय है तबतक तो बहिरात्मा है उसके तो स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान सर्वथा ही नहीं है और चतुर्थगुणस्थानमें अद्वैत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधीके अभाव होनेसे सम्यक् ज्ञान तो होगया परंतु कषायकी तीन चौकड़ी बाकी रहनेसे द्वितीयाके चंद्रमाके समान विशेष प्रकाश नहीं होता । और आयकके पांचवें गुणस्थानमें दो चौकड़ीका अभाव है इसलिये रागभाव कुछ कम हुआ वीतरागभाव बढ़ गया इसकारण स्वसंवेदन ज्ञान भी प्रबल हुआ परंतु दो चौकड़ीके रहनेसे मुनिके समान प्रकाश नहीं हुआ । मुनिके तीन चौकड़ीका अभाव है इसलिये रागभाव तो निर्बल होगया तथा वीतरागभाव प्रबल हुआ वहापर स्वसंवेदन-ज्ञानका अधिक प्रकाश हुआ परंतु चौथी चौकड़ी बाकी है इसलिये छठे गुणस्थानवाले

किंविशिष्टं । ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तमिति । अत्र योसौ स्वसंवेदनज्ञानेन परमाज्ञानं प्रातः स एवोपादेय इति भावार्थः । स्वसंवेदनज्ञाने वीतरागं विशेषणं किमर्थमिति पूर्वपक्षः, परिहारमाह—विषयानुभवरूपस्वसंवेदनज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधायं मित्तमिषायः ॥ १२ ॥

अथ त्रिविधात्मभेदां बहिरात्मलक्षणं च कथयति;—

मूढं वियक्खणुं वंसु परं, अप्पा तिविहुं हवेइ ।

देहु जि अप्पा जो मुणइ, सो जणु मूढु हवेइ ॥ १३ ॥

मूढो विचक्षणो ब्रह्मा परः आत्मा त्रिविधो भवति ।

देहमेव आत्मानं यो मनुते स जनो मूढो भवति ॥ १३ ॥

मुनि सरागसंयमी हैं वीतरागसंयमीकासा प्रकाश नहीं है । सातवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी मंद हो जाती है वहांपर आहारविहार किया नहीं होती ध्यानमें आरुढ़ रहते हैं सातवेंसे छठे गुणस्थानमें आये वहांपर आहारादि किया है इसीप्रकार छठा सातवां कर रहे हैं वहांपर अंतर्मुहूर्तकाल है । आठवें गुणस्थानमें चौथी चौकड़ी अत्यंतमंद होजाता है वहां रागभावकी अत्यंत क्षीणता होती है, वीतराग भाव पुष्ट होता है, स्वसंवेदनज्ञान विशेष प्रकाश होना है श्रेणी मांडनेमें शुक्रध्यान उत्पन्न होना है । श्रेणीके दो भेद हैं एक क्षणिक दूसरी उत्तम, क्षणिकश्रेणीवाले तो उसी भवमें केवलज्ञान पाकर मुक्त होजाते हैं और उत्तमवाले आठवें भवमें दशवेंसे ग्यारवां स्पर्शकर पीछे पड़ जाते हैं सो कुछ पक्ष भी धारण करते हैं तथा क्षणिकवाले आठवेंसे भवमें गुणस्थानमें प्राप्त होते हैं वहां कष्टपीडा सर्वथा नाश होता है एक मज्जकन लोभ रह जाता है अन्य सबका अभाव होने से वीतराग भाव अति प्रबल होजाता है इसलिये स्वसंवेदनज्ञानका बहुत ज्यादा प्रकाश होना वंसु कुछ मज्जकनलोभ बाकी रहनेमें वहां सरागचारित्र्य ही कदा जाना है । दशवें गुणस्थानमें मूढम लोभनी नहीं रहता तब मोहकी अद्वार्त्त प्रकृतियोंके जानेसे वीतरागचारित्र्य की निर्दिष्ट हो जाती है । दशवेंमें बारवेंमें जाने हैं ग्यारवें गुणस्थानका स्पर्श नहीं कर वहां निर्दिष्ट वीतरागकि शुक्रध्यानका दूसरा पाया (भेद) प्रगट होता है यथाध्याय चरित्र होजाता है । बारवेंके अंतर्में ज्ञानावगम दर्शनावरण अंतराय इन तीनोंका भ्रंश रित्तन कर दया मोहका नाश पड़ते हो ही बुद्धि या तब चारों पातियाक्रमोंके जानेसे दशवें गुणस्थानमें केवलज्ञान प्रगट होता है वहां पर ही शुद्ध परमात्मा होता है अर्थात् उत्तम स्वका पूर्ण प्रकाश होजाता है निःकषाय है । चौथे गुणस्थानमें लेकर बारवें गुणस्थानतक दो अंतर्गुण्य है उसके गुणस्थान प्रति बदनी हुई शुद्धता है जो दूसरेगुण्य स्वस्थानके है यह साग्न्य स्वप्रज्ञा ॥ १२ ॥

मूढः पियारागणं पञ्च परं अप्या तिविद् हवेद् मूढो मिथ्यात्वरागादिपरिणतो बहि-
रात्मा, विचक्षणो भीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानपरिणतोऽन्तरात्मा, ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकस्व-
भावः परमात्मा । शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं कथ्यते—शुद्धो रागादिरहितो बुद्धोऽनंतज्ञानादि-
बुद्धगुणमण्डित इति शुद्धबुद्धस्वभावलक्षणं सर्वत्र शातक्यं । स एव कथंभूतः ब्रह्मा । परमा-
भावब्रह्मद्रव्यकर्मनोब्रह्मरहितः । एवमात्मा त्रिविधो भवति । देहः जि अप्या जो मुण्डः सो
जणु मूढः हवेद् भीतरागनिर्विकल्पस्वमाधिगं ज्ञातसदानंदैकमुक्तसमृतस्वभावमलभमानः सन
देहमेवात्मानं यो मनुते जानाति स जनो लोको मूढात्मा भवति इति । अत्र बहिरात्मा
देहलक्षणेन पश्यन्तरात्मोपादेयस्वायां सार्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मापेक्षया स देह इति
सात्पर्यार्थः ॥ १३ ॥

अथ परमसमाधिस्थितः सन् देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं योसौ जानाति सौत-
रात्मा भवतीति निरूपयति,—

देहविभण्णउ जाणमउ, जो परमप्पु णिएह ।
परमसमाधिपरिद्विपउ पण्डित सो जि हवेह ॥ १४ ॥
देहविभिन्नं ज्ञानमयं यः परमात्मानं जानाति ।
परमसमाधिपरिस्थितः पण्डितः स एव भवति ॥ १४ ॥

देहविभण्णउ जाणमउ जो परमप्पु णिएह अनुपचरितसद्गतव्यवहारनयेन देहा-

आगे तीनप्रकार आत्माये: भेद तथा उनमेंसे प्रथम बहिरात्माका लक्षण कहते हैं—
[मूढः] मिथ्यात्वरागादिरूप परिणत हुआ बहिरात्मा, [विचक्षणः] भीतरागनिर्विकल्प
स्वसंवेदनज्ञानरूप परिणमन करता हुआ अंतरात्मा [ब्रह्मपरः] और शुद्धबुद्ध स्वभाव
परमात्मा अर्थात् रागादिरहित अनंतज्ञानादिरहित; भावद्रव्य कर्म, नोकर्म रहित आत्मा
इसप्रकार [आत्मा] आत्मा [त्रिविधो भवति] तीन तरह का है अर्थात् बहिरात्मा
अंतरात्मा परमात्मा ये तीन भेद हैं । इनमेंसे [यः] जो [देहमेव] देहको ही
[आत्मानं] आत्मा [मनुते] मानता है [स जनः] वह माणी [मूढः] बहिरात्मा
[हवेह] है अर्थात् बहिर्मुख मिथ्यादृष्टी है ॥ भावार्थ—जो देहको आत्मा समझता है
वह भीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृतको नहीं पाता हुआ मूर्खदे
अज्ञानी है । इन तीनप्रकारके आत्माओंमेंसे बहिरात्मा सो त्याग्य ही है आदर योग्य नहीं
है, इसकी अपेक्षा यद्यपि अंतरात्मा अर्थात् सम्पृग्दृष्टी वह उपादेय है तौ भी सबतरहसे
उपादेय (ग्रहण करने योग्य) जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह अंतरात्मा हेय ही है,
शुद्ध परमात्मा ही ध्यानकरने योग्य है । ऐसा जानना ॥ १३ ॥

आगे परमसमाधिमें स्थित, देहसे भिन्न ज्ञानमयी (उपयोगमयी) आत्माको जानना है

दमिन्नं निश्चयनयेन भिन्नं ज्ञानमयं केवलज्ञानेन निर्वृत्तं परमात्मानं योसौ जानाति परम
समाधिपरिद्वियउ पंडिउ सो जि हवेइ वीतरागनिर्विकल्पमहजानंदकशुद्धात्मानुभूतिलभ
णपरमसमाधिस्थितः सन् पंडितोऽंतरात्मा विवेकी स एव भवति । “कः पंडितो विवेकी”
वचनात् इति अंतरात्मा हेयरूपो, योसौ परमात्मा भणितः स एव साक्षादुपादेय ई
भावार्थः ॥ १४ ॥

अथ समस्तपरद्रव्यं मुक्त्वा केवलज्ञानमयकर्मरहितशुद्धात्मा येन लब्ध स परमात्मा
भवतीति कथयति;—

अप्पा लब्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्के जेण ।

मिल्लिवि सयलुवि दब्बुपरु, सो परु मुणहि मणेण ॥ १५ ॥

आत्मा लब्धो ज्ञानमयः कर्मविमुक्तेन येन ।

मुक्त्या सकलमपि द्रव्यं परं तं परं मन्यस्व मनसा ॥ १५ ॥

अप्पा लब्धउ णाणमउ कम्मविमुक्के जेण आत्मा लब्धः प्राप्तः । किंविशिष्टः
ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृत्तः । कथंभूतेन सता । ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावकर्मरहिते
येन । किं कृत्वात्मा लब्धः । मिल्लिवि सयलुवि दब्बु परु सो परु मुणहि मणेण मुक्त
परित्यज्य । किं । परद्रव्यं देहरागादिकं । कतिसंख्योपेतमपि । समस्तमपि तमित्यंभूतम

यह अंतरात्मा है ऐसा कहते हैं;—[यः] जो पुरुष [परमात्मानं] परमात्मा
[देहविभिन्नः] शरीरसे जुदा [ज्ञानमय] केवलज्ञानकर पूर्ण [जानाति] जानता
[स एव] वो ही [परमसमाधिपरिस्थितः] परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ [पंडितः
अंतरात्मा अर्थात् विवेकी [भवेत्] है ॥ भावार्थ—यद्यपि अनुपचरितासद्भूत व्यव
गयसे अर्थात् इस जीवके परवस्तुका संबंध अनादिकालका मिथ्यारूप होनेसे व्यव
नयकर देहमयी है तो भी निश्चयनयकर सर्वथा देहादिकसे भिन्न है और केवल ज्ञानम
है ऐसा निज शुद्धात्माको वीतरागनिर्विकल्प सहजानंद शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप पर
समाधिमें स्थित होता हुआ जानता है वही विवेकी अंतरात्मा कहलाता है । वह परमात्
मा सर्वथा आराधने योग्य है ऐसा जानना ॥ १४ ॥

. आगे सब परद्रव्योंको छोड़कर कर्मरहित होकर जिसने अपना स्वरूप केवल ज्ञानम
या दिया है वही परमात्मा है ऐसा कहते हैं;—[येन] जिसने [कर्मविमुक्तेन
ज्ञानावरणादिकर्मोंको नाशकरके [सकलमपि परं द्रव्यं] और सब देहादिक परद्रव्यों
[मुक्त्या] छोड़करके [ज्ञानमयः] केवलज्ञान मई [आत्मा] आत्मा [लब्धः
पाया है [नं] उसको [मनसा] शुद्धमनसे [परमान्मानं] परमात्मा [मन्यस्व
जान ॥ भावार्थ—जिसने देहादिक समस्त परद्रव्योंको छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्य

त्मानं परं परमात्मानमिति मन्यस्व जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । केन कृत्वा । मायामिथ्या-
निदानशाल्यत्रयस्वरूपादिममस्त्वविभावपरिणामरहितेन मनमेति । अत्रोक्तलक्षणपरमात्मा
उपादेयो ज्ञानावरणादिसमस्तविभावरूपं परद्रव्यं ॥ हेयमिति भावार्थः ॥ १५ ॥ एवं
त्रिधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये मंशेपेण त्रिविधात्ममूचनमुच्यतया सूत्रपंचकं गतं ।
तदनंतरं मुक्तिगतफेबलज्ञानादिव्यक्तिरूप सिद्धजीवव्याख्यानमुच्यत्वेन दोहकमूचनकं
प्रारभ्यते । तथा ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा दृष्टिर्दिविदृष्टिपुरुषा यं ध्यायन्ति तं परमात्मानं जानीहीति
प्रतिपादयति;—

तिष्ठुयणवंदिउ सिद्धिगउ, हरिहर सायहि जो जि ।

लखु अलखें धरिवि थिरु, मुणि परमप्पउ खो जि ॥ १६ ॥

त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं हरिहरा ध्यायन्ति यमेव ।

लक्ष्यमलक्ष्येण धृत्वा स्मरं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ १६ ॥

तिष्ठुयण वंदिउ सिद्धिगउ हरिहर सायहि जो जि त्रिभुवनवन्दितं सिद्धिगतं यं
फेबलज्ञानादिव्यक्तिरूपं परमात्मानं दृष्टिर्दिविदृष्टिपुरुषादयो ध्यायन्ति । तिष्ठुया पूर्व ।
लखु अलखें धरिवि थिरु लक्ष्यं मंकल्परूपं चित्तं अलक्ष्येण र्यानरागनिर्विकल्पनि-
त्थानंदमन्त्रभावपरमात्मरूपेण धृत्वा । कथंभूतं । स्मिरं पतिपदोपगर्गंशुभितं मुणि परम-

रागादिक भावकर्म शरीरादि नोकर्म इन तीनोंसे रहित फेबलज्ञानमई करने आत्माका
राम करलिया है ऐसे आत्माको हे प्रभाकर भट्ट तू माया मिथ्या निदानरूप शाल्य बगैरः
समस्त विभाव (विकार) परिणामोंसे रहित निर्मल चित्तसे परमात्मा जान तथा फेबल-
ज्ञानादि गुणोंवाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादिरूप सब पर-
वस्तु त्यागने योग्य है ऐसा समझना चाहिये ॥ १५ ॥ इसप्रकार जिनमें तीनतरहके
आत्माका कथन है ऐसे प्रथम महाधिकारमें त्रिविध आत्माके कथनही मुख्यतासे तीसरे
खलमें पांच दोहायूत्र कहे । अब मुक्तिको प्राप्त हुए फेबलज्ञानादिरूप सिद्ध परमात्माके
ध्याख्यानही मुख्यताकर दस दोहायूत्र कहते हैं ।

उनमें पांच दोहामें जो हरि हरादिक बड़े पुरुष अपना मन स्मिरकर जित परमात्माका
ध्यान करते हैं उसीका तू भी ध्यान कर यह कहते हैं;—[हरिहराः] इन्द्र काराचल
और रुद्र बगैरः बड़े २ पुरुष [त्रिभुवनवन्दितं] तीन लोककर वंदनीक (त्रैलोक्यनाथ)
[सिद्धिगतं] और फेबलज्ञानादि व्यक्तिरूप सिद्धपनेको प्राप्त [यं एव] जिस परमा-
त्माको ही [ध्यायन्ति] ध्यावते हैं [लक्ष्यं] अपने मनको [अलक्ष्यं] दीनगत
निर्विकल्प नित्यानन्द समाव परमात्माके [स्मिरं धृत्या] स्मिर करके [तमेव] उसीको

एतत् सो जि तमित्यंभूतं परमात्मानं हे प्रभाकरभट्ट मन्यस्व जानीहि भावयेत्यर्थः । अत्र केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपमुक्तिगतपरमात्ममदृशो रागादिरहितः स्वशुद्धात्मा साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १६ ॥ संकल्पविकल्पस्वरूपं कथ्यते । तद्यथा—यहिद्रव्यविषये पुत्रकउ-
प्रादिचेतनाचेतनरूपे ममेदमिति स्वरूपः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिचित्तगतो हर्षवि-
पादादिपरिणामो विकल्प इति । एवं संकल्पविकल्पलक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यं ।

अथ नित्यनिरंजनज्ञानमयपरमानंदस्वभावज्ञातशिवस्वरूपं दर्शयन्नाहः—

णिशु निरंजणु णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।

जो एहउ सो संत सिउ, तासु मुणिजहि भाउ ॥ १७ ॥

नित्यो निरंजनो ज्ञानमयः परमानंदस्वभावः ।

य इत्थंभूतः स ज्ञातः शिवः तस्य मन्यस्व भावम् ॥ १७ ॥

णिशु निरंजणु णाणमउ परमाणंदसहाउ द्रव्यार्थिकनयेन नित्योऽविनश्वरः, रागा-
दिक्लेशमलरूपांजनरहितत्वाभिरंजनः, केवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वान् ज्ञानमयः, शुद्धात्मभावानो-
त्थवीनरागानंदपरिणतत्वात्परमानंदस्वभावः जो एहउ सो संत सिउ य इत्थंभूतः स
ज्ञातः शिवो भवति हे प्रभाकरभट्ट तासु मुणिजहि भाउ तस्य वीतरागत्वान् ज्ञातव्य
परमानंदसुखमयत्वान् निवम्यरूपस्य त्वं जानीहि भावय । कं भावय । शुद्धबुद्धैकस्वभा-
वमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

हे प्रभाकर भट्ट तू [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] जान चितवनकर । सारांश
यह है कि केवलज्ञानादिरूप उस परमात्माके समान रागादिरहित अपने शुद्धात्माको
पदचान, वही माझान् उपादेय है अन्य सब संकल्प विकल्प त्यागने योग्य हैं ॥ अब
संकल्प विकल्पका स्वरूप कहते हैं कि जो बाह्यवस्तु पुत्र स्त्री कुटुंब बांधव धर्मः जीव-
पदार्थ तथा चांदी सोना रत्न मणिके आमृषण धर्मः अचेतनपदार्थ हैं इन सबको अपने
ममत्तै कि मेरे हैं ऐसे ममत्वपरिणामको संकल्प जानना । तथा मैं सुखी मैं दुःखी इत्यादि
हर्षविषाद परिणाम होना वह विकल्प है । इसप्रकार संकल्प विकल्पका स्वरूप जानना
चाहिये ॥ १६ ॥

आगे नित्य निरंजन ज्ञानमयी परमानंदस्वभाव ज्ञात और शिवस्वरूपपणा वर्णन करते
हैं—[नित्यः] द्रव्यार्थिकनयकर अविनाशी [निरंजनः] रागादिक उपाधिसे रहित
अथवा कर्ममदृश्यो अंजनमे रहित [ज्ञानमयः] केवलज्ञानमे परिपूर्ण और [परमा-
नंदस्वभावः] शुद्धात्मभावनाकर उत्तम हुए वीनराग परमानंदकर परिणत है [यः
इत्थंभूतः] जो ऐसा है [सः] वही [ज्ञातः शिवः] ज्ञातव्य और निवम्यरूप है
[त्वम्] तू परमात्माका [भावः] शुद्ध बुद्धस्वभाव [जानीहि] हे प्रभाकर भट्ट
तू इन अर्थों ध्यान कर ॥ १७ ॥

पुनश्च नि निमित्तो भवति:—

जो निजभाउ ण परिहरह, जो परभाउ ण लेह ।

जाणह मयसुखि निधु पर, सो मिउ संतु हवेह ॥ १८ ॥

सो निजभावं न परिहरति यः परभावं न लाति ।

जानाति सर्वत्रमपि नित्यं परं न शिवः शान्तो भवति ॥ १८ ॥

यः कर्मा निजभावमनंतज्ञानादिगुणभावं न परिहरति यश्च परभावं कामक्रोधादिरूपमा-
कारूपतया न गृह्णाति । पुनरपि बंधंभूतः । जानाति सर्वत्रमपि जगत्त्रयकालत्रयवर्तिवस्तुभ्य-
भावं न वेचते जानाति द्रव्याधिकनयेन नित्य एव अथवा नित्यं सर्वकालमेव जानाति परं
नियमेन । न इधंभूतः शिरो भवति शान्तश्च भवतीति । किं च अयमेव जीवः मुक्ता-
वस्थायां व्यक्तिरूपेण शान्तः शिवमंज्ञां लभते संमारावस्थायां तु शुद्धद्रव्याधिकनयेन शक्ति-
रूपेणेति । तथा चोक्तं । परमार्थनयाय सदा शिवाय नमोऽस्तु । पुनश्चोक्तं: “शिवं परम-
ब्रह्मणं निर्वाणं शान्तमश्रयं । प्राप्तं मुक्तिपदं येन न शिवः परिचिन्तिन,” अन्यः कोप्येको
जगत्कर्ता वदारी सदा मुक्तः शान्तः शिवोऽस्मीत्येवं न । अत्रायमेव शान्तशिवमंज्ञः शुद्धा-
लोपादेय इति भावार्थः ॥ १८ ॥

अथ पूर्वोक्तं निरंजनव्यरूपं मूलप्रवेण व्यर्थाकरोति:—

जासु ण वणु ण गंधु रसु, जासु ण सहु ण फासु ।

जासु ण जम्मणु मरणु णवि, णाउ निरंजणु तासु ॥ १९ ॥

जासु ण कोहू ण मोहू मउ, जासु ण माय ण माणु ।

जासु ण ठाणु ण हाणु जिय, सो जि निरंजणु जाणि ॥ २० ॥

आगे किर उगी परमात्माका कथन करते हैं:—[यः] जो [निजभावं] अनंतज्ञा-
नादिरूप अपने भावोंको [न परिहरति] कभी नहीं छोड़ता [यः] और जो [पर-
भावं] कामक्रोधादिरूप परभावोंको [न लाति] कभी ग्रहण नहीं करता है [सकल-
मपि] तीनलोक तीनकालकी सब चीजोंको [परं] केवल [नित्यं] हमेशा
[जानाति] जानता है [सः] वही [शिवः] शिवव्यरूप तथा [शान्तः] शान्तस्वरूप
[भवति] है । भावार्थ—संसार अवस्थामें शुद्धद्रव्याधिकनयकर सभी जीव शक्तिरूपसे
परमात्मा हैं व्यक्तिरूपसे नहीं हैं । ऐसा कथन अन्यग्रंथोंमें भी कहा है—शिवमित्यादि
अर्थात् परमकल्याणरूप निर्वाणरूप महाशान्त अविनश्वर ऐसे मुक्तिपदको जिसने पा लिया
है वही शिव है अन्य कोई, एक जगत्कर्ता सर्वव्यापी सदा मुक्त शान्त शिवरूप नैयायिकोंका
तथा वैशेषिकवर्गैरका माना हुआ नहीं है । यह शुद्धात्मा ही शान्त है शिव है उपादेय है ॥

अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु, अत्थि ण हरिमु यिमाउ ।

अत्थि ण एक्खुचि दोसु जसु, सो जि गिरंजणु भाउ ॥ २१ ॥ नियं

यस्य न वर्णो न गंधो रसः यस्य न शब्दो न स्पर्शः ।

यस्य न जन्म मरणं नापि नाम निर्जनमात्र ॥ १९ ॥

यस्य न क्रोधो न मोहो मदः यस्य न माया न मानः ।

यस्य न स्थानं न ध्यानं जीव तमेव निरंजनं जानीहि ॥ २० ॥

अस्ति न पुण्यं न पापं यस्य अस्ति न हर्षो विषादः ।

अस्ति न एकोपि दोषो यस्य स एव निरंजनो भावः ॥ २१ ॥ त्रिकुटं ।

यस्य मुक्तासनः शुद्धकृष्णरक्तपीतनीलरूपपंचप्रकारवर्णो नाम्नि सुगन्धिदुर्गन्धिरूपो द्वि-
कारो गंधो नास्ति कटुकतीक्ष्णमधुराम्लकषायरूपः पंचप्रकारो रसो नाम्नि माषाण्ड-
भापासकादिभेदभिन्नः शब्दो नास्ति शीतोष्णान्निगन्धरूक्षगुरुलघुमृदुकठिनरूपोष्ट्रप्रकारः स्पर्शो
नास्ति पुनश्च यस्य जन्म मरणमपि नैयाम्नि तस्य चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो निरंजन-
संज्ञा लभते ॥ पुनश्च किंरूपः स निरंजनः । यस्य न विद्यते । किं किं न विद्यते ।
क्रोधो मोहो विज्ञानाद्यष्टविधमदभेदो यम्यैव मायामानकषायो यम्यैव नाभिहृदयललाटादि-
ध्यानस्थानानि चित्तनिरोधलक्षणध्यानमपि यस्य न तमित्थंभूतं स्वशुद्धात्मानं हे जीव निरं-
जनं जानीहि । यथातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांशरूपममन्त्रविभावपरिणामान् त्यक्त्वा
स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः ॥ पुनरपि किंस्वभावः स निरं-

आगे पहले कहे हुए निरंजनस्वरूपको तीन दोहामूर्तोंसे प्रगट करते हैं—[यस्य]
जिस मगवानके [वर्णः] सफेद काला लाल पीला नीलस्वरूप पांचप्रकार वर्ण [न]
नहीं है [गंधः रसः] सुगंधदुर्गन्धरूप दो प्रकारकी गंध [न] नहीं है मधुर आम्ल
(खट्वा) तिक्त कटु कषाय 'क्षार'रूप पांच रस नहीं हैं [यस्य] जिसके [शब्दः न]
माषा अभाषारूप शब्द नहीं है अर्थात् सचित्त अचित्तमिश्ररूप कोई शब्द नहीं है सात-
सर नहीं है [स्पर्शः न] शीत उष्ण श्लिग्ध रूक्ष गुरु लघु मृदु कठिनरूप आठतरहका
स्पर्श नहीं है [यस्य] और जिसके [जन्म न] जन्म जरा नहीं है [मरणं नापि]
तथा मरण भी नहीं है [तस्य] उसी चिदानन्द शुद्धस्वभावपरमात्माकी [निरंजनं नाम]
निरंजनसंज्ञा है अर्थात् ऐसे परमात्मा को ही निरंजनदेव कहते हैं ॥ फिर वह निरंजन-
देव कैसा है—[यस्य] जिस सिद्ध परमेशीके [क्रोधः न] गुस्सा नहीं है [मोहः मदः
न] मोह तथा कुल जाति बगैर आठ तरहका अभिमान नहीं है [यस्य माया न
मानः न] जिसके माया व मान कषाय नहीं है और [यस्य] जिसके [स्थानं न]
ध्यानके स्थान नाभि हृदय मस्तक बगैर नहीं है [ध्यानं न] चित्तके रोकनेरूप ध्यान

जनः । यस्यासि न । किं किं नास्ति । द्रव्यभावरूपं पुण्यपापं च । पुनरपि किं नास्ति । रागरूपो हर्षो द्वेषरूपो विषादश्च । पुनश्च । नास्ति क्षुपाद्यष्टादशदोषेषु मध्ये कैकोपि दोषः स एव शुद्धात्मा निरंजन इति हे प्रभाकरभट्ट त्वं जानीहि । स्वशुद्धात्ममंवित्तिलक्षणवीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वानुभवेत्यर्थः । किंच । एवंमूत्रसूत्रत्रयव्याख्यातलक्षणो निरंजनो ज्ञातव्यो न चान्यः कोपि निरंजनोऽस्ति परकल्पितः । अत्र मूत्रत्रयेपि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योसौ निरंजनो व्याख्यातः स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ १९।२०।२१ ॥

अथ धारणाध्येयमंत्रमंत्रमंडलमुद्रादिकं व्यवहारध्यानविषयं मंत्रवाद्भास्वरूपधिनं यत्तन्निर्दोषपरमात्माध्यायनाध्याने निषेधयंतिः—

जासु ण धारणु धेउ णचि, जासु ण जंतु ण मंतु ।

जासु ण मंडलु मुह णचि, सो मुणि देउ अणंतु ॥ २२ ॥

यस्य न धारणा ध्येयं नापि यस्य न यंत्रो न मन्त्रः ।

यस्य न मण्डलं मुद्रा नापि तं मन्यन्ते देवमनंतम् ॥ २२ ॥

यस्य परमात्मनो नास्ति न विद्यते । किं किं । कुंभकरेपकपूरकमंज्ञा वायुधारणादिकं प्रतिमादिकं ध्येयमिति । पुनरपि किं तस्य । अक्षररूपताविन्यायरूपमभनमोहनादिविषयं

नहीं है अर्थात् जब चित्त ही नहीं है तो रोफना जिसका हो [स एव] ऐसे निजशुद्धात्माको हे जीव तू जान ॥ सारांश यह हुआ कि अपनी प्रसिद्धता (बड़ाई) महिमा अपूर्व वस्तुका मिलना और देखे तुने भोग इनकी इच्छारूप सब विभावपरिणामोंको छोड़कर अपने शुद्धात्माकी अनुभूतिसरूप निर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर उस शुद्धात्माका अनुभवकर ॥ पुनः यह निरंजन कैसा है—[यस्य] जिसके [पुण्यं न पापं न अस्ति] द्रव्यभावरूप पुण्य नहीं तथा पाप नहीं है [हर्षः विषादः न] राग द्वेषरूप सुखी व रंज नहीं है [यस्य] और जिसके [एकः अपि दोषः] क्षुधा (भूख) भैरः दोषोंमेंसे एक भी दोष नहीं है [स एव] वही शुद्धात्मा [निरंजनः] निरंजन है ऐसा तू [भाषय] जान ॥ भावार्थ—ऐसे निज शुद्धात्माके परिणामरूप वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर तू अनुभव कर । इसप्रकार तीनदोहाओंमें जिसका स्वरूप कहा गया है उसे ही निरंजन जानो अन्य कोई भी परकल्पित निरंजन नहीं है । इन तीनों दोहाओंमें जो निर्मल ज्ञान दर्शनस्वभाववाला निरंजन कहा गया है वही उपादेय है ॥ १९।२०।२१ ॥

आगे धारणा ध्येय मंत्र मंत्र मंडल मुद्रा आदिक व्यवहारध्यानके विषय मंत्रवाद् शास्त्रमें कहे गये हैं उन सबका निर्दोषपरमात्माकी आराधनारूप ध्यानमें निषेध दिया है—[यस्य] जिस परमात्माके [धारणा न] कुंभक पूरक रेचक नामवादी वायु-

यंत्रस्वरूपं विविधाक्षरोच्चारणरूपं मंत्रस्वरूपं च अपूर्मंडलवायुमंडलपृथ्वीमंडलादिकं गारुडमुद्राज्ञानमुद्रादिकं च यस्य नास्ति तं परमात्मानं देवमाराध्यं द्रव्यार्थिकनयेनानंतमवि-
नश्वरमनंतज्ञानादिगुणस्वभावं च मन्यस्व जानीहि । अतीन्द्रियमुखास्यादविपरीतस्य त्रिदे-
न्द्रियविषयस्य निर्मोहशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलस्य मोहस्य वीतरागसहजानंदपरमममरसी-
भावमुखरसानुभवप्रतिपक्षस्य नवप्रकारावज्ञाव्रतस्य वीतरागनिर्विकल्पममाधिपातस्य मनो-
गतसंकल्पविकल्पजालस्य च विजयं कृत्वा हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मानमनुभवेत्यर्थः । तथा
चोक्तं । “अस्त्राणरसणीं कम्माण मोहणीं सह वयाण वंमं च । गुत्तीमु य मणगुत्ती
चउत्ते दुप्पखेहिं सिज्झंति” ॥ २२ ॥

अथ वेदशास्त्रेन्द्रियादिपरद्रव्यालंघनविषयं च वीतरागनिर्विकल्पममाधिपयं च पर-
मात्मानं प्रतिपादयति;—

वेयहिं सत्थहिं इंदियहिं, जो जिय मुणहु ण जाइ ।

णिम्मलज्ञाणहं जो विसउ, सो परमप्पु अणाइ ॥ २३ ॥

वेदैः शास्त्रैरिन्द्रियैः यो जीव मंतुं न याति ।

निर्मलध्यानस्य यो विषयः स परमात्मा अनादिः ॥ २३ ॥

वेदशास्त्रेन्द्रियैः कृत्वा योसौ मंतुं शतुं न याति । पुनश्च कथंभूतो यः । मिथ्यात्वा-

धारणादिक नहीं है [ध्येयं नापि] प्रतिमा वगैरः ध्यानकरने योग्य पदार्थ भी नहीं है
[यस्य] जिसके [यंत्रे न] अक्षरोंकी रचनारूप स्तंभन मोहनादि विषयक यंत्र नहीं
है [मंत्रः न] अनेकतरहके अक्षरोंके बोलनेरूप मंत्र नहीं है [यस्य] और जिसके
[मंडलं न] जलमंडल वायुमंडल अभिमंडल पृथ्वीमंडलादिक पवनके भेद नहीं है
[मुद्रा न] गारुडमुद्रा ज्ञानमुद्रा वगैरः मुद्रा नहीं हैं [तं] उसे [अनंतं] द्रव्यार्थिक-
नयसे अविनाशी तथा अनंतज्ञानादिगुणरूप [देवं मन्यस्व] परमात्मादेव जानी ।
भावार्थ—अतीन्द्रिय आत्मीकमुखके आत्मादसे विपरीत जिह्वाइंद्रिके विषय (रस)
को जीतके निर्मोह शुद्धस्वभावसे विपरीत मोहभावको छोड़कर और वीतराग सहज
आनंद परम समरसीभाव सुखरूपी रसके अनुभव का शत्रु जो नौ तरहका कुशील उसको
तथा निर्विकल्पसमाधिके पातक मनके संकल्प विकल्पोंको त्यागकर हे प्रभाकर भट्ट तू
शुद्धात्माका अनुभव कर । ऐमा ही दूसरी जगह भी कहा है—“अस्त्राणेति” इसका
आशय हमतरह है कि इंद्रियोंमें जीम प्रचल होती है ज्ञानावरणादि आठ कमोंमें मोह
कर्म बलवान् होता है पांच महाव्रतोंमें ब्रह्मचर्य व्रत प्रचल है और तीन गुणियोंमेंसे मनो-
गुति पाटना कठिन है । ये चार बातें मुदिकलसे सिद्ध होनी हैं ॥ २२ ॥

आगे वेद शास्त्र इंद्रियादि परद्रव्योंके अगोचर और वीतरागनिर्विकल्प समाधिके
गोचर (द्रव्यश्च) ऐमे परमात्माका स्वरूप कहते हैं,—[वेदैः] केवली की दिव्य

विरतिप्रसादश्चाययोक्तमिधानपंचग्रन्थरहितस्य निर्मलस्य स्वशुद्धात्मसंविस्मिन्भावित्या-
मंदेशगुणरसगन्धादपरिणतस्य ध्यानस्य विषयः । पुनरपि बंधंभूतो यः । अनादिः स पर-
मात्मा भवतीति हे जीव जानीहि । तथा चोक्तं । “अन्यथा वेदपांडित्यं शास्त्रपांडित्यम-
न्यथा । अन्यथा परमं तत्त्वं लोकाः हिंदयन्ति चान्यथा” । अप्रार्थभूत एव शुद्धात्मोपादे-
यो अन्यद्वेषमिति भावार्थः ॥ २३ ॥

अथ योगी वेदादिविषयो न भवति परमात्मा समग्रविविषयो भवति पुनरपि तत्सर्व-
म्यत्पं वर्णितं करोति,—

केवलदंमणणाणमउ, केवलसुखलसहाउ ।

केवलपीरिउ सो सुणहिं, जो जि पराधरु भाउ ॥ २४ ॥

केवलदर्शनज्ञानमयः केवलमुत्तमभावः ।

केवलपीर्यसं मन्यस्य य एव परापरो भावः ॥ २४ ॥

केवलोत्साहः ज्ञानदर्शनाभ्यां निर्मुक्तः केवलदर्शनज्ञानमयः केवलानंदसुखभावः केव-

वाणीकरके [शार्त्तः] महा मुनियोके बचनोसे तथा [इन्द्रियैः] इन्द्रिय और मनसे भी
[यः] जो शुद्धात्मा [भंतुं] जाना [न याति] नहीं जाता है अर्थात् वेद शास्त्र ये
दोनों शब्द अर्थ स्वरूप हैं आत्मा शब्दार्थात्त है तथा इन्द्रिय मन विकल्परूप हैं और
मूर्तीक पदार्थको जानते हैं वह आत्मा निर्विकल्प है अमूर्तीक है इसलिये इन तीनोंसे
नहीं जानसकते । [यः] जो आत्मा [निर्मलध्यानस्य] निर्मलध्यानके [विषयः]
गम्य है [सः] वही [अनादिः] आदि अंत रहित [परमात्मा] परमात्मा है अर्थात्
मिथ्यात्व अकृत प्रमाद कषाय योग इन पांचतरह आसबोंसे रहित निर्मल निज शुद्धा-
त्माके ज्ञानकर उरपल हुए नित्यानंद सुखामृतका आस्ताद उस स्वरूप परिणत निर्विकल्प
अपने स्वरूपके ध्यानकर स्वरूप की प्राप्ति है । आत्मा ध्यानगम्य ही है शास्त्रगम्य नहीं
है क्योंकि जिनको शास्त्र सुननेसे ध्यानकी सिद्धि हो जावे वो ही आत्माका अनुभव
करसकते हैं जिन्होंने पाया उन्होंने ध्यानसे ही पाया है और शास्त्र सुनना तो ध्यानका
उपाय है ऐसा समझकर अनादि अनंत चिद्रूपमें अपना परिणाम लगाओ । दूसरी जगह
भी “अन्यथा” इत्यादि कहा है । उसका यह भावार्थ है कि वेद शास्त्र तो अन्य तरह ही
हैं नयप्रमाणरूप हैं तथा ज्ञानकी पंडिताई कुछ और ही है वह आत्मा निर्विकल्प है
नय प्रमाण निक्षेपसे रहित है वह परमतत्त्व तो केवल आनंद रूप है और ये लोक
अन्य ही मार्गमें लगे हुए हैं सो वृथा क्लेश कर रहे हैं । इस जगह अर्थरूप शुद्धात्मा ही
उपादेय है अन्य सब त्यागने योग्य हैं यह सारांश समझना ॥ २३ ॥

आगे कहने हैं कि जो परमात्मा वेद शास्त्र गम्य तथा इन्द्रियगम्य नहीं केवल परमस-

लान्तवीर्यमभाव इति यन्ममान्मानं मन्यन् जननीः । पुनश्च कथंभूतो यः परः । यः परः परः परेभ्योऽर्जुनरमेष्ठिभ्यः पर उन्मृष्टो मुग्धमानः शुद्धात्मा भावः यसांगेः स एव मोक्षरेणोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ २४ ॥

अथ त्रिभुवनवन्दित इत्यादिलक्षणैर्युक्तो योगी शुद्धात्मा भवतिः स लोकत्रये निवसति कथयतिः—

एषहिं जुचाउ लकवणिहिं, जो पर निष्कल देउ ।

सो तहिं निवसइ परमपदे, जो तइलोगहं मेउ ॥ २५ ॥

एतैर्युक्तो लक्षणैः यः परो निष्कलो देवः ।

स तत्र निवसति परमपदे यत् त्रैलोक्यस्य सेतुः ॥ २५ ॥

एतैस्त्रिभुवनवन्दितादिलक्षणैः पूर्वोक्तैर्युक्तो यः पुनश्च कथंभूतो यः परः । परमात्मभावः । पुनरपि किंविशिष्टः । निष्कलः पञ्चविधशरीररहितः । पुनरपि किंविशिष्टः । त्रैलोक्यत्रिभुवनाराध्यः स एव परमपदे मोक्षे निवसति । यत्पदं कथंभूतं । त्रैलोक्यमावमान-

माधिरूप निर्विकल्पध्यानकर ही गम्य है इसलिये उसीका स्वरूप फिर कहते हैंः—[यः] जो [केवलदर्शनज्ञानमयः] केवलज्ञान केवलदर्शनमई है अर्थात् जिसके परब्रह्म आश्रय (सहायता) नहीं आप ही सब बातोंमें परिपूर्ण ऐसे ज्ञान दर्शनवाला है [केवलसुखस्वभावः] जिसका केवलसुख स्वभाव है और जो [केवलधीर्यः] अननवीर्यवाला है [स एव] वही [परापरमावः] उत्कृष्ट अर्हतपरमेष्ठीसे भी अधिक स्वभाववाला सिद्धरूप शुद्धात्मा है [मन्यस्व] ऐसा मानो ॥ भावार्थ—परमात्माके दो भेद हैं एक सकल परमात्मा एक निकल परमात्मा उनमेंसे कल अर्थात् शरीरसहित तो अर्हत भगवान हैं वे साकार हैं और जिनके शरीर नहीं ऐसे निकल परमात्मा निराकारतत्त्व सिद्धपरमेष्ठी हैं वे सकल परमात्मासे भी उत्तम हैं वही सिद्धरूप शुद्धात्मा ध्यान करने योग्य है ॥ २४ ॥

आगे तीन लोककर बंदना करने योग्य पूर्व कहे हुए लक्षणों सहित जो शुद्धात्मा कहा गया है वही लोकके अग्रमें रहता है यह कहते हैंः—[एतैः लक्षणैः] 'तीन भुवनकर बंदनीक' इत्यादि जो लक्षण कहे थे उन लक्षणोंकर [युक्तः] सहित [परः] सबसे उत्कृष्ट [निष्कलः] आदारीक वैकिक आहारक तैजस कार्माण ये पांच शरीर जिसके नहीं हैं अर्थात् निराकार है [देवः] तीन लोककर आराधित जगत का देव है [यः] ऐसा जो परमात्मा सिद्ध है [सः] वही [तत्र परमपदे] उस लोकके शिखर पर [निवसति] विराजमान है [यत्] जो कि [त्रिलोकस्य] तीनलोकका [सेतुः] शिरोमणि है । भावार्थ—यहाँपर जो सिद्ध परमेष्ठीका व्याख्यान किया है उसीके

मिति । अथ तदेव मुक्तजीवगृह्यं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ २५ ॥ एवं त्रिविधात्मरूपनप्रथममहाधिकारमध्ये मुक्तिगानसिद्धजीवव्याख्यानमुरयत्वेन दोहकसूत्र-
दशकं गतं ।

अन ऊर्ध्वं प्रधोपपंचयमंतर्भावचतुर्विंशतिमूत्रपर्यंतं यादृशो व्यक्तिरूपः परमात्मा मुक्तौ तिष्ठति तादृशः शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण तिष्ठतीति कथयंति तथा;—

जेहउ गिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहि णियसइ देउ ।

मेहउ णियसइ पंभु पर, देहं मं करि भेउ ॥ २६ ॥

यादृशो निर्मलो ज्ञानमयः सिद्धौ निवसति देवः ।

तादृशो निवसति ब्रह्मा परः देहे मा कुरु भेदं ॥ २६ ॥

यादृशः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपः कार्यसमयसारः निर्मलो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममल-
रहितः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निवृत्तः केवलज्ञानांतर्भूतानंतगुणपरिणतः सिद्धो मुक्तो
मुक्तौ निवसति तिष्ठति देवः परमाराध्यः तादृशः पूर्वोक्तलक्षणसदृशः निवसति तिष्ठति
ब्रह्मा शुद्धबुद्धैकमयभावः परमात्मा पर उत्कृष्टः । क निवसति । देहे । केन । शुद्धद्रव्याधि-
कनयेन । कथंभूतेन । शक्तिरूपेण हे प्रभाकरभट्ट भेदं माकार्पीन्वमिति । तथाचोक्तं
श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवैः मोक्षमाभूते । “जमिण्हिं जं जमिजइ झाइजइ ज्ञाएण्हिं जणवरयं ।
शुण्वेतहिं शुणिजइ देहत्थं किंपि नं मुण्हं ।” अथ स एव परमात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ २६ ॥

समान अपना भी स्वरूप है वही उपादेय (ध्यान करने योग्य) है जो सिद्धालय है
वह देहालय है अर्थात् जैसा सिद्धलोकमें विराज रहा है वैसाही हंस (आत्मा) इस
घट (देह) में विराजमान है ॥ २५ ॥

इसप्रकार जिसमें तीनतरहके आत्माका कथन है ऐसे प्रथम महाधिकारमें मुक्तिको
प्राप्त हुए सिद्धपरमात्माके व्याख्यानकी मुख्यताकर चौथे श्लोकमें दश दोहा सूत्र कहे ॥
आगे पंचश्लोक मिले हुए चौबीस दोहाओंमें जैसा प्रगटरूप परमात्मा मुक्तिमें है वैसा ही
शुद्धनिश्चयनकर देहमें भी शक्तिरूप है ऐसा कहते हैं;—[यादृशः] जैसा केवल
ज्ञानादि प्रगटस्वरूप कार्यसमयसार [निर्मलः] उपाधिरहित द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरूप
मलसे रहित [ज्ञानमयः] केवल ज्ञानादि अनंत गुणरूप सिद्ध परमेष्ठी [देवः] देवा-
धिदेव परम आराध्य [सिद्धौ] मुक्तिमें [निवसति] रहता है [तादृशः] वैसा ही
सब लक्षणोंसहित [परं ब्रह्म] पर ब्रह्म शुद्ध बुद्धस्वभाव परमात्मा उत्कृष्ट शुद्धद्रव्याधि-
कनयकर शक्तिरूप परमात्मा [देहे] शरीरमें [निवसति] तिष्ठता है इसलिये हे प्रभा-
करभट्ट तु [भेदं] सिद्ध भगवानमें और अपनेमें भेद [मा कार्पीः] मत करे । ऐसा
ही मोक्ष पाहुडमें श्रीकुंदकुंदाचार्यने भी कहा है “जमिण्हिं” इत्यादि—इसका मत

अथ येन शुद्धात्मना सम्बन्धनज्ञानचक्षुसाऽग्निनेन पूर्णकृतमिति न जानासि त्वं हे योगिनि कथयन्ति,—

जं दिष्टिं तुष्टंति लघु, कम्मइं पुच्चकियाइं ।

सो पर जाणहिं जोइया, देहि वसंतु ण काइं ॥ २५ ॥

येन दृष्टेन पुष्ट्यन्ति लघु कर्माणि पूर्वकृतानि ।

तं परं जानासि योगिन् देहे वसंतं न हिम् ॥ २५ ॥

जं दिष्टिं तुष्टंति लघु कम्मइं पुच्चकियाइं येन परमात्मना दृष्टेन मग्नानंदरूपरहित-
रागनिर्विकल्पममाधिलभणनिर्मललोचनेनाग्नेयस्फुटनेन पुष्ट्यन्ति शान्तपूर्णाणि भवन्ति लघु प्राग्-
जंतुर्मुहूर्तेन । कानि । परमात्मनः प्रनिबंधकानि सम्बन्धमायोगाजितानि पूर्णकृतमिति
सो पर जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइं नं निग्यानंदरूपमात्रं स्वामात्रं परमोदृष्टं
किं न जानासि हे योगिन् । कथंभूतमपि । स्वदेहे वसंतमपीति । अथ म एवोपादेय इति
भावार्थः ॥ २५ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रश्नेपपंचकं कथयन्ति । तथा;—

जित्थुण इंदियसुहृदुहृइ, जित्थु ण मणचावारु ।

सो अप्पा सुणि जीव तुहं, अण्णु परिं अचहारु ॥ २६ ॥ (श्लो०)

अभिप्राय है कि जो नमस्कारयोग्य महापुरुषोंसे भी नमस्कार करने योग्य है, स्तुति करने
योग्य सत्पुरुषोंसे स्तुति किया गया है और ध्यानकरने योग्य आचार्यपरमेश्वरगौरवसे भी
ध्यान करने योग्य ऐसा जीव नामा पदार्थ इस देहमें बसता है उसको तू परमात्मा
जान । भावार्थ—यही परमात्मा उपादेय है ॥ २६ ॥

आगे जिस शुद्धात्माको सम्यग्ज्ञान नेत्रसे देखनेकर पहले उपार्जन किये हुए कर्म
नाश होजाते हैं उसे हे योगिन् तू क्यों नहीं पहचानता ऐसा कहते हैं;—[येन] जिस
परमात्माको [दृष्टेन] सदा आनंदरूप वीतराग निर्विकल्प समाधि स्वरूप निर्मल
नेत्रोंकर देखनेसे [लघु] शीघ्र ही [पूर्वकृतानि] निराणके रोकनेवाले पूर्व उपार्जित
कर्म [पुष्ट्यन्ति] पूर्ण हो जाते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञानके अभावसे (अज्ञानसे) जो
पहले शुभ अशुभकर्म कमाये थे वे निजस्वरूपके देखनेसे ही नाश हो जाते हैं [तं]
उस सदानंदरूप परमात्माको [देहे वसंतं] देहमें बसते हुए भी [हे योगिन्] हे योगी
[किं न जानासि] तू क्यों नहीं जानता । भावार्थ—जिसके जाननेसे कर्मकलंक
दूर हो जाते हैं वह आत्मा शरीरमें निवास करता हुआ भी देहरूप नहीं होता उसको
तू अच्छीतरह पहचान और दूसरे अनेक प्रपंचों (झगड़ों) को तो जानता है
अपने स्वरूपकी तरफ क्यों नहीं देखता वह निज स्वरूप ही उपादेय है अन्य कोई
नहीं है ॥ २७ ॥

यत्र नेन्द्रियमुखदुःखानि यत्र न मनोव्यापारः ।

तं आत्मानं मन्यस्य जीव त्वं अन्यत्परमपहर ॥ २८ ॥

जित्पु ण इन्द्रियमुखदुःखानि जित्पु ण मणवावारु यत्र शुद्धात्मस्वरूपे न मंति न विरंते । कानि । अनादुःखत्वलक्षणपरमार्थिकमौरयविपरीतान्याकुलत्वोत्पादकानीन्द्रियमुखदुःखानि यत्र च निर्विकल्पपरमात्मनो विलक्षणः संकल्पविकल्परूपो मनोव्यापारो नास्ति सो अप्पा मुणि जीव तुहं अण्णु परि अवहारु सं पूर्वोत्पलक्षणं स्वशुद्धात्मानं मन्यस्य नित्यानन्दस्वरूपं पीतरागनिर्विकल्पसमाधी स्थित्वा जानीहि हे जीव त्वं, अन्यत्परमात्मस्वभाव-द्विपरीतं पंचेन्द्रियविषयस्वरूपादिविभावसमूहं परस्मिन् दूरे सर्वप्रकारेणापहर स्वज, तात्पर्यार्थः । निर्विकल्पसमाधी सर्वत्र पीतरागविशेषणं किमर्थं कृतं इति पूर्वपक्षः । परिहारमाह । यत् एव हेनोः पीतरागस्तत्र एव निर्विकल्प इति हेतुहेतुमद्भाषापनार्थः, अथवा ये सरागिणोपि संतो वयं निर्विकल्पसमाधिस्था इति वदन्ति तन्निषेधार्थः, अथवा श्वेतशंख-वस्त्ररूपविशेषणमिदं इति परिहारत्रयं निर्दोषपरमात्मगन्तारिपूर्वपक्षेपि योजनीयं ॥ २८ ॥

अथ यः परमात्मा व्यवहारेण देहे तिष्ठति निश्चयेन स्वस्वरूपे तमाहः—

देहादेहहिं जो वसइ, भेयाभेयणाण ॥

सो अप्पा मुणि जीव तुहं, किं अण्णं यहुण ॥ २९ ॥ (क्षे०)

इससे आगे पांच प्रक्षेपकों द्वारा आत्माही का कथन करते हैंः—[यत्र] जिस शुद्ध आत्म स्वभावमें [इन्द्रियमुखदुःखानि] आकुलतारहित अतीन्द्रियमुख से विपरीत जो आकुलताके उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियजनित मुखदुःख [न] नहीं हैं [यत्र] जिसमें [मनोव्यापारः] संकल्पविकल्परूप मनका व्यापार भी [न] नहीं है अर्थात् विकल्परहितपरमात्मासे मनके व्यापार जुड़े हैं [तं] उस पूर्वोक्त लक्षणवालेको [हे जीव त्वं] हे जीव तू [आत्मानं] आत्माराम [मन्यस्य] मान [अन्यत्परं] अन्य सब विभावोंकी [अपहर] छोड़ ॥ भावार्थ—ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्धात्माको निर्विकल्पसमाधिमें स्थिर होकर जान अन्य परमात्मस्वभावसे विपरीत पांच इन्द्रियोंके विषयवगैरह सब विकार परिणामोंको दूरसे ही त्याग उनका सर्वथा ही त्याग । यहांपर किसी शिष्यने प्रश्न किया कि निर्विकल्पसमाधिमें सब जगह पीतरागविशेषण क्यों कहा है उसका उत्तर कहते हैं—जहांपर पीतरागता है वहीं निर्विकल्पसमाधिपना इस रहस्यको समझानेकेलिये अथवा जो रागी हुए कहते हैं कि हम निर्विकल्पसमाधिमें स्थित हैं उनके निषेधकेलिये पीतरागता सहित निर्विकल्पसमाधिका कथन किया गया है, अथवा सफेद शंखकी तरह स्वरूप प्रगट करनेकेलिये कहा गया है अर्थात् जो शंख होगा वह श्वेत ही होगा उसी-प्रकार जो निर्विकल्पसमाधि होगी वह पीतरागतारूप ही होगी ॥ २८ ॥

देहादेहयोः यो वसति भेद्रामेदनयेन ।

तमात्मानं मन्यस्व जीव त्वं किमन्येन बहुना ॥ २९ ॥

देहादेहयोरधिकरणभूतयोर्यो वसति । केन । भेद्रामेदनयेन । तथाहि—अनुपचरित-
सद्भूतव्यवहारणाभेदनयेन स्वपरात्मनोऽभिन्ने स्वदेहे वसति शुद्धनिश्चयनयेन तु भेदनं
स्वदेहादभिन्ने स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व जानीहि हे जीवं नित्यानन्दैकवर्णं
निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । किमन्येन शुद्धात्मनो मित्रेण देहरागादिना बहुना ।
अत्र योसौ देहे वसन्नपि निश्चयेन देहरूपो न भवति स एव स्वशुद्धात्मोपादेन एते
वात्पर्यार्थः ॥ २९ ॥

अप जीवाजीवयोरैकत्वं माकार्षीर्लक्षणभेदेन भेदोऽस्तीति निरूपयति;—

जीवाजीव म एकु करि, लक्षणभेदं भेद ।

जो परु सो परु भणामि सुणि, अप्पा अप्पु अमेउ ॥ ३० ॥ (क्षे०)

जीवाजीवी मा एकौ कार्षीः लक्षणभेदेन भेदः ।

मत्परं तत्परं भणामि मन्यस्व आत्मन आत्मना अभेदः ॥ ३० ॥

हे प्रभाकरभट्ट जीवाजीववैकौ मा कार्षीः । कस्मान् । लक्षणभेदेन भेदोऽस्ति ।
तद्यथा—रमादिरहितं शुद्धचैतन्यं जीवलक्षणं । तथा चोक्तं प्रामृते “अरसमरुचमणं
अव्ययं वेदनागुणमसहं जाग अलिंगगह्वं जीवमणिदिट्ठमंठाणं” इत्यंभूतशुद्धान्तो
निष्प्रमजीवलक्षणं । तत्र द्विविधं । जीवसंश्रयमजीवमंश्रयं च । देहरागादिरूपं जीवमंश्रयं,

भागे यद् परमात्मा व्यवहारनयसे तो इस देहमें ठहर रहा है लेकिन निश्चयनयकर
अपने स्वरूपमें ही निष्ठा है ऐसा आत्माको कहते हैं;—[यः] जो [भेद्रामेदनयेन
देहादेहयोः वसति] अनुपचरित अमद्भूतव्यवहारनयकर अपनेसे भिन्न जडरूप देहमें
विष्ठ रहा है और शुद्धनिश्चयनयकर अपने आत्मस्वभावमें ठहरा हुआ है अपांत्पर-
हारनयकर तो देहमें अभेदरूप (तन्मय) है और निश्चयमें सदाकालसे अत्यंत शुद्ध
है अपने स्वभावमें भिन्न है [तं] उसे [हे जीव त्वं] हे जीव तू [आत्मानं] पर-
मात्मा [मन्यस्व] जान अर्थात् नित्यानन्द वीतराग निर्विकल्पममाधिमें ठहरके अपने
अन्नाद्या ध्यानकर [अन्येन] अपनेमें भिन्न [बहुना] देह रागादिकोसे [किं] कुछ
कना प्रयोजन है । भावार्थ—देहमें रहता हुआ भी निश्चयसे देहस्वरूप जो नहीं होता
वही निज शुद्धात्मा उपादेय है ॥ २९ ॥

अतः जीव और अजीवमें लक्षणके भेदमें भेद है तू दोनोंको एक मत जाने ऐसा
करते हैं,—हे प्रभाकरभट्ट तू [जीवाजीवी] जीव और अजीवको [एकौ] एक
[मा कार्षीः] मत करे क्योंकि इन दोनोंमें [लक्षणभेदेन] लक्षणके भेदमें [भेदः]

पुद्गलादिपंचद्रव्यरूपमजीवसंबंधमजीवलक्षणं । अत एव भिन्नं जीवादजीवलक्षणं ततः
कारणात् यत्परं रागादिकं तत्परं जानीहि । कथंभूतं । भेदमभेदमित्यर्थः । अत्र योसौ
शुद्धलक्षणमेयुक्तः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ३० ॥

अथ तस्य शुद्धात्मनो ज्ञानमयादिलक्षणं विशेषेण कथयति;—

अमणु अणिदिउ णाणमउ, मुत्तिविरहिउ चिमित्तु ।

अप्पा इंदियपिसउ णवि, लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥ ३१ ॥ (स्तो०)

अमनस्कः अनिन्द्रियो ज्ञानमयः मूर्तिविरहितश्चिन्मात्रः ।

आत्मा इन्द्रियविषयो नापि लक्षणमिदं निरुक्तम् ॥ ३१ ॥

परमात्मविपरीतमानसविकल्परूपजान्तरहितत्वादमनस्कः अतीन्द्रियशुद्धात्मविपरीतेनेन्द्रियमा-

भेद है [यत्परं] जो परके संबंधसे उत्पन्न हुए रागादि विभाव (विकार) हैं [तत्परं]
उनको पर (अन्य) [मन्यस्व] समझ [च] और [आत्मनः] आत्माका [आत्मना
अभेदः] अपनेसे अभेद जान [मणामि] ऐसा मैं कहता हूं ॥ भावार्थ—जीव अजीवके
लक्षणोंमेंसे जीवका लक्षण शुद्ध चैतन्य है वह स्पर्श रस गंधरूप शब्दादिकसे रहित है ।
ऐसा ही भीसमयसारमें कहा है—“अरस”मित्यादि । इसका सारांश यह है कि जो
आत्मद्रव्य है वह मिष्ट रसैः पांच प्रकारके रसरहित है, श्वेतआदिक पांच तरहके वर्ण-
रहित है सुगंध दुर्गंध इन दो तरहके गंध जिसमें नहीं हैं पगट (दृष्टिगोचर) नहीं है,
चैतन्यगुणकरसरहित है, शब्दसे रहित है, पुरुषलिंग रसैः करके ग्रहण नहीं होता
अर्थात् लिंगरहित है और जिसका आकार नहीं दीखता अर्थात् निराकार वस्तु है
आकार छै प्रकारके है—समचतुरस्र, त्र्यशोपरिमंडल, सातिक, कुब्जक, वामन, हुंडक ।
इन छह प्रकारके आकारोंसे रहित है ऐसा जो बिद्रूप निजबस्तु है उसे तू पहचान ॥
आत्मसे भिन्न जो अजीव पदार्थ है उसके लक्षण दो तरहसे हैं एक जीवसंबंधी दूसरा
अजीवसंबंधी । जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप है वह तो जीवसंबंधी है और पुद्गलादि
पांचद्रव्यरूप अजीव जीवसंबंधी नहीं है अजीवसंबंधी ही है इसलिये अजीव हैं जीवसे
भिन्न है इसकारण जीवसे भिन्न अजीवरूप जो पदार्थ है उनको अपने मत समझो ।
यद्यपि रागादिक विभाव परिणाम जीवमें ही उपजते हैं इससे जीवके कहे जाते हैं परंतु
वे कर्मजनित हैं परपदार्थ (कर्म) के संबंधसे हैं इसलिये पर ही समझो । यहापर जीव
अजीव दो पदार्थ कहे गये हैं उनमेंसे शुद्ध चेतना लक्षणका धारण करनेवाला शुद्धात्मा
ही ध्यान करने योग्य है यह सारांश हुआ ॥ ३० ॥

आगे शुद्धात्माके ज्ञानादिक लक्षणोंको विशेषनेसे कहते हैं;—[आत्मा] यह शुद्ध
आत्मा [अमनाः] परमात्मासे विपरीत विकल्पजालमयी मनसे रहित है [अतीन्द्रियः]

मेण रहितत्वादतीन्द्रियो लोकालोकप्रकाशकेवलज्ञानेन निर्वृत्तत्वान् ज्ञानमयः अमूर्तानि-
परीतलक्षणया स्पर्शरसगंधवर्णवत्या मूर्त्या वर्जितत्वान्मूर्तिविरहितः अन्यद्रव्यामाधारतः
शुद्धचेतनया निष्पन्नत्वाचिन्मात्रः । कोसौ । आत्मा । पुनश्च किंविशिष्टः । वीतरागसंवेद-
नज्ञानेन ब्राह्मोपीन्द्रियाणामविषयश्च लक्षणमिदं निरुक्तं निश्चितमिति । अत्रोक्तलक्षणमन-
सोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३१ ॥

अथ संसारशरीरभोगनिर्विण्णो भूत्वा यः शुद्धात्मानं ध्यायति तस्य संसारबन्धी नरा-
तीति कथयति;—

भवतनुभोयविरक्तमणु, जो अप्पा झाएइ ।

तासु गुरुकी चेहड़ी, संसारिणि तुटेइ ॥ ३२ ॥ (क्षे०)

भवतनुभोगविरक्तमना य आत्मानं ध्यायति ।

तस्य गुर्वी बड़ी सांसारिकी शुद्धति ॥ ३२ ॥

भवतनुभोगेषु रंजितं मूर्छितं वासितमासक्तं चित्तं स्वसंवित्तिममुत्पन्नवीतरागपरमानंद-
परसाक्षादेन ध्यातव्यं स्वशुद्धात्ममुखे रतत्वात्संसारशरीरभोगविरक्तमनाः सन् यः शुद्ध-
त्मानं ध्यायति तस्य गुरुकी महती संसारबन्धी शुद्धति नश्यति शतचूर्णा भवतीति । अ-
थैनं परमात्मध्यानेन संसारबन्धी भिनश्यति स एव परमात्मोपादेयो भावनीयश्चेति तात्प-
र्यार्थः ॥ ३२ ॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रमध्ये प्रश्नेकपंचकं गतं ।

शुद्धात्मासे भिन्न इन्द्रियसमूहसे रहित है [ज्ञानमयः] लोक और अलोकके प्रकाशने-
वाले केवलज्ञानस्वरूप है [मूर्तिविरहितः] अमूर्तीक आत्मासे विपरीत स्पर्शरसगंध-
वर्णवाली मूर्तिरहित है [चिन्मात्रः] अन्य द्रव्योंमें नहीं पाई जावे ऐसी शुद्धचेतना-
स्वरूप ही है और [इन्द्रियविषयः नैव] इन्द्रियोंके गोचर नहीं है वीतरागसंवेदनज्ञा-
न ही प्रदर्श किया जाता है [इदं लक्षणं] ये लक्षण जिसके [निरुक्तं] मगट कहे गये
हैं । उसको ही तू निःसंदेह आत्मा जान । इस जगह जिसके ये लक्षण कहे गये हैं वही
आत्मा है वही उपादेय है आराधने योग्य है यह तात्पर्य निकला ॥ ३१ ॥

जगो जो कोई संसार शरीर भोगोंसे निरक्त होके शुद्धात्माका ध्यान करता है उसीके
संसारबन्धी बंध नाशको प्राप्त होजाती है यह कहते हैं;—[यः] जो जीव [भवतनु-
भोगविरक्तमनाः] संसार शरीर और भोगोंमें निरक्त मन हुआ [आत्मानं] शुद्धा-
त्माका [ध्यायति] चिंतन करना दे [तस्य] उसकी [गुर्वी] मोटी [बड़ी] संसा-
रिणी] संसारबन्धी बंध [तुष्टयति] नाशको प्राप्त होजाती है । भाषार्थ—संसार शरीर-
भोगोंमें अत्यंत आमल (लगा हुआ) चित्त दे उसको आत्मज्ञानमें उ पत हुआ वीतराग-
परमानंद सुभामृद के आनंदमें रागद्वेषमें दृष्टाक्ष अपने शुद्धात्ममुखमें अनुरागी कर सती-

तदनंतर देहदेवगृहे योगी वसति स एव शुद्धनिश्चयेन परमात्मा समिरूपयंति;—

देहादेवलि जो वसइ, देउ अणाइअणंतु ।

केवलज्ञानस्फुरिततनु, सो परमप्पु णिभंतु ॥ ३३ ॥

देहदेवालये यः वसति देवः अनाद्यनंतः ।

केवलज्ञानस्फुरिततनुः स परमात्मा निर्भातः ॥ ३३ ॥

व्यवहारेण देहदेवकुले वसन्नपि निश्चयेन देहाङ्गिभ्रत्वादेहवन्मूर्तः सर्वाशुचिमयो न भवति । यद्यपि देहो नाराध्यस्तथापि स्वयं परमात्माप्यो देवः पूज्यः, यद्यपि देह आर्णत- तथापि स्वयं शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनानाद्यनंतः, यद्यपि देहो जडस्तथापि स्वयं लोकालोकप्रका- शकत्वात्केवलज्ञानस्फुरिततनुः केवलज्ञानप्रकाशरूपशरीर इत्यर्थः । स पूर्वोक्तलक्षणमुक्तः परमात्मा भवतीति । कथंभूतः । निर्भातः निस्संदेह इति । अत्र योसौ देहे वसन्नपि सर्वाशुच्यादि देहधर्मं न स्पृशति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ३३ ॥

अथ शुद्धात्मविलम्बे देहे वसन्नपि देहं न स्पृशति देहेन सोपि न स्पृश्यते इति प्रति- पादयति:—

देहे वसंतुपि णयि छिचइ, णियमें देहु जि जो जि ।

देहिं छिप्पइ जो जि णयि, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३४ ॥

देहे वसन्नपि नैव स्पृशति, नियमेन देहं अपि यः अपि ।

देहेन स्पृश्यते योपि नैव मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३४ ॥

आदिकमें बैराग्यरूप हुआ जो शुद्धात्माको विचारता है उसका संसार छूट जाता है इस- लिये जिस परमात्माके ध्यानसे संसाररूपी बेलि दूर हो जाती है वही ध्यान करने योग्य (उपादेय) है ॥ ३२ ॥

आगे जो देहरूपी देवालयेमें रहता है वही शुद्धनिश्चयनयसे परमात्मा है यह कहते हैं:—[यः] जो व्यवहारनयकर [देहदेवालये] देहरूपी देवालयेमें [वसति] वसता है निश्चयनयकर देहसे भिन्न है देहकी तरह मूर्तोंक तथा अशुचिमय नहीं है महा भवित्र है [देवः] आराधने योग्य है पूज्य है, देह आराधने योग्य नहीं है [अनाद्य- नंतः] जो परमात्मा आप शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर अनादि अनंत है तथा यह देह आदि अंतकर सहित है [केवलज्ञानस्फुरिततनुः] जो आत्मा निश्चयनयकर लोकअलोकको प्रकाशनेवाले केवलज्ञानस्वरूप है अर्थात् केवलज्ञान ही प्रकाशरूप शरीर है और देह जड़ है [सः परमात्मा] वही परमात्मा [निर्भातः] निःसंदेह है इसमें कुछ संशय नहीं समझना । सारांश यह है कि जो देहमें रहता है तो भी देहसे जुदा है सर्वाशुचि- मयी देहको यह देव छूता नहीं है वही आत्मदेव उपादेय है ॥ ३३ ॥

मदेहो ॥ भवति कापि तमेव परमात्मानं हे प्रभाकरमहृ मन्यस्व जानीहि वीतरागत्वज्ञे
दनज्ञानेन भावयेत्यर्थः । अत्र सर्वैव परमात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानुष्ठाने
भवत्यन्येषां हेय इति भावार्थः ॥ ३६ ॥

यः परमार्थेन देहकर्मरहितोपि मूढात्मनां सकल इति प्रतिमार्तीत्येवं निरूपयति,—

जो परमर्थं णिकलुवि, कम्मविमिण्णउ जो जि ।

मूढा सयलु भणंति फुट्ट, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निःकलोपि कर्मविमिक्तो य एव ।

मूढाः सकलं भणंति स्फुटं मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ३७ ॥

यः परमार्थेन निःकलोपि देहकर्मरहितोपि कर्मविमिक्तोपि य एव भेदाभेदरत्नत्रयमायन
हिता मूढान्मानस्तमात्मानं सकलमिति भणंति स्फुटं निश्चितं हे प्रभाकरमहृ तमेव पर-
त्मानं मन्यस्व जानीहीति, वीतरागमदानन्दैकममार्था धित्वानुभवैत्यर्थः । अत्र स रा
परमात्मा शुद्धात्ममवितिप्रतिपन्नभूतमिष्यात्वरगादिनिवृत्तिकाले सम्यग्गुणादेवो भवति
तदभावे हेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ३७ ॥

अपानंताकाशैकनभ्रप्रमिव यस्य केवलज्ञाने त्रिभुवनं प्रतिभाति स परमात्मा भवतीति
कथयति,—

धमे ॥ भावार्थ—परमात्माकी भावनासे विपरीत जो राग द्वेष मोह हैं उनकर वशी
अवशागनयमे वंषा है और देहमें तिष्ठ रहा है तौभी निश्चयनयसे शरीररूप नहीं
उममे जुश ही है किमी काळमें भी यह जीव जड़ न तो हुआ न होगा उसे हे प्रभाकर
महृ परमात्मा जान निश्चयकर आत्मा ही परमात्मा है उसे तू वीतराग स्वसंवेदनदानकर
चिदवन कर । सांगंश यह है कि यह आत्मा हमेशा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ही
स्वानुभोको तो मिथ है मूढोंको नहीं ॥ ३६ ॥

सांगे निश्चयनयकर आत्मा देह और कर्मोंमें रहित है तौभी मूढों (भ्रान्तियों) के
शरीररूप मान्य होता है ऐसा कहते हैं;—[यः] जो आत्मा [परमार्थेन] निश्च-
यकर [निःकलोपि] शरीररहित है [कर्मविमिक्तोपि] और कर्मोंमें भी जुश
नहीं [मूढाः] निश्चयव्यवहाररत्नत्रयकी भावनामें विमुख मूढ [सकलं] शरीररूप
ही [स्फुटं] प्रकटनेमें [भणंति] मानते हैं सो हे प्रभाकरमहृ [तमेव] उही
[परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] जान अर्थात् वीतराग सदानन्द निर्विकल्पसमाधिमें
रहके अनुभव कर । भावार्थ—वही परमात्मा शुद्धात्मके वीर मिथ्यात्वरगादिकोंके दू
होनेके मन्त्र जानी जीवोंके उपादेय है और तिनके मिथ्यात्वरगादिक दूर नहीं
करके उपादेय ही परमात्मा ही प्रकट है ॥ ३७ ॥

गगणि अणंति जि एषा उद्गु, जेहउ भुअणु बिहाइ ।

मुपाहं जसु पएधिबियउ, सो परमप्पु अणाइ ॥ ३८ ॥

गगने अनंतेपि एकमुद्गु यथा भुवनं विभाति ।

मुक्तस्य यस्य पदे विबिंतं स परमात्मा अस्ति ॥ ३८ ॥

गगने अनंतस्थेकनक्षत्रं यथा तथा भुवनं जगन् प्रतिभाति । क प्रतिभाति । मुक्तस्य यस्य पदे केवलज्ञाने विबिंतं प्रतिरंकलितं दर्पणे चिक्मिष । स एवंभूतः परमात्मा भवतीति । अत्र यम्यैव केवलज्ञाने नक्षत्रमेकमिव लोकः प्रतिभाति स एव रागादिसमस्तविकल्परहितानामुपादेयो भवतीति भावार्थः ॥ ३८ ॥

अथ योगीन्द्रपुंद्रं निरवधिज्ञानमयो निर्विकल्पसमाधिकाले ध्येयरूपधित्यते तं परमात्मानमाहः—

जोइयपिंदह णाणमउ, जो झाइझइ झेउ ।

मोक्खहं कारणि अणवरउ, सो परमप्पउ देउ ॥ ३९ ॥

योगिपुंद्रैः ज्ञानमयः यो ध्यायते ध्येयः ।

मोक्षस्य कारणे अनवरतं स परमात्मा देवः ॥ ३९ ॥

योगीन्द्रपुंद्रैः शुद्धात्मवीतरागनिर्विकल्पममाधिरतैः ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्वृतः यः कर्मतापक्षो ध्यायते चित्यते ध्येयो ध्येयरूपोपि । किमर्थं ध्यायते । मोक्षकारणे मोक्षनिमित्ते अनवरतं निरंतरं स एव परमात्मा देवः परमाराध्य इति । अत्र य एव परमात्मा मुनिपुंद्रानां ध्येयरूपो भजितः स एव शुद्धात्मसंविस्तिप्रतिपञ्चभूतार्तरौद्रध्यानरहितानामुपादेय इति भावार्थः ॥ ३९ ॥

आगे अनंत आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह जिसके केवलज्ञानमें तीनों लोक भासते हैं वह परमात्मा है ऐसा कहते हैंः—[यथा] जैसे [अनंतेपि] अनंत [गगने] आकाशमें [एक उद्गु] एक नक्षत्र [“तथा”] उसीतरह [भुवनं] तीनलोक [यस्य] जिसके [पदे] केवलज्ञानमें [विबिंतं] प्रतिविबिंत हुआ [विभाति] दर्पणमें गुलकी तरह भासता है [स] वह [परमात्मा] परमात्मा [अस्ति] है ॥ भावार्थः—जिसके केवलज्ञानमें एक नक्षत्रकी तरह समस्त लोक अलोक भासते हैं वही परमात्मा रागादि समस्त विकल्पोसे रहित योगीश्वरोंको उपादेय है ॥ ३८ ॥

आगे अनंतज्ञानमयी परमात्मा योगीश्वरोंकर निर्विकल्पसमाधिकालमें ध्यानकरने योग्य है उसी परमात्माको कहते हैंः—[यः] जो [योगीन्द्रपुंद्रैः] योगीश्वरोंकर [मोक्षस्य कारणेन] मोक्षके निमित्त [अनवरतं] हमेशा [ज्ञानमयः] ज्ञानमय [ध्यायते] ध्यायते [चित्तवन किया जाता है [सः परमात्मा देवः] वह परमात्मदेव [ध्येयः] आराधने

अथ योऽयं शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवो ज्ञानावरणादिकर्महेतुं लब्ध्वा त्रयम्यावगम्यं जगज्जनयति स एव परमात्मा भवति नान्यः कोपि जगत्कर्ता ब्रह्मादिरिति प्रतिपादयति,—

जो जिउ हेउ लहेवि विहिं, जगु बहुविहउ जणेइ ।

लिंगत्रयपरिमंडियउ, सो परमप्पु हचेइ ॥ ४० ॥

यो जीवः हेतुं लब्ध्वा विधिं जगत् बहुविधं जनयति ।

लिंगत्रयपरिमंडितः स परमात्मा भवति ॥ ४० ॥

यो जीवः कर्ता हेतुं लब्ध्वा । किं । विधिसंज्ञं ज्ञानावरणादिकर्म पञ्चाजंगमस्यावरणं जगज्जनयति स एव लिंगत्रयमंडितः सन् परमात्मा भण्यते न चान्यः कोपि जगत्कर्ता हरिहरादिरिति । तच्चा । योसौ पूर्वं बहुधा शुद्धात्मा भणितः स एव शुद्धब्रह्मार्थिकतयेन शुद्धोपि सन् अनादिमंतानागतज्ञानावरणादिकर्मबंधप्रच्छादितत्वाद्धीतरागनिर्विकल्पसहजा- नंदैकसुखास्वादमलभमानो व्यवहारनयेन त्रयो भवति, स्थावरो भवति, स्त्रीपुंनपुंसको लिंगो भवति तेन कारणेन जगत्कर्ता भण्यते नान्यः कोपि परकल्पितपरमात्मेति । अत्रायमेव शुद्धात्मा परमात्मोपलब्धिप्रतिपक्षवेदत्रयोदयजनितं रागादिविकल्पजालं निर्विकल्प- समाधिना यदा विनाशयति ततोपादेयभूतमोक्षमुखसाधकत्वादुपादेय इति भावार्थः ॥४०॥

योग्य है दूसरा कोई नहीं ॥ भावार्थ—जो परमात्मा मुनियोंको ध्यावने योग्य कहा है वही शुद्धात्मज्ञानके वैरी आर्तरीदृध्यान कर रहित धर्मध्यानी पुरुषोंको उपादेय है अर्थात् जब आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दोनों छूट जाते हैं तभी उसका ध्यान होमकता है ॥ ३९ ॥

आगे जो शुद्धज्ञानस्वभाव जीव ज्ञानावरणादिकर्मोंके कारणसे त्रस स्थावरजन्मरूप जगत् को उत्पन्न करता है वही परमात्मा है दूसरे कोई भी ब्रह्मादिक जगत्कर्ता नहीं हैं ऐसा कहते हैं!—[यः] जो [जीवः] आत्मा [विधिं हेतुं] ज्ञानावरणादिकर्मरूप कारणोंको [लब्ध्वा] पाकर [बहुविधं जगत्] अनेक प्रकारके जगत्को [जनयति] पैदा करता है अर्थात् कर्मके निमित्तसे त्रस स्थावररूप अनेक जन्म धरता है [लिंगत्रयपरिमंडितः] स्त्रीलिंग पुरुषलिंग नपुंसकलिंग इन तीन चिन्होंकर सहित हुआ [सः] वही [परमात्मा] शुद्धनिश्चयकर परमात्मा [भवति] है अर्थात् अशुद्धपनेको परिणत हुआ जगतमें मंड- कता है इसलिये जगत्का कर्ता कहा है और शुद्धपनेरूप परिणत हुआ विभाव (विकार) परिणामोंको धरता है इसलिये हर्ता है । यह जीव ही ज्ञान अज्ञान दशाकर कर्ता हर्ता है और दूसरे कोई भी हरिहरादिक कर्ता हर्ता नहीं है ॥ भावार्थ—पूर्व जो शुद्धात्मा कहा था वह यद्यपि शुद्धनयकर शुद्ध है तौभी अनादिमे मसारांमें ज्ञानावरणादिकर्मबंधप्र- दष्टा हुआ वीतराग निर्विकल्पमहज्ञानेंद अद्वितीयमुखके स्वादको न पानेमे व्यवहारनयकर त्रय और स्थावररूप स्त्रीपुरुषनपुंसकलिंगादिमहिन होना है इसलिये जगत्कर्ता कहा जाना

अथ यस्य परमात्मनः केवलज्ञानप्रकाशमध्ये जगद्भवति जगन्मध्ये सोऽपि वसति तथापि तदपो न भवतीति कथयन्ति;—

जगु अन्भंतरी जगु वसह, जग अन्भंतरी जो जि ।

जगि जि वसंतुचि जगु जि णचि, मुणि परमप्पउ सो जि ॥ ४१ ॥

यस्य अन्धंतरे जगत् वसति जगतोऽन्धंतरे य एव ।

जगति वसन्नपि जगत् एव नापि मन्यस्व परमात्मानं तमेव ॥ ४१ ॥

यस्य केवलज्ञानस्वाभ्यंतरे जगन् त्रिभुवनं ज्ञेयभूतं दमति जगतोऽभ्यंतरे योमी शायको भगवानपि दमति जगति दमन्नेव रूपविषये चक्षुरिव निश्चयनयेन तन्मयो न भवति मन्यस्य जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । तमिस्थंभूतं परमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पममापौ स्थित्वा भाष्येत्यर्थः । अत्र योमी केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यममयमारस्य वीतरागस्वसंवेदन-काले मुक्तिकारणं भवति स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ४१ ॥

अथ देहे वसन्नपि हरिहरादयः परमममाधेरभावादेव न जानन्ति स परमात्मा भवतीति कथयन्ति;—

हे अन्य कोई भी दूसरोंकर कस्विन परमात्मा नहीं है । यह आत्मा ही परमात्माकी मासिके द्रष्टु तीन वेदों (स्त्रीलिङ्गादि) कर उत्पन्न हुए रागादि विकल्पजालोंको निर्विकल्पसमाधिसे जिस समय नाश करता है उसी समय उपादेयरूप मोक्षमुखका कारण होनेसे उपादेय हो जाता है ॥ ४० ॥

आगे जिस परमात्माके केवलज्ञानरूप प्रकाशमें जगत वस रहा है और जगतके मध्यमें वह ठहर रहा है तभी वह जगतरूप नहीं है ऐसा कहते हैं;—[यस्य] जिस आत्मा-रामके [अन्धंतरे] केवलज्ञानमें [जगत्] सत्तार [वसति] वस रहा है अर्थात् मति-विधित हो रहा है प्रत्यक्ष भास रहा है [जगदन्धंतरे] और जगतमें वह वस रहा है अर्थात् सबमें व्याप रहा है । वह ज्ञाता है और जगत ज्ञेय है [जगति वसन्नपि] संसारमें निवास करता हुआ भी [जगदेव नापि] निश्चयनयकर किसी जगतकी वस्तुसे तन्मय (उस स्वरूप) नहीं होता अर्थात् जैसे रूपी वदार्थको नेत्र देखते हैं तभी उनसे जुड़े ही रहते हैं इस तरह वह भी सबसे जुड़ा रहना है [तमेव] उसीको [परमात्मानं] परमात्मा [मन्यस्व] हे प्रभाकरभट्ट तू जान । भावार्थ—जो शुद्ध बुद्ध सर्वव्यापक सबसे अलिप्त शुद्धात्मा है उसे वीतराग निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यान कर । जो केवलज्ञानादिव्यक्तिरूप कार्यसमयमार है उसका कारण वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानरूप निज-भाव ही उपादेय है ॥ ४१ ॥

नापि संसारः । तथा—यस्य चिदानंदैक्यभावाद्गुडात्मनश्चिद्विज्ञानो द्रव्यरूपसंसार-
भावरूपः परमात्मप्रसिद्धः पंचप्रकाशः गंगारो नाप्ति इत्यंभूतसंसारस्य बाह्यभूत-
निश्चित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्नैकेवलज्ञानानंतचतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षपदार्थोद्विज्ञानो वंशो
नास्ति सो परमण्ड जाणि तुहुं मणि मिट्टिहिं व्यवहारं नमेरेत्यंभूतलक्षणं परमात्मनं
मनसि व्यवहारं मुक्त्वा जानीहि वीतरागनिर्विकल्पममागौ शिव्या मायैत्यर्थः । अत्र वक्ष्यते
शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणेन संमारेण बंधनेन च रहितः स एवानाकुलत्वलक्षणमोक्षपदार्थो
यभूतमोक्षमुखसाधकत्वादुपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ४६ ॥

अथ यस्य परमात्मनो ज्ञानं वक्षीवन् ज्ञेयान्निव्याभावेन निवर्तते न च शक्त्यावर्ते-
कथयति;—

ज्ञेयाभावं विद्धि जिम, थक्कड़ णाणु वलेपि ।

मुक्कहं जस्तु पय विविचयउ, परमसह्वाउ भणेपि ॥ ४७ ॥

ज्ञेयाभावे वक्षी यथा तिष्ठति ज्ञानं वलेपि ।

मुक्तानां यस्य पदे विवितं परमक्षभावं भणित्वा ॥ ४७ ॥

ज्ञेयाभावे विद्धि जिम थक्कड़ णाणु वलेपि ज्ञेयाभावे वक्षी यथा तथा ज्ञानं तिष्ठति
व्यावृत्त्येति । यथा मंडपाद्यभावे वक्षी व्यावृत्त्य तिष्ठति तथा ज्ञेयावलंबनाभावे ज्ञानं व्यावृत्त्य
तिष्ठति न च ज्ञातृत्वशक्त्यभावेत्यर्थः । कस्य मयंधि ज्ञानं । मुक्कहं मुक्तात्मनां ज्ञानं ।

नहीं है [बंधो नापि] और संसारके कारण जो प्रकृति स्थिति अनुभाग पदसंज्ञा
चारप्रकारका बंध भी नहीं है । जो बंध केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टयकी प्रगटनाका
मोक्षपदार्थसे जुड़ा है [तं परमात्मानं] उस परमात्माको [त्वं] तू [मनसि व्यवहारं
मुक्त्वा] मनमेंसे सब लौकिक व्यवहारको छोड़कर तथा वीतरागसमाधिमें ठहरकर
[जानीहि] जान अर्थात् चिंतवनकर । भावार्थ—शुद्धात्माकी अनुभूतिसे भिन्न जो
संसार और संसारका कारण बंध इनदोनोंसे रहित और आकुलतासे रहित लक्षणवाना
मोक्षका मूलकारण जो शुद्धात्मा है वही सर्वथा आराधने योग्य है ॥ ४६ ॥

आगे जिस परमात्माका ज्ञान सर्वव्यापक है ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो ज्ञानसे न
जाना जावे सब ही पदार्थ ज्ञानमें भासते हैं ऐसा कहते हैं;—[यथा] जैसे मंडपके
अभावसे [वक्षी] वेलि [तिष्ठति] थक जाती है अर्थात् जहांतक मंडप है वहांतक वो
चढ़ती रहे और आगे मंडपका सहारा न मिलनेसे चढ़नेसे ठहर जाती है उसीतर
[मुक्तानां] मुक्तजीवोंका [ज्ञानं] ज्ञान भी जहांतक ज्ञेय (पदार्थ) है वहांतक फैल
जाता है [ज्ञेयाभावे] और ज्ञेयका अवलंबन न मिलनेसे [वलेपि] जाननेकी शक्ति
होनेपर भी [तिष्ठति] ठहर जाता है अर्थात् कोई पदार्थ जाननेसे बाकी नहीं रहता

य कथंभूतं । जसु यस विविच्यत यस्य भगवतः पदे परमात्मस्वरूपे विविने प्रतिरुद्धिनिं
तदाकारेण परिणतं । कस्मान् । परममहाउ भणेवि परमस्यभाव इति भणित्वा मत्वा
शास्त्रैवेत्यर्थः । अत्र यस्येत्यंभूतं ज्ञानं सिद्धगुणस्वोपादेयस्याविनाशुतं न एव शुद्धात्मोपादेय
इति भावार्थः ॥ ४७ ॥

अथ यस्य कर्माणि यद्यपि गुणदुःखादिकं जनयन्ति तथापि स न जनितो न हन इत्य-
भिप्रायं मनसि श्रुत्वा सूत्रं कथयति;—

कम्मइ जारु जणंतहिंचि, णिउ णिउ कज्जु सयावि ।

किंपि ण जणिचउ हरिउ णवि, सो परमप्पउ भावि ॥ ४८ ॥

कर्मभिः यस्य जनयद्भिरपि निजनिजकार्यं तदापि ।

किमपि न जनितो हतः नैव सं परमात्मानं भावय ॥ ४८ ॥

कर्मभिर्यस्य जनयद्भिरपि । किं । निजनिजकार्यं यद्यपि तथापि किमपि न जनितो
हनश्च नैव सं परमात्मानं भावयत् । यद्यपि व्यवहारमयेन शुद्धात्मस्वरूपपरिबंधवर्जित
कर्माणि गुणदुःखादिकं निजनिजकार्यं जनयन्ति तथापि शुद्धनिश्चयमयेन अनंतज्ञानादित्यस्य
न हनं न विनाशिनं न व्याभिजयं जनितगुणादितं किमपि यस्यात्मनस्य परमात्मानं

सब द्रव्य क्षेत्र काल और सब भावोंको जान जानता है ऐसे तीनशोक शरीरमें अनेके
लोकालोक होवें सोभी एक समयमें ही जान लेवें [यस्य] जिस भगवान परमात्माके
[पदे] फेवलज्ञानमें [परमस्यभावे] अपना उत्कृष्टस्वभाव सबके जाननेरूप [विविनें]
प्रतिभासित होरहा है अर्थात् ज्ञान सबका अनर्थागी है सर्वाकारज्ञानही परिणति है
ऐसा [भणित्वा] जानकर ज्ञानका आशयन करो । भावार्थ—जहाँतक बंधन बंदीर
ही धेलिकी बहवारी और जब भंटकका अभाव हो सब धेलि धिर होके आगे नहीं पी.री
लेकिन धेलिमें बिस्तारदागिकका अभाव नहीं कहसकते इसीतरह सर्वव्यापक ज्ञान पै-
लीका है जिसके ज्ञानमें सब पदार्थ शलफते हैं वही ज्ञान आत्माका परम स्वभाव है ऐसा
जिसका ज्ञानहै वही शुद्धात्मा उपादेय है । यह ज्ञानानंशरूप आत्माराम है वही गद-
निघोके चितका दिव्याम (टहरनेकी जगह) है ॥ ४७ ॥

आगे जो शुभअशुभ कर्म हैं ये यद्यपि गुण दुःखादिको उपजाते हैं सोभी यह
आत्मा किसीमें राखत नहीं हुआ किसीने बनाया नहीं ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर
गायात्र कटते हैं;—

[कर्मभिः] ज्ञानावस्थादि कर्म [तदापि] हमेशा [निजनिजकार्य] अपने २
गुणःदुःखादि कार्यको [जनयद्भिरपि] प्रगट करते हैं सोभी शुद्धनिश्चयमय [यस्य]
जिस आत्माका [किमपि] दुखभी अर्थात् अनंतज्ञानादित्यस्य [न जनितः] न हो

वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावयेत्यर्थः । अत्र यदेव कर्मभिर्न हृतं न चोत्पादितं चिदानन्दैकस्वरूपं तदेवोपादेयमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४८ ॥

अथ यः कर्मनिवद्धोपि कर्मरूपो न भवति कर्मापि तद्रूपं न संभवति तं परमात्मानं भावयेति कथयति;—

कम्मणिबद्धुवि होइ णवि, जो फुट्टु कम्मु कयावि ।

कम्मुवि जो ण कयावि फुट्टु, सो परमप्पउ भावि ॥ ४९ ॥

कर्मनिवद्धोपि भवति नैव यः स्फुटं कर्म कदाचिदपि ।

कर्मापि यो न कदाचिदपि स्फुटं तं परमात्मानं भावय ॥ ४९ ॥

कम्मणिबद्धुवि होइ णवि जो फुट्टु कम्मु कयावि कर्मनिवद्धोपि भवति नैव यः स्फुटं निश्चितं । किं न भवति । कर्म कदाचिदपि । तथाहि—यः कर्ता शुद्धात्मोपलंभाभावे-
नोपाजितेन ज्ञानावरणादिशुभाशुभकर्मणा व्यवहारेण बद्धोपि शुद्धनिश्चयेन कर्मरूपो न भवति । केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूपं त्यक्त्वा कर्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । पुनश्च किंवि-

नया पैदा किया और [नैव हृतः] न विनाशकिया दूसरी तरहका किया [तं] उस [परमात्मानं] परमात्माको [भावय] तू चिंतनकर । भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयसे शुद्धात्मस्वरूपके रोकनेवाले ज्ञानावरणादिकर्म अपने २ कार्यको करते हैं अर्थात् ज्ञानावरण तो ज्ञानको ढकता है, दर्शनावरणकर्म दर्शनको आच्छादन करता है, वेदनीय साक्षात् असाक्षात् उत्पन्न करके अर्थाद्रियसुखको घातता है मोहनीय सम्बन्ध तथा चारित्रिकको रोकता है, आयुर्कर्म स्थितिके प्रमाण शरीरमें राखता है अविनाशीभावको प्रगट नहीं होने देता, नामकर्म नानाप्रकार गति जाति शरीरादिकको उपजाता है, गोत्रकर्म ऊंच नीच गोत्रमें ढालदेता है और अंतरायकर्म अनंतवीर्य (बल)को प्रगट नहीं होने देता । इसप्रकार कार्यको करते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर आत्माका अनंतज्ञानादिस्वरूप इन कर्मोंने न तो नाशकिया और न नया उत्पन्न किया आत्मा तो जैसा है वैसाही है । ऐसे अखंड परमात्माका तू वीतरागनिर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर ध्यानकर । यहांपर यह तात्पर्य है कि जो जीव-पदार्थ कर्मोंसे न दूरागया न उपजा किसी दूसरी तरह नहीं किया गया वही चिदानंद स्वरूप उपादेय है ॥ ४८ ॥

इसके बाद जो आत्मा कर्मोंसे अनादिकालका बंधा हुआ है तौभी कर्मरूप नहीं होता और कर्मभी आत्मस्वरूप नहीं होते आत्मा चैतन्य है कर्म अज्ञ हैं ऐसा जानकर उस परमात्माका तू ध्यानकर ऐसा कहते हैं;—[यः] जो चिदानंद आत्मा [कर्मनिवद्धोपि] ज्ञानावरणादिकर्मोंमें बंधा हुआ होनेपर भी [कदाचिदपि] कभीभी [कर्म नैव स्फुटं] कर्मरूप नहीं निश्चयमें [भवति] होना [कर्म अपि] और कर्म भी [यः] जिस

निष्ठः । कम्मुचि जो ण कयाचि फुट्टु कर्मापि यो न कदाचिदपि स्फुटं निष्ठितं
तथा—ज्ञानावरणादिद्रव्यभावरूपं कर्मापि कर्तृभूतं यः परमात्मा न भवति स्वकीयकर्म
पुद्गलस्वरूपं विहाय परमात्मरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । सो परमण्ड भावि तमेवं लक्षण
परमात्मानं भावय । देहरागादिपरिणतिरूपं बहिरात्मानं मुक्त्वा शुद्धात्मपरिणतिभावनारूपं
तरात्मनि स्थित्वा सर्वप्रकारोपादेयभूतं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मानं भावयेति भावार्थः
॥ ४९ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये यथा निर्मलो ज्ञानमये
व्यक्तिरूपः शुद्धात्मा सिद्धौ तिष्ठति तथाभूतः शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण देहेषु तिष्ठतीति
व्याख्यानमुत्पत्येन पतुविशति सूत्राणि गतानि ।

अत ऊर्ध्वं स्वदेहप्रमाणव्याख्यानमुत्पत्येन पदसूत्राणि कथयन्ति;—तथा ।

किं भणन्ति जिउ सच्यगउ, जिउ जट्ट केवि भणन्ति ।

किं भणन्ति जिउ देहसमु, सुण्णुवि केवि भणन्ति ॥ ५० ॥

केवि भणन्ति जीवं सर्वगतं जीवं जडं केवि भणन्ति ।

केवि भणन्ति जीवं देहसमं शून्यमपि केवि भणन्ति ॥ ५० ॥

केवि भणन्ति जीवं सर्वगतं जीवं केवि जडं भणन्ति केवि भणन्ति जीवं देहसमं शून्यमपि

परमात्मस्वरूप [कदाचिदपि स्फुटं] कभी भी निश्चयकर [न] नहीं होते [तं]
उस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले [परमात्मानं] परमात्माको तू [भावय] चिंतवन्कर ॥
भावार्थ—जो आत्मा अपने शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके अभावसे उत्पन्न किये ज्ञानावरणादि
शुभ अशुभकर्मोंसे व्यवहार नयकर बंधा हुआ है तौभी शुद्धनिश्चयनयसे कर्मरूप नहीं है
अर्थात् फेबलज्ञानादि अर्न्तगुणरूप अपने स्वरूपको छोड़कर कर्मरूप नहीं परिणमता और
ये ज्ञानावरणादि द्रव्यभावरूप कर्मभी आत्मस्वरूप नहीं परिणमते अर्थात् अपने जड़रूप
पुद्गलपनेको छोड़कर चैतन्यरूप नहीं होते यह निश्चय है । जीव तो अजीव नहीं होता
और अजीव है यह जीव नहीं होता ऐसी अनादि कालकी मर्यादा है । इसलिये कर्मोंसे
भिन्न ज्ञानदर्शनमयी सबतरह उपादेयरूप (आराधने योग्य) परमात्माको तुम देहरागादि
परिणतिरूप बहिरात्मपनेको छोड़कर शुद्धात्मपरिणतिकी भावनारूप अंतरात्मामें स्थिर
होकर चिंतवन् करो उसीका अनुभव करो ऐसा तात्पर्य हुआ ॥ ४९ ॥

ऐसे तीनप्रकार आत्माके कहनेवाले पहले महाधिकारमें पांचवें स्थलमें जैसा निर्मल
ज्ञानमई प्रगटरूप शुद्धात्मा सिद्धलोकमें विराजमान है वैसा ही शुद्धनिश्चयनयकर
शक्तिरूपसे देहमें तिष्ठ रहा है ऐसे कर्मनकी मुख्यतासे चौबीस दोहाग्रंथ पीतगये ।
इससे आगे छह दोहाग्रंथोंमें आत्मा व्यवहार नयकर अपनी देहके प्रमाण है यह कहते
हैं—[केवि] कोई नैयायिक वेदांती भीमांसक मतवाले [जीवं] जीवको [सर्वगतं]

केपि वदन्ति । तथाहि—केचन सांख्यनैयायिकमीमांसकाः सर्वगतं जीवं वदन्ति । सांख्याः पुनर्जडमपि कथयन्ति । जैनाः पुनर्देहप्रमाणं वदन्ति । बौद्धाश्च शून्यं वदन्तीति । एवं प्रश्नचतुष्टयं कृतमिति भावार्थः ॥ ५० ॥

अथ वक्ष्यमाणनयविभागेन प्रश्नचतुष्टयस्याप्यभ्युपगमं स्वीकारं करोति;—

अप्पा जोह्य सब्बगउ, अप्पा जडुवि वियाणि ।

अप्पा देहपमाणु मुणि, अप्पा सुण्णु वियाणि ॥ ५१ ॥

आत्मा योगिन् सर्वगतः आत्मा जडोपि विजानीहि ।

आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व आत्मानं शून्यं विजानीहि ॥ ५१ ॥

आत्मा हे योगिन् सर्वगतोपि भवति, आत्मानं जडमपि विजानीहि, आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व, आत्मानं शून्यमपि जानीहि । तद्यथा । हे प्रभाकरभट्ट वक्ष्यमाणविबक्षितनयविभागेन परमात्मा सर्वगतो भवति, जडोपि भवति, देहप्रमाणोपि भवति शून्योपि भवति नापि दोष इति भावार्थः ॥ ५१ ॥

अथ कर्मरहितात्मा केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति तेन कारणेन सर्वगतो भवतीति प्रतिपादयति;—

अप्पा कम्मवियज्जियउ, केवलणानं जेण ।

लोपालोउवि मुणइ जिय, सब्बगु युचइ तेण ॥ ५२ ॥

आत्मा कर्मविवर्जितः केवलज्ञानेन येन ।

लोकालोकमपि मनुते जीव सर्वगतः उच्यते तेन ॥ ५२ ॥

सर्वव्यापक [मणन्ति] कहते हैं [केपि] कोई सांख्यमतवाले [जीवं] जीवको [जडं] जड [मणन्ति] कहते हैं [केपि] कोई बौद्धमतवाले जीवको [शून्यं अपि] शून्य भी [मणन्ति] कहते हैं [केपि] कोई जिनधर्मी [जीवं] जीवको [देहप्रमाणं] देहप्रमाण नयकर देहप्रमाण [मणन्ति] कहते हैं और निश्चय नयकर लोकप्रमाण है । यह आत्मा कैसा है और कैसा नहीं है ऐसे चार प्रश्न शिष्यने किये ऐसा तात्पर्य है ॥ ५० ॥

आगे नयविभागकर आत्मा सबरूप है एकान्तवादकर अव्यवादी मानते हैं सो ठीक नहीं है इस प्रकार चारों प्रश्नोंको स्वीकार करके समाधान करते हैं;—[हे योगिन्] हे प्रभाकर भट्ट ! [आत्मा सर्वगतः] आगे कहेजानेवाले नयके भेदसे आत्मा सर्वगत भी है [आत्मा] आत्मा [जडोपि] जड भी है ऐसा [विजानीहि] जानो [आत्मानं देहप्रमाणं] आत्मा भी देहके प्रमाण भी [मन्यस्व] मानो [आत्मानं शून्यं] आत्मा भी [विजानीहि] जानो । नयविभागसे माननेमें कोई दोष नहीं है ऐसा तात्पर्य है ॥ ५१ ॥

आत्मा कर्मविबर्जितः सन् केवलज्ञानेन करणभूतेन येन कारणेन लोकालोकं मनुते जानाति हे जीव सर्वगत उच्यते तेन कारणेन । तथाहि—अयमात्मा व्यवहारेण केवलज्ञानेन लोकालोकं जानाति, देहमध्ये स्थितोपि निश्चयनयेन स्वात्मानं जानाति तेन कारणेन व्यवहारनयेन ज्ञानापेक्षया रूपविषये दृष्टिवत्सर्वगतो भवति नच प्रदेशापेक्षयेति । कभिदाह । यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्वं न च निश्चयनयेनेति । परिहारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावान् । यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यतन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुरदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो मुग्धी दुःखी रागी द्वेषी च स्वादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति । अत्र येनैव ज्ञानेन व्यापको भण्यते तद्वैषोपादेयस्यानंतसुरस्यभिन्नत्वादुपादेयमित्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

आगे कर्मरहित आत्मा केवलज्ञानसे लोक और अलोक दोनोंको जानता है इसलिये सर्वव्यापक भी होसकता है ऐसा कहते हैं;—[आत्मा] यह आत्मा [कर्मविबर्जितः] कर्मरहित हुआ [केवलज्ञानेन] केवलज्ञानसे [येन] जिसकारण [लोकालोकमपि] लोक और अलोकको [मनुते] जानता है [तेन] इसीलिये [हे जीव] हे जीव [सर्वगतः] सर्वगत [उच्यते] कहाजाता है । भावार्थ—यह आत्मा व्यवहारनयसे केवलज्ञानकर लोकअलोकको जानता है और शरीरमें रहनेपर भी निश्चयनयसे अपने स्वरूपको जानता है इसकारण ज्ञानकी अपेक्षा तो व्यवहारसे सर्वगत है, प्रदेशोंकी अपेक्षा नहीं है । जैसे रूपवाले पदार्थोंको नेत्र देखते हैं परंतु उन पदार्थोंसे तन्मय नहीं होते । यदा कोई प्रश्न करता है कि जो व्यवहारनयसे लोकालोकको जानता है और निश्चयनयसे नहीं, सो व्यवहारसे सर्वज्ञपना हुआ निश्चयनयकर न हुआ ? उसका समाधान कहते हैं—जैसे अपने आत्माको तन्मयी होकर जानता है उसतरह परद्रव्यको तन्मयीपनेसे नहीं जानता भिन्नस्वरूप जानता है इसकारण व्यवहारनयसे कहा, कुछ ज्ञानके अभावसे नहीं कहा । ज्ञानकर जानपना तो निजपरका समान है । जैसे अपनेको संदेहरहित जानता है वैसा ही परको जानता है इसमें संदेह नहीं समझना, लेकिन निजस्वरूपसे तो तन्मयी है और परसे तन्मयी नहीं । और जिसतरह निजको तन्मयी होकर निश्चयसे जानता है उसीतरह यदि परको भी तन्मय होकर जानें तो परके सुखदुःख रागद्वेषोंके ज्ञान होनेपर सुखी दुःखी रागी द्वेषी होवे यह बड़ा दूषण है । सो इस प्रकार कभी नहीं होसकता । यदा जिस ज्ञानसे सर्वव्यापक कहा वही ज्ञान उपादेय अतीन्द्रियसुखसे अभिन्न है सुखरूप है ज्ञान और आनंदमें भेद नहीं है वही ज्ञान उपादेय है यह अभिप्राय जानना । हम दोहामें जीवको ज्ञानकी अपेक्षा सर्वगत कहा है ॥ ५२ ॥

कारणविरहितः शुद्धजीवो वर्धते क्षरति हीयते न येन कारणेन परमशरीरप्रमाणं मुक्तजीवं जिनवरा भणन्ति तेन कारणेनेति । तथाहि । यद्यपि संसारावस्थायां हानिवृद्धि-कारणभूतशरीरनामकर्मसहितत्वाद्धीयते वर्धते च तथापि मुक्तावस्थायां हानिवृद्धिकारणा-भावाद्धर्धते हीयते च नैव, शरीरप्रमाण एव तिष्ठतीत्यर्थः । कश्चिदाह—मुक्तावस्थायां प्रदीपवदावरणाभावे सति लोकप्रमाणविस्तारेण भाव्यमिति । तत्र परिहारमाह—प्रदीपस्य योसौ प्रकाशविस्तारः स स्वभावज एव नत्वपरजनितः पञ्चाङ्गाजनादिना साध्यावरणेन प्रच्छादितत्वेन कारणेन सम्भाव्यवस्थाभावेऽपि प्रकाशविस्तारो घटते एव । जीवस्य पुनरनादि-कर्मप्रच्छादितत्वात्पूर्वं स्वभावेन विस्तारो नास्ति । किंरूपसंहारविस्तारौ । शरीरनामकर्मज-नितौ । तेन कारणेन शुक्लसृष्टिकाभाजनवत् कारणाभावादुपसंहारविस्तारौ न भवतश्चरमशरीरप्रमाणेन तिष्ठतीति । अत्र य एव मुक्तौ शुद्धशुद्धस्वभावः परमात्मा तिष्ठति तत्सदृशो रागादिरहितकाले स्वशुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ५४ ॥

प्रमाण भी कहा जाता है ऐसा कहते हैं;—[येन] जिस देव [कारणविरहितः] हानिवृद्धिका कारण शरीर नामकर्मसे रहित हुआ [शुद्धजीवः] शुद्धजीव [न वर्धते क्षरति] न तो बढ़ता है और न घटता है [तेन] इसी कारण [जिनवराः] जिनेन्द्रदेव [जीवं] जीवको [चरमशरीरप्रमाणं] चरमशरीर प्रमाण [वर्धते] कहते हैं । भावार्थ—यद्यपि संसार अवस्थामें हानिवृद्धिका कारण शरीर नामा नामकर्म है उसके संबंधसे जीव घटता है और बढ़ता है जब महामात्रका शरीर पाता है तब तो शरीरकी वृद्धि होती है और जब निगोद शरीर धारता है तब घट जाता है । और मुक्त अवस्थामें हानि वृद्धिका कारण जो नामकर्म उसका अभाव होनेसे जीवके प्रदेश न तो सिकुड़ते हैं न फैलते हैं किंतु चरमशरीरसे कुछ कम पुरुषाकार ही रहते हैं इसलिये शरीर प्रमाण है यह निश्चयहुआ । यहां कोई प्रश्न करे कि जबतक दीपकके आवरण है तबतक तो प्रकाश नहीं होसकता है और जब उसके रोकनेवालेका अभाव हुआ तब प्रकाश विस्तार जाता (फैलजाता) है उसीप्रकार मुक्ति अवस्थामें आवरणके अभाव होनेसे आत्माके प्रदेश लोक प्रमाण फैलने चाहिये शरीर प्रमाण ही क्यों रहगये ! उसका समाधान यह है कि दीपकके प्रकाशका जो विस्तार है वह स्वभावसे होता है परसे नहीं उत्पन्न हुआ पीछे भाजन वगैरःसे अथवा दूसरे आवरणसे आच्छादन किया गया वह प्रकाश सकोचको प्राप्त होजाता है और जब आवरणका अभाव होता है तब प्रकाश विस्ताररूप हो जाता है इसमें संदेह नहीं और जीवका प्रकाश अनादिकालसे कर्मोकर ढंका हुआ है पहले कभी विस्ताररूप नहीं हुआ । शरीर प्रमाण ही संकोचरूप और विस्ताररूप हुआ इसलिये जीवके प्रदेशोंका प्रकाश सकोच विस्ताररूप शरीर नामकर्मसे उत्पन्न हुआ है इसकारण

अथाष्टकर्मोष्ठादशदोषरहितत्वापेक्षया शून्यो भवतीति न च केवलज्ञानादिगुणोपपत्त्या चेति दर्शयति;—

अष्टवि कम्मइं बहुविहइं, णवणव दोसवि जेण
सुद्धहं एक्खवि अत्थि णवि, सुण्णुवि बुद्धइ तेण ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन ।

शुद्धानां एकोपि अस्ति नैव शून्योपि भण्यते तेन ॥ ५५ ॥

अष्टावपि कर्माणि बहुविधानि नवनव दोषा अपि येन कारणेन शुद्धात्मनां तन्मये चैकोप्यस्ति नैव शून्योपि भण्यते तेन कारणेनैवेति । तथा । शुद्धनिश्चयनयेन ज्ञानावरणाद्यष्टद्रव्यकर्माणि श्रुधादिदोषकारणभूतानि श्रुधादृषादिरूपाष्टादशदोषा अपि कार्यभूताः अपि शब्दात्सत्ताचैतन्यबोधोपादिशुद्धप्राणरूपेण शुद्धजीविते सत्यपि दशप्राणरूपमशुद्धजीवितं च नास्ति तेन कारणेन संसारिणां निश्चयनयेन प्रक्षिरूपेण रागादिविभावशून्यं च भवति । सुक्तात्मनां तु व्यक्तिरूपेणापि न चात्मानंतज्ञानादिगुणशून्यत्वमेकांतेन बौद्धादिमतवदिति ।

सूखी मट्टीके बर्तनकी तरह कारणके अभावसे संकोच विस्ताररूप नहीं होता शरीर प्रमान ही रहता है अर्थात् जब तक मट्टीका वासन जलसे गीला रहता है तब तक जलके संबंधसे यह घट बढ जाता है और जब जलका अभाव हुआ तब वासन मूल जानेसे घटना घटता नहीं है जैसेका तैसा रहता है । उसी तरह इस जीवके जबतक नामकर्मका संबंध है तबतक संसार अवस्थामें शरीरकी हानि वृद्धि होती है उसकी हानि वृद्धिसे प्रदेश सिद्ध होते हैं और फैलते हैं । तथा सिद्ध अवस्थामें नामकर्मका अभाव होजाता है इसकारण शरीरके न होनेसे प्रदेशोंका संकोच विस्तार नहीं होता सदा एकसे ही रहते हैं । त्रिषु शरीरसे मुक्त हुआ उसी प्रमाण कुछ कम रहता है । दीपकका प्रकाश तो स्वभावकर उत्पन्न है आवरणसे आच्छादित होजाता है । जब आवरण दूर होजाता है तब प्रकाश सहज ही विस्तारता है । यहां तात्पर्य यह है कि जो शुद्ध बुद्ध (ज्ञान) स्वभाव परमात्मा मुक्तिमें तिष्ठ रहा है वैसा ही शरीरमें भी विराज रहा है । जब रागका अभाव होता है उस कालमें यह आत्मा परमात्माके समान है वही उपादेय है ॥ ५४ ॥

आगे आठ कर्म और अठारह दोषोंसे रहित हुआ विभावभावोंकर रहित होनेसे शून्य कहा जाता है लेकिन केवलज्ञानादि गुणकी अपेक्षा शून्य नहीं है सदा पूर्ण ही है ऐसा दिमलांत है;—[येन] जिमकारण [अष्टा अपि] आठों ही [बहुविधानि कर्माणि] अनेक भेदोंवाला कर्म [नवनवदोषा अपि] अठारह ही दोष इनमेंसे [एक अपि] एक भी [शुद्धानां] शुद्धात्माओंके [नैव अस्ति] नहीं है [तेन] इसलिये [शून्योपि] शून्यभी [भण्यते] कहा जाता है । भावार्थ—इस आत्माके शुद्धनिश्चयन-

तथाप्येवं पंचामिकाये । “जेमि जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ । ते होति मिण्णदेहा सिद्धा षत्तिगोयरमदीदा” । अत्र य एवमिध्यात्वरागादिभावेन शून्यभिदानंदै-
बन्धभावेन भरितावस्थः प्रतिपादितः परमात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ५५ ॥
एवं त्रिविधान्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन
लोकालोकव्यापको भणितः स एव परमात्मा निश्चयनयेनासंख्यातप्रदेशोपि स्वदेहमध्ये
निवृत्तीति ध्याय्यानमुख्यत्वेन सूत्रपूर्वं गतं ।

तदनंतरं द्रव्यगुणपर्यायनिरूपणमुख्यत्वेन सूत्रप्रथमं कथयति;—तथा ।

अप्पा जणियउ केण णत्थि, अप्पे जणियउ ण कोइ ।

द्रव्यसहायं णिच्च सुणि, पज्जउ विणसइ होइ ॥ ५६ ॥

आत्मा जनितः केन नापि आत्मना जनितं न किमपि ।

द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व पर्यायः विनश्यति भवति ॥ ५६ ॥

आत्मा न जनितः केनापि आत्मना कर्तृभूतेन जनितं न किमपि, द्रव्यस्वभावेन नित्य-

कर ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म नहीं हैं, क्षुपादि दोषोंके कारणभूत कर्मोंके जानेसे क्षुपा
रूपादि अठारह दोष कार्यरूप नहीं हैं, और अपि शब्दसे सत्ता चैतन्य ज्ञान आनंदादि
शुद्ध प्राण होनेपर भी इंद्रियादि दश अशुद्धरूप प्राण नहीं हैं इसलिये संसारी जीवोंके भी
शुद्ध निश्चयनयसे शक्तिरूपसे शुद्धपना है लेकिन रागादि विभावभावों की शून्यता ही
है । तथा सिद्धजीवोंके तो सब तरहसे प्रगटरूप रागादिसे रहितपना है इसलिये विभावोंसे
रहितपनेकी अपेक्षा शून्यभाव है इसी अपेक्षासे आत्माको शून्य भी कहते हैं । ज्ञानादिक
शुद्धभावकी अपेक्षा सदा पूर्ण ही है । और जिसतरह बौद्धमती सर्वथा शून्य मानते हैं
वैसा अनंतज्ञानादिगुणोंसे कभी नहीं होसकता । ऐसा कथन धीपंचास्तिकायमें भी किया
है—“जेमि जीवसहावो” इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि जिन सिद्धोंके जीवका
स्वभाव निश्चल है जिस स्वभावका सर्वथा अभाव नहीं है वे सिद्ध भगवान् देहसे रहित हैं
और वचनके विषयसे रहित हैं अर्थात् जिनका स्वभाव वचनोंसे नहीं कह सकते । यहाँ
मिध्यात्वरागादिभावकर शून्य तथा एक विदानंदस्वभावसे पूर्ण जो परमात्मा कहा गया
है अर्थात् विभावसे शून्य, स्वभावसे पूर्ण कहा गया है वही उपादेय है ऐसा तात्पर्य
हुआ ॥ ५५ ॥

ऐसे जिसमें तीन प्रकार आत्माका कथन है ऐसे पहले महाअधिकारमें जो ज्ञानकी
अपेक्षा व्यवहारनयसे लोकालोक व्यापक कहागया वही परमात्मा निश्चयनयसे असंख्यात-
प्रदेश है तौ भी अपनी देहके प्रमाण रहता है इस व्याख्यानकी मुख्यतामें छह दोहामूत्र
कहेगये ॥ आगे द्रव्यगुणपर्यायके कथनकी मुख्यतामें तीन दोहा कहते हैं,—[आत्मा]

मात्मानं मन्यस्य जानीहि । पर्यायो विनश्यति भवति चेति । तथाहि । ममाग्निर्जीवः शुद्धात्ममंत्रित्यभावेनोपार्जितेन कर्मणा यद्यपि व्यवहारेण जन्यते स्यात् च शुद्धात्ममंत्रित्युतः मन् कर्मणि जनयति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण कर्मकर्तृभूतेन नरनारकादिपर्यायेण न जन्यते स्यात् च कर्मनोक्तमार्गिकं न जनयतीति । आत्मा पुनर्न केवलं शुद्धनिश्चयनयेन व्यवहारेणापि न च जन्यते न च जनयति तेन कारणेन द्रव्यार्थिकनयेन नित्यो भवति, पर्यायार्थिकनयेनोत्पद्यते विनश्यति चेति । अत्राह शिष्यः । मुक्तात्मनः कथमुत्पादव्यव्याप्तिनि । परिहारमाह । आगमप्रसिद्धागुरुलघुगुणहानिदृष्टपेक्षया, अथवा येनोत्पादादिरूपेण ज्ञेयं वस्तु परिणमति तेन परिच्छिन्त्याकारेण ज्ञानपरिणतपेक्षया । अथवा मुक्तौ संसारपर्यायविनाशः सिद्धपर्यायोत्पादः शुद्धजीवद्रव्यं प्रोच्यते-क्षया च सिद्धान्तामुत्पादव्यव्याप्तिं ज्ञातव्याव्यति । अत्र तदेव सिद्धस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः ॥ ५६ ॥

अथ द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं प्रतिपादयति;—

यह आत्मा [केन अपि] किसीसे भी [न जनितः] उत्पन्न नहीं हुआ [आत्मना] और इस आत्माकर [किमपि] कोईद्रव्य [न जनितं] उत्पन्न नहीं हुआ [द्रव्यत्वमा-वेन] द्रव्यत्वमायकर [नित्यं मन्यस्य] नित्य जानो [पर्यायः विनश्यति भवति] पर्यायभावसे विनाशीक है । भावार्थ—यह संसारी जीव यद्यपि व्यवहार नयकर शुद्धात्म-ज्ञानके अभावसे उपार्जनक्रिये ज्ञानावरणादि शुभाशुभकर्मोंके निमित्तसे नरनारकादि पर्यायोंसे उत्पन्न होता है और विनशुता है और आप भी शुद्धात्मज्ञानसे रहित हुआ कर्मोंको उपजाता (भाँपता) है तो भी शुद्धनिश्चयनयकर शक्तिरूप शुद्ध ही है कर्मोंकर उत्पन्न हुई नरनारकादिपर्यायरूप नहीं होता और आपमी कर्म नोक्तमार्गिकों नहीं उप-जाता और व्यवहारसे भी न जन्मता है न किसीसे विनाशको प्राप्त होता है न किसीको उपजाता है कारण कार्यसे रहित है, अर्थात् कारण उपजानेवालेको कहते हैं कार्य उपजनेवालेको कहते हैं सो ये दोनों माय वस्तुमें नहीं हैं इससे द्रव्यार्थिकनयकर जीव नित्य है और पर्यायार्थिकनयकर उत्पन्न होना है तथा विनाशको प्राप्त होता है । यहां पर शिष्य प्रश्नकरता है कि संसारी जीवोंके तो नरनारकी आदि पर्यायोंकी अपेक्षा उत्पत्ति और मरण प्रत्यक्ष दीप्तता है परंतु सिद्धोंके उत्पाद व्यय किम तरह होसकता है क्योंकि उनके विभाव पर्याय नहीं है समावपपर्याय ही है और वे सदा असंख्य अविनश्वर ही हैं । उमका समाधान यह है कि जैसा उत्पन्न होना मरना चारों गनियोंमें संसारी जीवोंके है वैसा तो उनमिद्धोंके नहीं है वे अविनाशी हैं परंतु शास्त्रोंमें प्रसिद्ध अगुरु-लघुगुणकी परिणतिरूप अर्धपर्याय है वह समय समयमें आविर्भाव तिरोभावरूप होती है

तं परिपाणहि द्रव्यं तुहं, जं गुणपञ्चयजुत्तु ।

सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पञ्जउ घुत्तु ॥ ५७ ॥

तम् परिजानीहि द्रव्यं त्वं, यत् गुणपर्याययुक्तं ।

सहभुवः जानीहि तेषां गुणाः क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः ॥ ५७ ॥

तं परिपाणहि द्रव्यं तुहं जं गुणपञ्चयजुत्तु तत्परि ममेताजानीहि द्रव्यं त्वं । तत्किं । सहभुव जाणहि ताहं गुण कमभुव पञ्जउ घुत्तु सहभुवो जानीहि तेषां द्रव्याणां गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः उक्ता भणिता इति । तथा । गुणपर्यायवद्द्रव्यं ज्ञानव्यं इदानीं तस्य सहभुवस्य गुणपर्यायाः कथ्यन्ते । सहभुवो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः, इदमेकं तावत्प्रामाण्यलक्षणं । अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्यायाः, इति द्वितीयं च । यथा जीवस्य ज्ञानादयः पुद्गलस्य वर्णादयश्चेति । ते च प्रत्येकं

अर्थात् समय २ में पूर्वपरिणतिका व्यय होता है और आगेकी पर्यायका आविर्भाव (उत्पाद) होता है । इस अर्धपर्यायकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अन्य संसारी जीवोंकी तरह नहीं है । सिद्धोंके एक तो अर्धपर्यायकी अपेक्षा उत्पादव्यय कहा है । अर्धपर्यायमें षट्गुणी हानि और वृद्धि होती है । अनंतभागवृद्धि १ असंख्यातभागवृद्धि २ संख्यातभागवृद्धि ३ संख्यातगुणवृद्धि ४ असंख्यातगुणवृद्धि ५ अनंतगुणवृद्धि ६ । अनंतभागहानि १ असंख्यातभागहानि २ संख्यातभागहानि ३ संख्यातगुणहानि ४ असंख्यातगुणहानि ५ अनंतगुणहानि ६ । ये षट्गुणी हानि वृद्धिके नाम कहे हैं । इनका स्वरूप तो केवलीके गम्य है सो इस षट्गुणी हानिवृद्धिकी अपेक्षा सिद्धोंके उत्पादव्यय कहा जाता है । अथवा समस्त ज्ञेय पदार्थ उत्पाद व्यय और्व्यरूप परिणमते हैं सो सब पदार्थ सिद्धोंके ज्ञानगोचर हैं । ज्ञेयाकार ज्ञानकी परिणति है सो जब ज्ञेयपदार्थमें उत्पादव्यय हुआ तब ज्ञानमें सब प्रतिभासित हुआ इसलिये ज्ञानकी परिणतिकी अपेक्षा उत्पाद व्यय जानना । अथवा जब मिट्टा हुए तब सत्तार पर्यायका विनाश हुआ सिद्ध पर्यायका उत्पाद हुआ तथा द्रव्यस्वभावसे सदा भुव ही हैं । सिद्धोंके जन्म जरा मरण नहीं हैं सदा अविनाशी हैं । जो सिद्धका स्वरूप सब उपाधियोंसे रहित है वही उपादेय है यह भावार्थ जानना ॥ ५६ ॥

आगे द्रव्यगुणपर्यायका स्वरूप कहते हैं—[यत्] जो [गुणपर्याययुक्तं] गुण और पर्यायोंकर सहित है [तत्] उसको [त्वं] हे प्रभाकर भट्ट तू [द्रव्यं] द्रव्य [परिजानीहि] जान [सहभुवः] जो सदाकाल पाये जायें नित्यरूप हों वे तो [तेषां गुणाः] उनद्रव्योंके गुण हैं [क्रमभुवः] और जो द्रव्यकी अनेकरूप परिणति क्रमसे हो अर्थात् अनित्यपनेरूप समय समय उपजै विनशै नानास्वरूप हो वो [पर्यायाः]

द्विविधाः स्वभावविभावभेदेनेति । तथाहि । जीवस्य तावत्कथ्यन्ते । मिद्वन्त्यादयः स्वभाव-
पर्यायाः केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा असाधारणा इति । अगुरुलघुकाः स्वभावगुणान्नेषामेव
गुणानां पट्टानिवृद्धिरूपस्वभावपर्यायाश्च सर्वद्रव्यसाधारणाः । तस्यैव जीवस्य मतिज्ञानादि-
विभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायाश्च इति । इदानीं पुद्गलस्य कथ्यन्ते । केवलपरमाणु-
रूपेणावस्थानं स्वभावपर्यायः वर्णानरादिरूपेण परिणमनं वा । तस्मिन्नेव परमाणौ वर्णादयः
स्वभावगुणा इति, द्व्यणुकादिरूपस्कंधरूपविभावपर्यायान्नेष्वेव द्व्यणुकादिस्कंधेषु वर्णादयो
विभावगुणा इति भावार्थः । धर्माधर्माकाशकालानां स्वभावगुणपर्यायान्ने च यथावसरं
कथ्यन्ते । विभावपर्यायास्त्पचारेण यथा घटाकाशमित्यादि । अत्र शुद्धगुणपर्यायसहितः
शुद्धजीव एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ५७ ॥

पर्याय [उक्ताः] कही जाती हैं । भावार्थ—जो द्रव्य होता है वह गुणपर्यायकर सहित
होता है । यही कथन तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है “गुणपर्यायवद्द्रव्यं” अब गुणपर्यायका स्वरूप
कहते हैं—“सहसुबो गुणाः क्रमसुबः पर्यायाः” यह नयचक्र ग्रंथका वचन है अथवा
“अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायाः” इसका अर्थ ऐसे है कि गुण तो सदा
द्रव्यसे सहभावी हैं द्रव्यमें हमेशाह एकरूप नित्यरूप पाये जाते हैं और पर्याय नानारूप
होती हैं जो परिणति पहले समयमें थी वह दूसरे समयमें नहीं होती, समय २ में उत्पाद
व्ययरूप होता है इसलिये पर्याय क्रमवर्ती कहा जाता है । अब इसका विस्तार कहते
हैं—जीवद्रव्यके ज्ञान आदि अर्थात् ज्ञान दर्शन सुख धीर्य आदि अनंतगुण हैं और
पुद्गलद्रव्यके स्पर्श रस गंध वर्ण इत्यादि अनंतगुण हैं सो ये गुण तो द्रव्यमें सहभावी हैं
अन्वयी हैं सदा नित्य हैं कभी द्रव्यसे तन्मयपना नहीं छोड़ते । तथा पर्यायके दो भेद
हैं—एक तो स्वभाव दूसरी विभाव । सो जीवके सिद्धत्वादि स्वभाव पर्याय हैं और
केवलज्ञानादि स्वभाव गुण हैं । ये तो जीवमें ही पाये जाते हैं अन्य द्रव्यमें नहीं पाये
जाते तथा अलित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व अगुरुलघुत्व ये स्वभावगुण सब द्रव्योंमें पाये
जाते हैं । अगुरुलघुगुणका परिणमन पट्गुणी हानिवृद्धिरूप है । यह स्वभाव पर्याय सभी
द्रव्योंमें हैं कोई द्रव्य पट्गुणी हानि वृद्धि विना नहीं है यही अर्थपर्याय कही जाती है
यह शुद्धपर्याय है । यह शुद्धपर्याय संसारी जीवोंके सब अजीव पदार्थोंके तथा सिद्धोंके
पायी जाती है । और सिद्धपर्याय तथा केवलज्ञानादिगुण सिद्धोंके ही पायाजाता है
दूसरोंके नहीं । संसारी जीवोंके मतिज्ञानादि विभावगुण और नर नारकी आदि विभाव
पर्याय—ये संसारी जीवोंके पायी जाती हैं । ये तो जीवद्रव्यके गुणपर्याय कहे और पुद्गलके
परमाणुरूप तो द्रव्य तथा वर्ण आदि स्वभावगुण और एक वर्णसे दूसरे वर्णरूप होना ये
विभावगुण व्यंजन पर्याय तथा एक परमाणुमें दो तीन इत्यादि अनेक परमाणू मिलकर
स्कंधरूप होना ये विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय हैं । द्व्यणुकादि स्कंधमें जो वर्ण आदि हैं ये

अथ जीवस्य विशेषेण द्रव्यगुणपर्यायान् कथयति,—

अप्पा बुद्धाहि दब्बु तुह्, गुण पुणु दंसणु णाणु ।

पञ्चय चउगइ भाव तणु, कम्मविणिम्मिय जाणु ॥ ५८ ॥

आत्मानं बुध्यस्व द्रव्यं त्वं गुणो पुनः दर्शनं ज्ञानं ।

पर्यायान् चतुर्गतिभावान् तनुं कर्मविनिर्मितान् जानीहि ॥ ५८ ॥

अप्पा बुद्धाहि दब्बु तुह् आत्मानं द्रव्यं बुध्यस्व जानीहि त्वं गुण पुणु दंसणु णाणु गुणो पुनर्दर्शनं ज्ञानं च पञ्चय चउगइ भाव तणु कम्मविणिम्मिय जाणु तस्यैव जीवस्य पर्यायभावचतुर्गतिभावान् परिणामान् तनुं शरीरं च । कथंभूतान् तान् । कर्मविनिर्मितान् जानीहीति । इतो विशेषः । शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकम्यभावमानमानं द्रव्यं जानीहि । तस्यैवात्मनः स्वविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनं गुण इति । तत्र ज्ञानमष्टविधं वैशाल्यज्ञानं सकलमरारंष्टं शुद्धमिति शेषं तत्रकं रंष्ट्रज्ञानमशुद्धमिति । तत्र तत्रवगम्ये मन्थारिचतुष्टयं

विभावगुण कहे जाते हैं और वर्णसे वर्णीतर होना, रससे रसांतर होना, गंधमें अग्यगंध होना वद विभावपर्याय हैं । परमाणु शुद्धद्रव्यमें एक वर्ण एक रस एक गंध और क्षीतउष्णमेंसे एक तथा कुरुरे विकनेमेंसे एक ऐसे दो स्पर्श—इस तरह पाँच गुण से मुख्य हैं इनको आदिदे अस्तित्यादि अनेकगुण हैं ये स्वभावगुण कहे जाते हैं और परमाणुका जो आकार वद स्वभावद्रव्यव्यंजन पर्याय है तथा वर्णादिगुणरूप परिणमन वद स्वभावगुणव्यंजनपर्याय है । जीव और पुद्गल इन दोनोंमें से स्वभाव और विभाव दोनों हैं तथा धर्म अधर्म आकाश काल इन चारोंमें अस्तित्यादिस्वभावगुण ही हैं और अर्धपर्याय बहुगुणी हानिबुद्धिरूप स्वभावपर्याय सभीके हैं । धर्मादिक चार पर्यायों में विभावगुणपर्याय नहीं हैं । आकाशके पटाकाश गटाकाश इत्यादि बहावन हैं वर उपवन मात्र हैं । ये पर द्रव्योंके गुणपर्याय कहे गये हैं । इन पर द्रव्योंमें जो शुद्धगुण शुद्ध पर्याय सहित शुद्ध जीवद्रव्य है वही उपादेय है आराधने योग्य है ॥ ५७ ॥

आगे जीवके विशेषणकेर द्रव्यगुणपर्याय कहने हैं;—हे शिष्य [त्वे] तू [आत्मानं] आत्माको तो [द्रव्यं] द्रव्य [बुध्यस्व] जान [पुनः] और [दर्शनं] ज्ञान [गुणो] गुण जानो [चतुर्गतिभावान् तनुं] चार गतिगति भाव तथा शरीरको [कर्मविनिर्मितान्] कर्मजनित [पर्यायान्] विभाव पर्याय [जानीहि] गमय । भावार्थ—इसका विशेष व्याख्यान करने दे । शुद्ध बुद्ध अगद स्वभाव अगताको तू द्रव्य जान जेनमपनेके सम्मान्यत्वात् वर दर्शन ज्ञान और विशेषतासे जानपन उपाके ज्ञान सम्मान्य व दर्शन ज्ञान जेनमपनेके सम्मान्यत्वात् ज्ञानके आठ भेद हैं, उनमें चारों ज्ञान पर्याय हैं अस्तिदेहे शुद्ध ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

सम्यग्ज्ञानं कुमत्यादित्रयं मिथ्याज्ञानं इति । दर्शनचतुष्टयमध्ये केवलदर्शनं सकलममंडं शुद्धमिति चक्षुरादित्रयं विकलमशुद्धमिति । किं च । गुणास्त्रिविधा भवन्ति । केचन साधारणाः केचनासाधारणाः केचन साधारणासाधारणा इति । जीवस्य तावदुच्यते । अमित्वं वस्तुनं प्रमेयत्वागुरुलघुत्वादयः साधारणाः, ज्ञानमुत्पादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः । अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिकं प्रति साधारणं । प्रदेशत्वं पुनः कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेषद्रव्यं प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानं । एवं शेषद्रव्याणामपि यथाममवं ज्ञानव्यमिति भावार्थः ॥ ५८ ॥

अथानंतसुखसोपादेयभूतस्याभिज्ञत्वान् शुद्धगुणपर्याय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते । तत्राष्टकमध्ये प्रथमचतुष्टयं कर्मशक्तिस्वरूपमुख्यत्वेन द्वितीयचतुष्टयं कर्मफलमुख्यत्वेनेति । तद्यथा ।

जीवकर्मणोरनादिसंबन्धं कथयति;—

जीवहं कम्मु अणाइ जिय, जणियड कम्मु ण तेण ।
 कम्मं जीडवि जणियड णवि, दोहिंवि आइ ण जेण ॥ ५९ ॥
 जीवानां कर्माणि अनादीनि जीव जनितं कर्म न तेन ।
 कर्मणा जीवोपि जनितः नैव द्वयोरपि आदिः न येन ॥ ५९ ॥

अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान—ये चार ज्ञान तो सम्यक् ज्ञान और कुमति कुश्रुण कुजवधि ये तीन मिथ्याज्ञान, ये केवलकी अपेक्षा सातो ही संडित हैं अखंड नहीं हैं और सर्वपा शुद्ध नहीं हैं अशुद्धताकर सहित हैं इसलिये परमात्मामें एक केवलज्ञान ही है । पुद्गलमें अमूर्तगुण नहीं पाये जाते इस कारण पांचोंकी अपेक्षा साधारण, पुद्गलकी अपेक्षा असाधारण । प्रदेशगुण कालके विना पांचद्रव्योंमें पाया जाता है इसलिये पांचकी अपेक्षा वह प्रदेशगुण साधारण है और कालमें न पानेसे कालकी अपेक्षा असाधारण है । पुद्गलद्रव्यमें मूर्तीरूपगुण असाधारण है इसीमें पाया जाता है अन्यमें नहीं और अद्वित्यादि गुण इसमें भी पाये जाते हैं तथा अन्यमें भी इसलिये साधारण गुण हैं । चेतनपना पुद्गलमें समेधा नहीं पाया जाता अमूर्तीरूपना भी नहीं पाया जाता । पुद्गलपरमाणुको द्रव्य कहते हैं, रसगंध रस गंध वर्णस्वरूप जो मूर्ति वह इस पुद्गलका विशेषगुण है । अन्य सब द्रव्योंमें जो उनका स्वरूप वह द्रव्य और अमृत्त्वादि गुण तथा स्वभावपरिणति पर्याय है । जीव और पुद्गलके विना अन्य चार द्रव्योंमें विभाव गुण और विभाव पर्याय नहीं हैं तथा जीव पुद्गलमें स्वभाव विभाव दोनों हैं । उनमेंमें सत्त्वोंमें तो स्वभाव ही है और समीरमें विभावही मुख्यता है । पुद्गल परमाणुमें स्वभाव ही है और स्वरूप विभाव ही है । इस तरह छह द्रव्योंका संक्षेप व्याख्यान जानना ॥ ५८ ॥

जीवहं कम्मु अणाह जिय जणियउ कम्मु ण तेण जीवानां कर्मणामनादिसंबंधे भवति हे जीव जनितं कर्म न तेन जीवेन कर्मि जीउवि जणियउ णपि दोहिंवि आइ ण जेण कर्मणा कर्तृभूतेन जीवोपि जनितो न द्वयोरप्यादिर्न येन कारणेनेति । इतो विशेषः । जीवकर्मणामनादिमंबंधः पर्यायसंतानेन धीजवृक्षवृक्षवहारनये संबंधः कर्मतावत्तिष्ठति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनेन स्वभावेन जीवेन न तु जनितं तथाविध-जीवोपि स्वशुद्धात्मसंविष्यभावोपाजितेन कर्मणा नरनारकादिरूपेण न जनितः कर्मात्मेति च द्वयोरनादित्वादिति । अत्रानादिजीवकर्मणोस्संबंधव्याख्यानेन सदा मुक्तः सदा शिवः कोप्यन्तीति निराकृतमिति भाषार्थः ॥ तथा चोक्तं । “मुक्तश्चेत्प्राग्भवे बद्धो नो बद्धो मोचनं वृथा । अयद्धो मोचनं नैव मुंचेरथो निरर्थकः ॥” अनादितो हि मुक्तश्चेत्प्राग्बंधः कथं भवेत् । बंधनं मोचनं नोपेन्मुंचेरथो निरर्थकः ॥” ॥ ५९ ॥

ऐसे तीन प्रकार आत्माका है कथन जिसमें ऐसे पहला महाधिकारमें द्रव्यगुणपर्यायके व्याख्यानकी मुख्यतामें सातवें स्थलमें तीन दोहायुक्त कहे हैं । आगे आदर करने योग्य अतीन्द्रिय सुप्तसे तन्मयी जो निर्विकल्पभाव उसकी प्राप्तिकेलिये शुद्ध गुणपर्यायके व्याख्यानकी मुख्यताकर आठ दोहा कहते हैं । उनमें पहले चार दोहाओंमें अनादिकर्म-संबंधका व्याख्यान और पिछले चार दोहाओंमें कर्मके फलका व्याख्यान इस प्रकार आठ दोहाओंका रहस्य है, उसमें प्रथम ही जीव और कर्मका अनादिकालका संबंध है ऐसा कहते हैं;—[हे जीव] हे आत्मा [जीवानां] जीवोंके [कर्माणि] कर्म [अनादीनि] अनादि कालसे हैं अर्थात् जीव कर्मका अनादिकालका संबंध है [तेन] उस जीवने [कर्म] कर्म [न जनितं] नहीं उत्पन्न किये [कर्मणा अपि] शानावरणादि कर्मोंने भी [जीवः] यह जीव [नैव जनितः] नहीं उपजाया [येन] क्योंकि [द्वयोः अपि] जीव कर्म इन दोनोंकी ही [आदिः न] आदि नहीं है दोनों ही अनादिके हैं ॥ भाषार्थ—यद्यपि व्यवहार नयकर पर्यायोंके समूहकी अपेक्षा नये नये कर्म समग्र २ बांधता है नये नये उपार्जन करता है जैसे बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है उसीतरह पहले बीजरूप कर्मोंसे देह धारता है देहमें नये नये कर्मोंको विस्तारता है यह तो बीजसे वृक्ष हुआ । इसीप्रकार जन्मसंतान चली जाती है । परंतु शुद्धनिश्चयनयकर विचार आये तो जीव निर्मलज्ञानदर्शन स्वभाव ही है । जीवने ये कर्म न तो उत्पन्न किये और यह जीवभी इन कर्मोंने नहीं पैदा किया । जीव भी अनादिका है ये पुत्रलक्ष्मण भी अनादिके हैं जीव कर्म नये नहीं हैं जीव अनादिका कर्मोंमें बांधा है । और कर्मोंके शयसे मुक्त होता है । इस व्याख्यानसे जो कोई ऐसा कहते हैं कि आत्मा सदा मुक्त है कर्मोंसे रहित है उनका निराकरण (संशय) किया । ये वृथा कहते हैं ऐसा

अथ व्यवहारनयेन जीवः पुण्यपापरूपो भवतीति प्रतिपादयति;—

एहं व्यवहारि जीवडउ, हेउ लहेविणु कम्म ।

बहुविहभावि परिणवइ, तेण जि धम्म अहम्म ॥ ६० ॥

एष व्यवहारेण जीवः हेतुं लब्ध्वा कर्म ।

बहुविधभावेन परिणमति तेन एव धर्मः अधर्मः ॥ ६० ॥

एहं व्यवहारि जीवडउ हेउ लहेविणु कम्म एष प्रत्यक्षीभूतो जीवो व्यवहारनेन हेतुं लब्ध्वा । किं । कर्मेति बहुविहभावि परिणवइ तेण जि धम्म अहम्म बहुविधभावेन विकल्पज्ञानेन परिणमति तेनैव कारणेन धर्माधर्मश्च भवतीति । तथा । एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावोपि पञ्चाङ्गवहारेण वीतरागनिर्विकल्पसमवेदनाभावेनोपार्जितं शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति । अत्र यदापि व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानधारिप्रवृत्तिर्निश्चयानिरोधलक्षणलपञ्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकारं साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानन्दैकरूपो मोक्षमुत्पादयित्वा शुद्धजीव उपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६० ॥

तात्पर्य है । ऐसा दूसरी जगहभी कहा है—“मुक्तश्चेत्” इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि जो यह जीव पहले बंधा हुआ होवे तभी ‘मुक्त’ ऐसा कथन संभवता है और जो पहले बंधा ही नहीं तो ‘मुक्त’ ऐसा कहना किसतरह ठीक हो सकता है । मुक्त तो छूट चुका नाम है सो जब बंधा ही नहीं तो ‘टूटा’ किसतरह कहा जा सकता है । जो बंधा है उसको छूटा कहना ठीक नहीं । जो विभावबंध मुक्ति मानते हैं उनका कथन निरर्थक है । जो यह अनादिका मुक्त ही होवे तो पीछे बंध कैसे संभव हो सकता है । बंध होने तभी मोचन होसके । जो बंध न हो तो मुक्त कहना निरर्थक है ॥ ५९ ॥

भाग्य व्यवहार नयकर यह जीव पुण्यपापरूप होता है ऐसा कहते हैं;—[एष जीवः] यह जीव [व्यवहारेण] व्यवहारनयकर [कर्म हेतुं] कर्मरूप कारणको [लब्ध्वा] प्राप्त [बहुविधभावेन] अनेक विकल्परूप [परिणमति] परिणमता है [तेन एव] तेनैव [धर्मः अधर्मः] पुण्य और पापरूप होना है ॥ भावार्थ—यह जीव शुद्धनिश्चयनानन्द वीतरागचिदानन्द स्वभाव है तभी व्यवहारनयकर वीतराग निर्विकल्पसमवेदनाज्ञानके अन्तर्गत गणादिरूप परिणमनेसे उपावेनकिये शुभ अशुभ कर्मोंके कारणको पाकर पुनरीकृत पानी होना है । यद्यपि यह व्यवहारनयकर पुण्य पापरूप है तभी परमात्मा की अनुभूति सम्मधी जो वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानधारिण और वाद्यपदार्थोंमें इच्छाके रोकने से तब तक निश्चय आशयना है उनकी भावनाके समय साधान उपादेयरूप वीतरागसम्यग्दर्शन

अथ तानि पुनः कर्माण्यष्टौ भवन्तीति कथयति,—

ते पुणु जीवहं जोइया, अट्टवि कम्म हवन्ति ।

जेहिं जि झंपिय जीव णवि, अप्पसहाउ लहन्ति ॥ ६१ ॥

तानि पुनः जीवानां योगिन् अष्टौ एव कर्माणि भवन्ति ।

येः एव संपिताः जीवाः नैव आत्मस्वभावं लभन्ते ॥ ६१ ॥

ते पुणु जीवहं जोइया अट्टवि कम्म हवन्ति तानि पुनर्जीवानां हे योगिन्नष्टावेव कर्माणि भवन्ति । जेहिं जि झंपिय जीव णवि अप्पसहाउ लहन्ति यैरेव कम्मभिसंपिताः संतो जीवाः सम्यक्त्वाद्यष्टविधस्वकीयस्वभावं न लभन्ते । तथा हि । “सम्मत्तणानंदसण-पीरियमुट्ठमं तहेय अदगहणं । अगुरुगलहुगं अब्बाबाहं अट्टगुणा हुंति सिद्धानं” । शुद्धात्मादिपदार्थविषये विपरीताभिनिवेशरहितः परिणामः क्षाधिकराम्यत्वमिति भण्यते । जगत्प्रयत्नालप्रयत्नविपक्षपदार्थयुगपद्विरोधपरिच्छित्तिरूपं केवलज्ञानं भण्यते तत्रैव सामान्यपरिच्छित्तिरूपं केवलदर्शनं भण्यते । तत्रैव केवलज्ञानविषये अनंतपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनंतवीर्यं भण्यते । अतीन्द्रियज्ञानविषय सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकजीवावगाहप्रदेशे अनंतजीवावगाहदान-सामर्थ्यमवगाहनत्वं भण्यते । एकांतेन गुरुलघुत्वस्याभावरूपेण अगुरुलघुत्वं भण्यते ।

जो मोक्षका सुख उससे अभिन्न आनंदमई ऐसा निजशुद्धात्मा ही उपादेय है अन्य सब देय हैं ॥ ६० ॥

आगे ये कर्म आठ हैं जिनसे संसारी जीव बंध हैं ऐसा कहते हैं—भी-गुरु अपने शिष्य मुनिको कहते हैं कि [हे योगिन्] हे योगी [तानि पुनः कर्माणि-] ये फिर कर्म [जीवानां अष्टौ एव] जीवोंके आठ ही [भवन्ति] होते हैं [येः एव संपिताः] जिन कर्मोंसे ही आच्छादित (दकेहुए) [जीवाः] ये जीव [आत्मस्वभावं] अपने सम्यक्त्वादि आठगुणरूप स्वभावको [नैव लभन्ते] नहीं पाते ॥ भय उन्हीं आठ गुणोंका व्याख्यान करते हैं “सम्मत्त” इत्यादि—इसका अर्थ ऐसा है कि शुद्ध आत्मादि पदार्थोंमें विपरीत अदानरहित जो परिणाम उसको क्षाधिक सम्यक्त्व कहते हैं, तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको एक ही समयमें विशेषरूप सबको जानें यह केवलज्ञान है, सब पदार्थोंको केवलदृष्टिमें एक ही समयमें देखे यह केवल दर्शन है । उसी केवलज्ञानमें अनंतज्ञायक (जाननेकी) शक्ति वह अनंतवीर्य है, अतीन्द्रियज्ञानकर अमूर्तीक सूक्ष्मपदार्थोंको जानना आप चार ज्ञानके धारियोंसे न जाना जावे वह सूक्ष्मत्व है, एक जीवके अवगाह क्षेत्रमें (जगहमें) अनन्त जीव समाजाये ऐसी श्रवकाश देनेकी सामर्थ्य वह अवगाहन गुण है, सर्वथा गुप्ता ज्ञान स्फुटाक्षा अभाव

वेदनीयकर्मोदयजनितममन्त्राधारहितव्याघ्रायगुणोऽस्ति । इदं सम्यक्त्वादिगुणं
 संसारावस्थायां किमपि केनापि कर्मणा प्रच्छादितं निम्नं यथा यथा कथ्यते । मन्त्रस्य
 मिथ्यात्वकर्मणा प्रच्छादितं, केवलज्ञानं केवलज्ञानावरणेन क्षिप्तं, केवलदर्शनं केवलदर्श-
 नावरणेन क्षिप्तं, अनंतवीर्यं वीर्यांतरायणे प्रच्छादितं, सूक्ष्ममायुष्मकर्मणा प्रच्छादितं ।
 कस्मादित्येव । विविधनायुःकर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते मन्त्रनीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मं
 त्यक्त्वा पञ्चाद्रिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । अवगाहनस्य शरीरनामकर्मोदयेन प्रच्छादितं,
 सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितं । अथवा गुरुलघुत्वेनोक्तो-
 ग्नजनितं महत्त्वं भण्यते, लघुत्वग्रन्थेन नीचगोत्रजनितं सुच्छमिति, तदुभयकाग्नौ
 गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यत इति । अत्राव्याधगुणत्वं वेदनीयकर्मोदयेनेति
 संश्लेषेणाष्टगुणानां कर्ममिराच्छादनं ज्ञानमिति । तदेव गुणाष्टकं मुक्तावस्थायां स्वर्गान्म-
 कीयकर्मप्रच्छादनाभावे व्यक्तं भवतीति संश्लेषेणाष्टगुणाः कथिताः । विशेषेण पुनर्मूर्त-
 निर्नामगोत्रादयः साधारणमाधारणरूपानंतगुणाः यथामभवमागमाविरोधेन ज्ञातव्या
 इति । अत्र सम्यक्त्वादिशुद्धगुणस्वरूपः शुद्धान्मैवोपादेय इति भावार्थः ॥ ६१ ॥

अर्थात् न गुरु न लघु—उसे अगुरुलघु कहते हैं और वेदनीयकर्मके उदयके अभावकर
 उत्पन्न हुआ समस्त याधारहित जो निरावाध गुण उसे अव्यावाध कहते हैं । ये सम्यक्त्वादि
 आठगुण जो सिद्धोंके हैं ये संसारअवस्थामें किस २ कर्मसे ढंके हुए हैं बोही कहते हैं—
 सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वनाम दर्शनमोहनीयकर्मसे आच्छादिन है, केवलज्ञानावरणसे केवल-
 ज्ञान ढका हुआ है, केवलदर्शनावरणसे केवलदर्शन ढका है, वीर्यांतरायकर्मसे अनंतवीर्य
 ढका है, आयुःकर्मसे सूक्ष्मत्वगुण ढका है, क्योंकि आयुःकर्मके उदयसे जब परमवक्रो
 जाता है वहां इंद्रियज्ञानका धारक होता है अतीन्द्रियज्ञानका अभाव होता है इस कारन
 कुछ एक स्थूलवस्तुओंको तो जानता है सूक्ष्मको नहीं जानता, शरीर नामकर्मके उदयसे
 अवगाहन गुण आच्छादित है, सिद्धावस्थाके योग्य विशेषरूप अगुरुलघुगुण नामकर्मके
 उदयसे अथवा गोत्रकर्मके उदयसे ढका गया है क्योंकि गोत्रकर्मके उदयसे जब नीच
 गोत्र पाया तब उसमें सुच्छ या लघु कहलाया और उच्चगोत्रमें बड़ा अर्थात् गुरु कह लाया
 और वेदनीय कर्मके उदयसे अव्यावाध गुण ढका गया क्योंकि उसके उदय साताप्रसा-
 तारूप संसारीक सुखदुःखका भोका हुआ । इस प्रकार आठ गुण आठ कर्मोंसे ढंके गये
 इसलिये यह जीव संसारमें भ्रमा । जब कर्मका आवरण मिट जाता है तब सिद्धपदमें ये
 आठ गुण प्रगट होते हैं । यह संक्षेपसे आठ गुणोंका कथन किया । और विशेषतासे अम-
 र्त्वं निर्नामगोत्रादिक अनंतगुण यथामभव शास्त्रप्रमाणकर जानने । तात्पर्य यह है कि
 सम्यक्त्वादि निज शुद्धगुणस्वरूप जो शुद्धान्मा वही उपादेय है ॥ ६१ ॥

अथ विषयकषायामकानां जीवानां ये कर्मपरमाणवः संवृद्धा भवन्ति तन्वन्ति
वक्ष्यति;—

विसयकसायहि रंगियहं, जे अणुया लग्गनि ।

जीवपदसहं मोहिषाहं, ते जिण कम्म भणंति ॥ ६२ ॥

विषयकषाये. रंगितानां ये व्यणवः दर्शयन्ति ।

जीवमदेष्टेषु मोहितानां सन् जिनाः कर्म भर्जन्ति ॥ ६२ ॥

विमयकमायहिं रंगियहं जे अणुया लग्मनि विषयकपायै रंगिगानां रंगानां ये
परमाणवो कला भवन्ति जीवपणसिहिं मोदियहं नं जिण कम्म भवन्ति । केदु गला
भवन्ति । जीवप्रदेशेषु । केषां । मोदितानां जीवानां तान् कर्मसंभ्रान् जिताः । कर्मणि
कथयन्ति । तथादि । दृष्टात्मानुभूतिवित्तश्रणैर्विषयकपायै रंगानां रंगविषयभावेनारंगि-
मोदयमोदयपरिणतानां च जीवानां कर्मसंभ्रगायोग्यसंभ्रान्तरप्रतिनानां शान्त्याप-
दष्टविषयानावरणादिकर्मरूपेण परिणमेयीत्यर्थः ॥ अत्र न तत्र विषयकपायकपायै कर्म-
पातेन कर्मणि न तत्र परमात्मा रंगितरानिर्विकल्पसमाधिवादे साधनप्राप्तये अर्थः ।
सात्यर्थः ॥ ६२ ॥ इति कर्मस्वरूपकथनसमाप्त्यायेन सूत्रप्रत्युत्पन्नम् ।

अथापीडयित्वा तन्मन्त्रविभाषयन्तुर्गतिगतायाः शुद्धनिश्चयनयेन च संलग्ना इति श्रुत्वा
मनसि धृत्वा वृत्रं जययन्ति,—

आगे विषयकषायोंमें लीज जीर्णोक्त ओ वर्गपरमाणुओंके समूह बनने हैं वे वर्ग वर्ग
जाते हैं ऐसा कहते हैं—[विषयकषायः] विषयकषायोंमें [संनिताना] र
[मोदिताना] मोदी जीर्णोक्त [जीवप्रदेशेषु] जीर्णोक्त प्रदेशोंमें [ये अणवः] ये
परमाणु [लगति] लगते हैं बंधते हैं [तान्] उन परमाणुओंके समूह (समूह) को
[विनाः] विनेन्द्रदेव [कर्म] कर्म [भणति] कहते हैं ॥ आचार्य—एक आचार्य
अनुमतिमें मिल ओ विषयकषाय उनमें रंग हुए आ गलानके अभावमें उत्पन्न विदे हुए
मोदकर्मके उत्पन्नपर गणित हुए ऐसे सभी मोदी मोदी सीमाती जीर्णोक्त कर्मकर्म—मोदी
ओ पुद्गलकर्म दे वे शानावरणादि आठ प्रकार कर्मकर्म होकर परिणाम दे । जैसे तेमकर
विषने शरीरमें पुद्गलकर्म केवकर्म होके परिणाम दे देते ही शरीर देते ।
जीर्णोक्त विषयकषायदशमें पुद्गलकर्म कर्मकर्म होके परिणाम दे । ये कर्मकर्म उत्पन्न
करते हैं कही अब दोषाभास निवृत्तपरमाणु कर्मकर्म कर्मकर्म कर्मकर्म कर्मकर्म कर्मकर्म
सोच है यह ॥ ५५ ॥ ५५ ॥ ५५ ॥

【例 1】某企业 2012 年 12 月 31 日结账前有关账户余额如下表所示。

बंधमपि मोक्षमपि सकलं जीव जीवानां कर्म जनयति ।

आत्मा किमपि करोति नैव निश्चय एवं भणति ॥ ६५ ॥

बंधुवि मोक्षगुवि सयलु जिय जीवहं कम्म जणेइ बंधमपि मोक्षमपि ममत्वं हे जीव जीवानां कर्म कर्तृ जनयति अप्पा किंपिवि कुणइ णवि णिच्छउ एउ मणेइ आत्मा किमपि न करोति बंधमोक्षस्वरूपं निश्चय एवं भणति । तथा । अनुपचरिताम-
भूतव्यवहारेण द्रव्यबंधं तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावबंधं तथा नयद्वयेन द्रव्यभावमोक्षमपि यद्यपि जीवः करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धनिश्चयनयेन न करोत्येव भणति । कोसौ । निश्चय इति । अत्र य एव शुद्धनिश्चयेन बंधमोक्षौ न करोति स एव शुद्धात्मोपादेय इति भावार्थः ॥ ६५ ॥

अथ स्थलसंख्यावाहं प्रश्नेपकं कथयति;—

सो णत्थित्ति पएसो चउरासीजोणिलक्खमज्झम्मि ।

जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण इलुइल्लिओ जीवो ॥ ६६ ॥ क्षे०

स नास्त्यत्र प्रदेशः चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये ।

जिनवचनं न लभमानः यत्र न अमितः जीवः ॥ ६६ ॥

सो णत्थित्ति पएसो म प्रदेशो नाम्ब्यत्र जगति । स किं । चउरासी जोणिलक्खम-
ज्झम्मि जिणवयणं ण लहंतो जत्थ ण इलुइल्लिओ जीवो चतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये

वियोगसे मोक्ष है ऐसा कहते हैं;—[हे जीव] हे जीव [बंधमपि] बंधको [मोक्ष-
मपि] और मोक्षको [सकलं] सबको [जीवानां] जीवोंके [कर्म] कर्म ही [जन-
यति] करता है [आत्मा] आत्मा [किमपि] कुछ भी [नैव करोति] नहीं करता
[निश्चयः] निश्चयनय [एवं] ऐसा [भणति] कहता है अर्थात् निश्चयनयसे भगवा-
नने ऐसा कहा है । भावार्थ—अनादिकालकी संबंधवाली अवधारणस्वरूप अनुपचरिताम-
भूतव्यवहारनयमे ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मबंध और अशुद्धनिश्चयनयमे रागादि भावकर्मके
बंधको तथा दोनों नयोसे द्रव्यकर्म भावकर्मकी मुक्तिको यद्यपि जीव करता है तभी शुद्ध-
पारिणामिकपरमभावके ग्रहण करनेवाले शुद्धनिश्चयनयमे नहीं करताहे बंध और मोक्षमे
रहित है ऐसा भगवानने कहा है । यहां जो शुद्धनिश्चयनयकर बंध और मोक्षका कर्ता
नहीं वही शुद्धात्मा आगधने योग्य है ॥ ६५ ॥

आगे दोहाग्रंथोकी मध्यमव्यासे बाहर उक्तंच स्वरूप प्रश्नेपकको कहते हैं;—[अत्र]
इम जगतमे [म कः अपि] ऐसा कोई भी [प्रदेशः नास्ति] प्रदेश (स्थान) नहीं है
[यत्र] त्रिग जगद् [चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये] चौगनीत्यम योनिमें दोहर [त्रि-

भूत्वा जिनवचनमलभमानो यत्र न भ्रमितो जीव इति । तथाहि । भेदाभेदप्रत्ययप्रति-
पादकं जिनवचनमलभमानः सन्नयं जीवोऽनादिकाते यत्र चतुर्गतीनियोनिलभ्रेषु मध्ये
भूत्वा न भ्रमितः सोऽत्र जगति कोऽपि प्रदेशो नास्ति इति । अत्र यदेव भेदाभेदप्रत्ययप्रति-
पादकं जिनवचनमलभमानो भ्रमितो जीवस्तदेवोपादेयात्ममुग्रप्रतिपादकत्वादुपादेयनिष्ठि-
तात्पर्यार्थः ॥ ६६ ॥

अयात्मा पंगुवन् ह्ययं न याति न चेति कर्मैव नयन्याययति चेति कथयति,—

अप्पा पंगुह् अणुहरह्, अप्पु ण जाह् ण एह् ।

भुवणत्तयहं पि मज्झि जिप, पिहि आणहं पिहि णेह् ॥ ६७ ॥

आत्मा पंगोः अनुहरति आत्मा न याति न आयाति ।

भुवनत्रयस्य अपि मध्ये जीव विधिः आनयति विधिः नयति ॥ ६७ ॥

अप्पा पंगुह् अणुहरह् अप्पुण जाह् ण एह् आत्मा पंगोरनुगमि सदाशो भवति
अयमात्मा न याति न आयाति । क । भुवणत्तयहं पि मज्झि जिप पिहि आणह् पिहि
णेह् भुवनत्रयस्यापि मध्ये हे जीव विधिरानयति विधिर्नयतीति । तथा । अयमात्मा
शुद्धनिभवेनाननवीर्यत्वात् शुभाशुभकर्मरूपनिगलद्वयराहित्येनोपि व्यवहारेण भनादिगताते
स्वशुद्धात्मभावनाप्रतिबिम्बत्वेन मनोवचनवाच्यत्रयेणोपाजितेन कर्मणा निर्मितेन पुण्यपापनिग-
लद्वयेन दृढतरं बद्धः सन् पंगुवद्भूत्वा ह्ययं न याति न आयाति ॥ अयमात्मा परमात्मो-
पलम्भप्रतिपन्नभूतेन विधिद्वयव्याप्येन कर्मणा भुवनत्रये नीयते कर्मपानीयते चेति । अत्र

नवचनं अलभमानः] जिनवचनको नहीं प्राप्त करता हुआ [जीवः] यह जीव [न
भ्रमितः] नहीं भटकता । भावार्थ—इस जगत्में कोई ऐसा स्थान नहीं रहा कि जहाँ
यह जीव निश्चय व्यवहार सत्त्वत्रयको कहनेपाटे जिनवचनको नहीं पाता हुआ अनादि-
काली चौरासीलाग्योनिमें होकर न घूमा हो अर्थात् जिनवचनकी प्रतीति न करनेसे सब-
जगह और सब योनियोंमें भ्रमणक्रिया जन्म मरण किये । यहाँ यह सार्वभौम है कि जिन-
वचनको न पानेसे यह जीव जगत्में भ्रमा इसलिये जिनवचन ही आराधने योग्य
है ॥ ६६ ॥

आगे आत्मा पांगलेकी तरह आप न जो रही जाना है और न आना है कहेंही
इसको ले आते हैं और ले आते हैं ऐसा कहते हैं,—[हे जीव] हे जीव [आत्मा]
यह आत्मा [पंगोः अनुहरति] दागजके समान है, आत्मा] आप न याति न
यही जाना है [न आयाति] न नया है । भुवनत्रयस्य अपि मध्ये
इस जीवको [विधिः] नयति नयति [विधिः] आनयति
ले आता है । भावार्थ—यह जीव न भ्रमण करता है न भ्रमण करता है ।

वीतरागमदानेन्द्रैकरूपात्मवर्षप्रकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्विभ्रं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्वैपत्तिं
भावार्थः ॥ ६७ ॥ इति कर्मशक्तिस्वरूपकथनस्थले मूत्राष्टकं गतं ।

अत ऊर्ध्वं भेदाभेदभावनामुख्यतया पृथक् पृथक् स्वतंत्रमूत्रनवकं कथयति,—

अप्पा अप्पुजि परु जि परु, अप्पा परु जि ण होइ ।

परु जि कयाइवि अप्पु णवि, णियमिं पमणाहिं जोइ ॥ ६८ ॥

आत्मा आत्मा एव परः एव परः आत्मा परः एव न भवति ।

पर एव कदाचिदपि आत्मा नैव नियमेन प्रमणंति योगिनः ॥ ६८ ॥

अप्पा अप्पु जि परु जि परु, अप्पा परु जि ण होइ आत्मालैव पर एव परः आत्मा
पर एव न भवति परु जि कयाइवि अप्पु णवि णियमिं पमणाहिं जोइ पर एव कदाचि-
दप्यात्मा नैव भवति नियमेन निभयेन भणंति कथयन्ति । के कथयन्ति । परमयोगिन इति ।
नपाति । शुद्धात्मा केवलज्ञानादिस्वभावः शुद्धात्मालैव परः कामक्रोधादिस्वभावः पर एव
पुत्रोक्तः । परमात्माभिधानं तदैकरूपस्वभावं त्यज्वा कामक्रोधादिरूपो न भवति । कामक्रोधादि-
स्वभावः परः क्वचित् काले शुद्धात्मा न भवतीति परमयोगिनः कथयन्ति । अत्र गोत्रमुग्गादुत्तरे-
षामूक्तमिदं : कामक्रोधादिभ्यो भिन्नो यः शुद्धात्मा स एवोपादेय इति तात्पर्यार्थः ॥ ६८ ॥

नेपाका होनेमे शुभ अशुभकर्मरूपबंधनमे रहित है तीभी व्यवहारनपमे इस अनादि सेमा-
रमे निवृत्तशुद्धताई । भावनामे निमुक्त जो मन वचन काय इन तीनोंमे उपाजें कर्मोंका
उपश्रुत दुर पुण्यापराध बंधनोकर अच्छीतरह बंधा हुआ पांगदेके समान आप न कही
जाना दे न कही जाना दे । जेमे बंदीवान आपमे न कही जाना दे और न कही जाना
दे बंदीदुष्टमेकर के गया जाना दे और जाना दे आप तो पांगदेके समान है । वही
आपका परमात्माई । प्रतिके शब्दनेवाले चतुर्गतिरूपसंगारके कारणस्वरूप कर्मोंकर तीस
इत्यादि कर्म आनमन करना है एक गतिमे दृग्गी गतिमे जाना दे । यही गांगीत बंद
है । ईद्वेदमग परम अनेंदरूप तथा सबनगद उपादेयरूप परमात्मामे (अपने मरनेमे)
जिह दे । शुभ अशुभ कर्म है वे त्यागने योग्य है ॥ ६७ ॥

अथ शुद्धनिश्चयेनोत्पत्तिर्मरणं बंधमोक्षौ न करोत्यात्मेति प्रतिपादयति;—

णवि उत्पज्जइ णवि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ ।

जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउ भणेइ ॥ ६९ ॥

नापि उत्पद्यते नापि म्रियते बंधं न मोक्षं करोति ।

जीवः परमार्थेन योगिन् जिनवरः एवं भणति ॥ ६९ ॥

नाप्युत्पद्यते नापि म्रियते बंधमोक्षं च न करोति । कोसौ कर्ता । जीवः । केन । परमार्थेन हे योगिन् जिनवर एवं श्रूते कथयति । तथाहि । यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य जीवितमरणशुभाशुभबंधान् करोति । शुद्धात्मानुभूति-सद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति तथापि शुद्धपारिणामिकपरमभावा-प्रादुर्भावेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन न करोति । अत्राह शिष्यः । यदि शुद्धद्रव्यार्थिकलक्षणेन शुद्धनिश्चयेन मोक्षं च न करोति तर्हि शुद्धनयेन मोक्षो नास्तीति तदर्थमनुष्ठानं वृथा । परिहारमाह । मोक्षो हि बंधपूर्वकः स च बंधः शुद्धनिश्चयेन नास्ति तेन कारणेन बंधप्र-तिपक्षभूतो मोक्षः सोपि शुद्धनिश्चयेन नास्ति यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बंधो भवति तथा

शुद्धात्मस्वरूपही है । पर जो कामक्रोधादि पर वस्तु भावकर्म द्रव्यकर्म मोक्षकर्म हैं वे पर ही हैं अपने नहीं हैं, जो यह आत्मा संसार अवस्थामें यद्यपि अशुद्धनिश्चयनयकर काम-क्रोधादिरूप हो गया है तौभी परमभावके प्रादुर्भाव शुद्धनिश्चयनयकर अपने ज्ञानादि निज-भावको छोड़कर कामक्रोधादिरूप नहीं होता अर्थात् निजभावरूप ही है । ये रागादिविभा-वपरिणाम उपाधिक हैं परके संबंधसे हैं निजभाव नहीं हैं इसलिये आत्मा कभी इन रागादिरूप नहीं होता ऐसा योगीश्वर कहते हैं । यहां उपादेयरूप मोक्षमुक्त (अतींद्रिय मुक्त) से तन्मय और काम क्रोधादिकसे भिन्न जो शुद्धात्मा है वही उपादेय है ऐसा अभिप्राय है ॥ ६८ ॥

आगे शुद्धनिश्चयनयकर आत्मा जन्म मरण बंध और मोक्षको नहीं करता है जैसा है वैसा ही है ऐसा निरूपण करते हैं;—[हे योगिन्] हे योगीश्वर [परमार्थेन] निश्चयनयकर विचारः आवे सो [जीवः] यह जीव [नापि उत्पद्यते] न तो उत्पन्न होता है [नापि म्रियते] न मरता है [च] और [न बंधं मोक्षं] न बंध मोक्षको [करोति] करता है अर्थात् शुद्ध निश्चयसे बंधमोक्षसे रहित है [एवं] ऐसा [जिन-वरः] जिनेन्द्रदेव [भणति] कहते हैं । भावार्थ—यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूतिके अभावके होनेपर शुभअशुभ उपयोगोंसे परिणमनकरके जीवन मरण शुभअशुभकर्मबंधको करता है और शुद्धात्मानुभूतिके प्रगट होनेपर शुद्धोपयोगसे परिणत होकर मोक्षको करता है, तौभी शुद्ध पारिणामिक परमभावप्रादुर्भाव शुद्धद्रव्यार्थिकनयकर न बंधका कर्ता है और

तुहं जीवहं एकावि सण्ण नियमेन निअयेन हे आत्मन् हे जीव विजानीहि त्वं । कस्य नास्ति । जीवस्य न केवलमेतन्नास्ति संज्ञापि नास्तीति । अत्र संज्ञाशब्देनाहारादिममा नामसंज्ञा वा प्राज्ञा । तथाहि । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिर्विपरीतैः क्रोधमानमायालोभप्रभृ- निविभावपरिणामैर्यान्नुपार्जितानि कर्माणि सदुद्भयजनितान्युद्भवादीनि शुद्धनिश्चयेन न संति जीवस्य । ते कम्मासं संति । केवलज्ञानाद्यनंतगुणैः कृत्वा निश्चयेनानादिसंतानागतो- द्भवादिभ्यो भिन्नत्वादिति । अत्र उपादेयरूपानंतमुत्पादिविनाभूतशुद्धजीवात्तच्छकाप्राप्तानि भिन्नान्युद्भवादीनि तानि हेयानीति तात्पर्यार्थः ॥ ७० ॥

यशुद्भवादीनि स्वरूपाणि शुद्धनिश्चयेन जीवस्य न संति तर्हि कस्य संतीति प्रश्ने देहस्य भवन्तीति प्रतिपादयति;—

देहहं उद्भय जरमरण, देहहं वण्ण विचिचु ।

देहहं रोय विद्याणि तुहं, देहहं लिङ्ग विचिचु ॥ ७१ ॥

देहस्य उद्भवः जरा मरणं देहस्य वर्णः विचित्रः ।

देहस्य रोगान् विजानीहि त्वं देहस्य लिङ्गं विचित्रं ॥ ७१ ॥

देहस्य भवति । किं किं । उद्भय उत्पत्तिः जरामरणं च वर्णो विचित्रः । वर्णशब्देनात्र

इन सब विकारोंसे रहित है ऐसा कहते हैं;—[हे आत्मन्] हे जीव आत्माराम [जीवस्य] जीवके [उद्भवः न] जन्म नहीं [अस्ति] है [जरामरणः] जरा मरण [रोगा अपि] रोगभी [लिङ्गान्यपि] बिन्दु भी [वर्णोः] वर्ण [एका संज्ञा अपि] आहारादिक एकभी संज्ञा वा नाम नहीं है ऐसा [त्वं] तू [नियमेन] निश्चयकर [विजानीहि] जान । भावार्थ—वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसंस्थित जीव को क्रोध मान माया लोभ आदि विभाव परिणाम उनकर उपार्जन किये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए जन्ममरण आदि अनेक विकार हैं ये शुद्धनिश्चयनयकर जीवके नहीं हैं, क्योंकि निश्चय- नयकर आत्मा केवलज्ञानादि अनंत गुणोंकर पूर्ण है और अनादिसंतानसे प्राप्त जन्म जग मरण रोग शोक भय, स्त्री पुरुष मनुष्यकलिंग, सफेद काला बगैरः वर्ण, आहार भय मैथुन परिमदरूप संज्ञा—इन सबोंसे भिन्न है । यहाँ उपादेयरूप अनंतगुणका धाम जो शुद्धजीव उससे भिन्न जन्मादिक हैं ये सब त्याज्य हैं एक आत्मा ही उपादेय है यह तात्पर्य जानना ॥ ७० ॥

आगे जो शुद्धनिश्चयनयकर जन्ममरणानि जीवके नहीं हैं तो किसे हैं ऐसा शिष्यके प्रश्न करनेपर समाधान यह है कि वे सब देहके हैं ऐसा ब्रह्म कहते हैं — श्रीगुरु कहते हैं कि वे शिष्य [त्वं] ; [देहस्य] देहके [उद्भव] जन्म [जरामरण] जरा मरण होते हैं अर्थात् नया शरीर धरना बिन्दु न शरीर छोड़ना ।

परमात्मपदार्थः । परमात्मपदार्थमिदं भूतं परं ब्रह्मण्यभावात्मानं जानीति, पंचेन्द्रियविषयप्रभृ-
तिभिरात्मनिष्ठमनसं शुद्ध्या परममग्राधीं स्थित्वा नमोऽयं भावयेति भावार्थः ॥ ७२ ॥

एतत् तं निश्चयमेव विद्यमानेति शुद्धात्मानं भावयेन्महिम्नं मनसि धृत्वा गूढं
प्रतिपादयति,—

छिन्नं भिन्नं जातं वरु, जोह्य एह मरीक ।

अप्या भावति निश्चयं, जिं पावहि भवतीर ॥ ७३ ॥

छिन्ना भिन्ना यातु एतं योगिन् इदं शरीरम् ।

आत्मानं भावय निर्मले देन प्राप्नोति भवतीर ॥ ७३ ॥

छिन्नं भिन्नं जातं वरु जोह्य एह मरीक छिन्ना वा द्विधा भवतु भिन्ना
वा तिन्नी भवतु एतं वा यातु हे योगिन् इदं शरीरं मयापि त्वं हि बुरु । अप्या भावहि
निश्चयं आत्मानं दलितमविदितं देवदत्तभावं भावय । हि विदितं । निर्मलं भावकर्म-
नन्वकर्मनोक्तमिति । देन हि भवति । जिं पावहि भवतीर देन परमात्मध्यानेन प्राप्नोति
भवति त्वं हे जीव । हि । भवतीर परमात्मपदार्थमिति । अत्र योगी देहस्य छेदनादि-
कार्योपेति शरीरं पारिधोभमकुर्वन् गच्छ शुद्धात्मानं भावयतीति संपादनादुक्तोक्तं स
व्यवहारीति भावार्थः ॥ ७३ ॥

[परः ब्रह्म] परम ब्रह्म शुद्धात्माव है [नं] उसको तू [आत्मानं] आत्मा [मन्यस्य]
जान । भावार्थ—यद्यपि व्यवहार मयमे जीवके जरा मरण हैं तौभी शुद्धनिश्चयनमकर
जीवके नहीं हैं देहके हैं ऐसा जानकर भय मत करे तू अपने चित्तमें ऐसा समझ कि
जो कोई जग मरणहित अर्थद पर ब्रह्म है वैसा ही मेरा स्वरूप है शुद्धात्मा सपसे
एक है ऐसा तू अपना समाज जान । वांच इन्द्रियोंके विषयोंको आदिदे समस्त विक-
ल्पजानोंको छोड़कर परममग्राधिमं स्थिर होकर निज आत्माको ही ध्याय यह तात्पर्य
है ॥ ७३ ॥

आगे जो देह छिद जावे भिद जावे क्षय हो जावे तौभी तू भय मत करे केवल शुद्ध
आत्माका ध्यानकर ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर गूढ कहते हैं—[हे योगिन्] हे योगी
[इदं शरीरं] यह शरीर [छिदजावे] छिदजावे दो टुकड़े हो जायें [भिन्ना] अथवा
भिद जाये छेदमहित हो जाये [ध्यं यातु] नाशको प्राप्त होवे तौभी तू भय मतकरे
मनमें रंजद मत लवे [निर्मलं आत्मानं] अपने निर्मल आत्माका ही [भावय] ध्यान-
कर अर्थात् चतुर्गुण चिदानन्द शुद्धस्वभाव तथा भावकर्म द्रव्यकर्म नोक्तममे रहित अपने
आत्माका चिन्तन कर 'यन्' जिन परमात्माका ध्यानमें तू [भवतीर] भवमागरका
पार [प्राप्नोति] पाये । भावार्थ—जो देह छेदनादि कार्य हान ना शरीरं पारिधो वि-

तदनंतरं निश्चयसम्यग्दृष्टिमुख्यत्वेन स्वतंत्रमूत्रमेकं कथयति;—

अपि अप्पु मुणंतु जिउ, सम्मादिट्ठि ह्वेइ ।

सम्माइट्ठिउ जीवइउ, लहु कम्मइ मुचेइ ॥ ७७ ॥

आत्मना आत्मानं जानन् जीवः सम्यग्दृष्टिः भवति

सम्यग्दृष्टिः जीवः लघु कर्मणा मुच्यते ॥ ७७ ॥

पि अप्पु मुणंतु जिउ सम्मादिट्ठि ह्वेइ आत्मनात्मानं जानन् सन् जीवो
गस्मभेदज्ञानपरिणतेनांतरात्मना स्वशुद्धात्मानं जानन्ननुभवन् सन् जीवः कर्मा
गसम्यग्दृष्टिर्भवति । निश्चयसम्यक्त्वभावनायां कलं कथ्यते सम्माइट्ठिउ जीवइउ
लहु कम्मइ मुचेइ सम्यग्दृष्टिः जीवो लघु शीघ्रं ज्ञानावरणादिकर्मणा मुच्यते इति । अत्र
यैव कारणेन वीतरागमस्यग्दृष्टिः किल कर्मणा शीघ्रं मुच्यते तेनैव कारणेन वीतरागस-
रिप्रानुसृतं शुद्धात्मानुभूलाभिनाभूतं वीतरागमस्यस्त्वेव भावनीयमित्यभिप्रायः । तथाचोक्तं
भातुंदुंदापायंमोक्षप्राप्तये निश्चयसम्यक्त्वलक्षणं—“सहस्वरवो सयणो सम्मादिट्ठो ह्वेइ
नियमेन । मम्मत्परिणदो उण सजेइ दुट्ठु कम्माइ” ॥ ७७ ॥

यन कर । भावार्थ—देखे सुने अनुभवे भोगोंकी अभिलाषारूप सब विभाव परिणामोंको
छोड़कर निजस्वरूपका ध्यानकर । यहां उपादेयरूप अतीन्द्रियमुखमे तन्मई और सब
भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्ममे जुदा जो शुद्धात्मा है वही अभेद सत्त्वयको धारण करनेवाले
निष्ठमयोंको उपादेय है ऐसा सारथ्य हुआ ॥ ७६ ॥

पेमें तीन प्रकार आध्यात्मिक कहनेवाले प्रथम महाधिकारमें जुदे जुदे अतंत्य भेदभावनाके
मन्त्रमे नौ दोहाय्य रहे । आगे निश्चयकर सम्यग्दृष्टीकी मुख्यतामे मन्त्र एक दोहा-
य्य कहते हैं;—[आत्मानं] अपनेकी [आत्मना] अपनेमे [जानन्] जान
हुआ यह [जीवः] जीव [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [भवति] होता है [सम्पादितः]
जीवः] होय सम्यग्दृष्टि हुआगता [लघु] जल्दी [कर्मणा] कर्मोंमे [मुच्यते]
हट जाता है ॥ भावार्थ—यह आत्मा वीतराग मम्मभेदज्ञानमें परिणत हुआ अंतरात्मना
होकर अपनेको अनुभवता हुआ वीतराग सम्यग्दृष्टि होता है तब सम्यग्दृष्टि होनेके कार-
णमे वीतरागसहित कर्मोंका शीघ्र ही हट जाना है रहित हो जाना है । वहां तब ही
वीतराग सम्यग्दृष्टि होनेमे यह जीव कर्मोंमे हटकर निष्ठ हो जाता है इसी कारण वीतराग
सम्यग्दृष्टि अनुभूत हो शुद्धात्मानुभवसहित वीतराग सम्यक्त्व है वही सत्त्वयको धारण दे देने
करनेवाला हुआ । ऐसा ही कहने आहुदुंदापायंमोक्षप्राप्तये निश्चयसम्यक्त्वलक्षणं
रहता है “सहस्वरवो सयणो सम्मादिट्ठो ह्वेइ नियमेन । मम्मत्परिणदो उण सजेइ दुट्ठु कम्माइ” ॥ ७७ ॥

अत उच्यते मिथ्यादृष्टिलक्षणकथनमुपत्यत्वेन सूत्राष्टकं कथ्यते तद्यथा;—

॥ पञ्चपरत्तञ् जीवदृष्ट, मिच्छादिदृष्टि हवेद् ।

बंधद् बहुविधकम्मडा, जे संसार भमेद् ॥ ७८ ॥

॥ पर्यायरक्तो जीवः मिथ्यादृष्टिः भवति ।

बध्नाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं भ्रमति ॥ ७८ ॥

पञ्चपरत्तञ् जीवदृष्ट मिच्छादिदृष्टि हवेद् पर्यायरक्तो जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवति परमा-
त्मानुभूतिरूपिप्रतिपक्षभूतामिनिवेशरूपा व्यावहारिकमूढप्रयादिपञ्चविंशतिमलान्तर्भावित्वा
मिथ्या विनया वदलीका च सा दृष्टिरभिप्रायो रूपिः प्रत्ययः अज्ञानं यस्य स भवति मिथ्या-
दृष्टिः । स च किं विशिष्टः । नरनारकादिविभावपर्यायरक्तः । तस्य मिथ्यापरिणामस्य
फलं कथ्यते । बंधद् बहुविधकम्मडा जे संसार भमेद् बध्नाति बहुविधकर्माणि यैः संसारं
भ्रमति येन मिथ्यात्वपरिणामेन शुद्धात्मोपलब्धेः प्रतिपक्षभूतानि बहुविधकर्माणि बध्नाति
सैव कर्मनिर्द्रव्यक्षेत्रफालभवाभावरूपं पञ्चप्रकारं संसारं परिभ्रमतीति । तथा चोक्तं मोक्षप्राप्त्यु-
निश्चयमिथ्यादृष्टिलक्षणं । “जो पुणु परद्वयुरभो मिच्छादृष्टी हवेद् सो साहू । मिच्छात्त-
परिणयो उण दग्गदि दुट्ठदुक्कम्मेहि” ॥ पुनश्चोक्तं सैरेय । “जे पञ्चपुणु गिरदा जीवा
परममङ्गति गिरिद्विह । आदिसहायमि ठिदा ते मगममया मुणेरब्बा” ॥ अत्र स्वसंविनि-
रूपाईनिरागसम्यक्त्वान् प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं हेयमिति भावार्थः ॥ ७८ ॥

हुआ जो यति वह निश्चयकर सम्यग्दृष्टि होता है फिर वह सम्यग्दृष्टि सम्यक्स्वरूप
परिणमता हुआ दुष्ट आठ कर्मोंको क्षय करता है ॥ ७७ ॥

इसके बाद मिथ्यादृष्टिके लक्षणके कथनकी शुरुयतासे आठ दोहा कहते हैं;—[पर्या-
यरक्तः जीवः] शरीर आदि पर्यायमें लीन हुआ जो अज्ञानी जीव है वह [मिथ्या-
दृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [भवति] होता है और फिर वह [बहुविधकर्माणि] अनेक
प्रकारके कर्मोंको [बध्नाति] बांधता है [यैः] जिनसे कि [संसारं] संगारमें [भ्रमति]
भ्रमण करता है । भावार्थ—परमात्माकी अनुभूतिरूप अज्ञानसे विगुप्त जो आठ मल
आठ मल छह अनावतन तीन मूढता इन बधीस दोषोंकर सहित अतत्त्वज्ञानरूप
मिथ्यात्व परिणाम जिसके है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है । वह मिथ्यादृष्टि नर नारकादि
विभाव पर्यायोंमें लीन रहता है । उस मिथ्यात्व परिणाममें शुद्धात्माके अनुभवसे दग्ग-
म्मुव अनेक तरहके कर्मोंको बांधता है जिनमें कि द्रव्य क्षेत्र काल भव भावस्वी पांच
प्रकारके समारंभ भटकता है । ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो इसने न धारण किया हो,
ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है कि जहां न उपजा हो और मरण किया हो, ऐसा कोई काल
नहीं है कि जिसमें इसने जन्म मरण न किये हो, ऐसा कोई भव-रूप जो इसने पदा

अथ मिथ्यात्वोपाजितकर्मशक्तिं कथयति;—

॥ कम्मइं दिट्ठघणचिक्खणइं, गरुवइं वज्जसमाइं ।

णाणवियक्खणु जीवडउ, उप्पहि पाडहि ताइं ॥ ७९ ॥

१७ कर्मोणि दृढघनचिक्खणानि गुरुकाणि वज्रसमानि ।

ज्ञानविचक्षणं जीवं उत्पद्ये पातयंति तानि ॥ ७९ ॥

कम्मइं दिट्ठघणचिक्खणइं गरुवइं वज्जसमाइं कर्मोणि भवंति । किं विनिष्टानि ।
दृढानि पलिष्ठानि घनानि निविट्टानि चिक्खणान्यपनेतुमशक्यानि विनाशयितुमशक्यानि
गुरुकानि महानि वज्रसमान्यभेदानि च । इत्थंभूतानि कर्मोणि किं कुर्वन्ति । णाणां-
यरसणु जीवडउ उप्पहिं पाडइं ताइं ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पद्ये पातयंति । कर्मो-
णि युगपत्सोऽलोकप्रकाशरूपेयलक्षानाद्यनंतगुणविचक्षणं द्रष्टुं जीवमभेदरत्नप्रपञ्च-
मिभयमोभ्रमागोत्प्रनिपन्नभूत उन्मार्गे पातयंतीनि । अत्रायमेवाभेदरत्नप्रवरूपो निम-
यमोभ्रमार्ग उपदेय इत्यभिप्रायः ॥ ७९ ॥

न हो लीर ऐमे अशुद्धभाव नहीं हैं जो इसके न हुए हों । इस तरह अनंत परावर्तन
इमने किये हैं । ऐमाही कथन मोक्षपाहुडमें निश्चय मिथ्यादृष्टिके लक्षणमें श्रीकुंदकुंदाचार्यने
कहा है—“जो पुण” इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि जो अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म
भावकर्म नोद्वर्मरूप परद्रव्यमें लीन हो रहे हैं वो साधुके मत धारण करनेपर भी निश्चा-
दृष्टि ही हैं मथ्यादृष्टि नहीं और मिथ्यात्वकर परिणमते दुःखदेनेवाले आठ कर्मो
बाने हैं । फिर भी उन आचार्योंने ही मोक्षपाहुडमें कहा है—“जे पज्जयेसु” इत्यादि ।
उसका अर्थ यह है कि जो नर नारकादि पर्यायोमें मगन होरहे हैं वे जीव परपर्यायने
रत निश्चादृष्टि हैं ऐसा मगवानने कहा है और जो उपयोग लक्षणरूप निजभावमें फि-
रते हैं वे सममयरूप सभ्यादृष्टि हैं ऐसा जानो । सांगंज यह है कि जो परपर्यायमें रत
हैं वे ही परसमय (मिथ्यादृष्टि) हैं और जो आत्मस्थभावमें मगे हुए हैं वे सममय
(सभ्यादृष्टि) हैं मिथ्यादृष्टि नहीं हैं । यहांपर आत्मज्ञानरूपी धीतराग सभ्यवृत्तसे परानुम
को निश्चय है वह त्यागने योग्य है ॥ ७८ ॥

अने निश्चयकर अनेक प्रकार उपार्जन किये कर्मोमें यह जीव समार वनमें भ्रमण
है उस कर्मोको कहते हैं,—[तानि कर्मोणि] वे ज्ञानावस्थादि कर्म [ज्ञानवि-
चक्षणं] ज्ञानविचक्षणं [जीवं] जीव [उत्पद्ये] उत्पद्ये [पातयंति] पातयंति
[दृढघनचिक्खणानि] दृढघनचिक्खणानि [गरुवइं] गरुवइं [वज्जसमाइं] वज्जसमाइं
[कम्मइं] कम्मइं [दिट्ठघणचिक्खणानि] दिट्ठघणचिक्खणानि [णाणवियक्खणु] णाणवियक्खणु
[जीवडउ] जीवडउ [उप्पहि] उप्पहि [पाडहि] पाडहि [ताइं] ताइं [७९] ७९

अथ मिथ्यापरिणता जीवो विपरीतं तत्त्वं जानातीति निरूपयन्ति,—

॥ जिउ मिच्छत्तं परिणमिउं, विवरिउ तथु भुणेइ ।

कम्मविणिम्मियभावडा, ते अप्पाणु भणेइ ॥ ८० ॥

॥ जीवः मिथ्यात्वेन परिणतः विपरीतं तत्त्वं मनुते ।

कर्मविनिर्मितभावान् तान् आत्मानं भणति ॥ ८० ॥

जिउ मिच्छत्तं परिणमिउ विवरिउ तथु भुणेइ जीवो मिथ्यात्वेन परिणतः सन् विपरीतं तत्त्वं जानाति शुद्धात्मानुभूतिरचिविलक्षण्येन मिथ्यात्वेन परिणतः सन् जीवः परमात्मादिमत्त्वं च यथावत् वस्तुस्वरूपमपि विपरीतं मिथ्यात्वरगादिपरिणतं जानाति । तत्र किं करोति । कम्मविणिम्मियभावडा ते अप्पाणु भणेइ कर्मविनिर्मितान् भावान् तमात्मानं भणति विनिष्टभेदज्ञानाभावाद्गौरवस्थूलकृपादिकर्मजनितदेहधर्मात्मानं जानातीत्यर्थः । अत्र तेभ्यः कर्मजनितभावेभ्यो भिन्नो रागादिनिवृत्तिकाले स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति तात्पर्यं ॥ ८० ॥

प्रकाशनेवाले केवलज्ञान आदिक अनंत गुणोंसे बुद्धिमान चतुर हैं तौभी इस जीवको वे संसारके कारण कर्म ज्ञानादि गुणोंका आच्छादनकरके अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयमोक्षमार्गसे विपरीत खोटे मार्गमें डालते हैं अर्थात् मोक्षमार्गसे भुलाकर भववनमें भटकाते हैं । यहां यह अभिप्राय है कि संसारके कारण जो कर्म और उनके कारण मिथ्यात्वरगादि परिणाम हैं वे सब हेय हैं तथा अभेदरत्नत्रयरूप निश्चय मोक्षमार्ग है वह उपादेय है ॥ ७९ ॥

आगे मिथ्यात्वपरिणतिसे यह जीव तत्त्वको यथार्थ नहीं जानता विपरीत जानता है ऐसा कहते हैं;—[जीवः] यह जीव [मिथ्यात्वेन परिणतः] अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणया [तत्त्वं] आत्माको आदि लेकर तत्त्वोंके स्वरूपको [विपरीतं] अन्यका अन्य [मनुते] श्रद्धान करता है यथार्थ नहीं जानता । वस्तुका स्वरूप तो जैसा है वैसा ही है तौभी यह मिथ्याती जीव वस्तुके स्वरूपको विपरीत जानता है अपना जो शुद्धज्ञानादि-सहित स्वरूप है उसको मिथ्यात्वरगादिरूप जानता है । उससे क्या करता है। [कर्म-विनिर्मितभावान्] कर्मोंकर रचे गये जो शरीरादि परभाव हैं [तान्] उनको [आत्मानं] अपने [भणति] कहता है अर्थात् भेदविज्ञानके अभावसे गौरा श्याम स्थूल कृश इत्यादि कर्मजनित देहके स्वरूपको अपने जानता है इसीसे संसारमें अमण करता है । भावार्थ—यहां पर कर्मोंसे उपार्जन किये भावोंसे भिन्न जो शुद्ध आत्मा है वही जिस समय रागादि दूर होते हैं उससमय उपादेय है क्योंकि तभी शुद्ध आत्माका ज्ञान होता है ऐसा हुआ ॥ ८० ॥

वणिक् अहं क्षत्रियोहं श्रेष्ठः क्षात्रादिः । पुनश्च कथंभूतः । पुरिगुणउंसउ इति हउं मण्ड
मूढ विमेषु पुरुषो नपुंसकः स्त्रीलिङ्गोहं मन्यते मूढो विशेषं ब्राह्मणादिविशेषमिति ।
इदमत्र तात्पर्यं । यन्निश्चयनयेन परमात्मनो भिन्नानपि कर्मजनितान् ब्राह्मणादिभेदान्
सर्वप्रकारेण हेयभूतानपि निश्चयनयेनोपादेयभूते वीतरागसदानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि
योजयति संयत्नान् करोति । कोसौ कथंभूतो । ज्ञानपरिणतः स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितो
मूढात्मेति ॥ ८२ ॥ अथ ।

॥ तरुणः वृद्धः रूपदृढः, सूरः पंडितः दिव्यः ।

क्षयणः वंदः सेवः, मूढः मण्डः सव्यः ॥ ८३ ॥

१. तरुणः वृद्धः रूपस्त्री शूरः पंडितः दिव्यः ।

क्षयणकः वंदकः श्रेतपटः मूढः मन्यते सर्वम् ॥ ८३ ॥

तरुणः वृद्धः रूपदृढः सूरः पंडितः दिव्यः तरुणो यौवनस्योहं वृद्धोहं रूपम्यहं शूरः
सुभदोहं पंडितोहं दिव्योहं । पुनश्च त्रिविनिष्टः । रुक्मणः वंदः सेवः क्षयणको
दिगंबरोहं वंदको यौद्धोहं श्रेतपटादिनिगधारकोहमिति मूढात्मा सर्वं मन्यत इति ।
अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि व्यवहारेणाभिन्नान् तथापि निश्चयेन वीतरागसद्जानन्दैक-
स्वभावात्परमात्मनः भिन्नान् कर्मोदयोत्पन्नान् तरुणवृद्धादिविभावपर्यायान् हेयानपि
मात्रादुपादेयभूते स्वशुद्धात्मनस्य योजयति । कोसौ । व्यातिपूजाभादिविभावपरि-
णामार्थिनतया परमात्मभावनाच्युतः सन् मूढात्मेति ॥ ८३ ॥ अथ ।

हं [अहं] मैं [वैश्यः] वणिक् हं [अहं] मैं [क्षत्रियः] क्षत्री हं [अहं] मैं [श्रेष्ठः]
इनके सिवाय शूद्र हं [अहं] मैं [पुरुषः नपुंसकः स्त्री] पुरुष हं नपुंसक हं और स्त्री
हं । इसप्रकार शरीरके भावोंको मूर्ख अपने मानता है । तो ये सब शरीरके हैं आ-
त्माके नहीं हैं । भावार्थ—यहां पर ऐसा है कि निश्चयनयसे ये ब्राह्मणादि भेद कर्म-
जनित हैं परमात्माके नहीं हैं इसलिये सब तरह आत्मज्ञानीके स्वाग्यरूप हैं तो भी जो
निश्चयनयकर आराधने योग्य वीतराग सदा आनंदस्वभाव निज शुद्धात्मानें इन भेदोंको
रुगाता है अर्थात् अपने को ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्र मानता है स्त्री पुरुष नपुंसक मानता
है यह कर्मोंका बंध करता है वही अज्ञानसे परिणत हुआ निजशुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे
रहित हुआ मूढात्मा है जानवान नहीं है ॥ ८२ ॥

आगे फिर मूढके लक्षण कहते हैं,—[तरुणः] मैं जवान ह [वृद्धः] वृद्ध हं
[रूपस्त्री] रूपवान ह [शूरः] शरीर ह [पंडितः] पंडित हं [दिव्यः] मयमें श्रेष्ठ
ह [क्षयणकः] दिगंबर ह [वंदकः] बाढमनका आचार्य हं [श्रेतपटः] और मे
श्रेतानर ह इत्यादि [सर्व] सब शरीरके भेदोंको [मूढः] मूर्ख [मन्यते] अपने मानता

॥ जणणी जणणुवि कंत घरू, पुत्तुवि मित्तुवि दब्बु ।
मायाजालुवि अप्पणउं, मूढउ मण्णइ सब्बु ॥ ८४ ॥

११ जननी जननः अपि कांता गृहं पुत्रोपि मित्रमपि द्रव्यं ।

मायाजालमपि आत्मनः मूढः मन्यते सर्वं ॥ ८४ ॥

जणणी जणणुवि कंत घरू पुत्तुवि मित्तुवि दब्बु जननी माता जननः पितरि
कांता भार्या गृहं पुत्रोपि मित्रमपि द्रव्यं सुवर्णादि यत्तत्सर्वं मायाजालुवि अप्पणउ
मूढउ मण्णइ सब्बु मायाजालमप्यसत्यमपि कृत्रिममपि आत्मीयं स्वकीयं मन्यते । कोत्तौ ।
मूढो मूढात्मा । कतिसंख्योपेतमपि । सर्वमपीति । अयमत्र भावार्थः । जनन्यादिकं परस्व-
पमपि शुद्धात्मनो मित्रमपि हेयस्वाशेषनारकादिदुःस्वस्व कारणत्वाद्देयमपि साक्षादुपादेय-
भूतानादुल्लस्यलक्षणपारमार्थिकसौख्यादभिज्ञे वीनरामपरमानन्दैकस्वभावे शुद्धात्मनस्त्वे-
योजयति । स कः । मनोवचनकायव्यापारपरिणतः स्वशुद्धात्मद्रव्यभावनानुव्यो मूढ-
मिति ॥ ८४ ॥ अथ ।

हे । ये भेद जीवके नहीं हैं । भावार्थ—यहांपर यह है कि यद्यपि व्यवहार नयकर ये
सब तर्हण ब्रह्मादि शरीरके भेद आत्माके कहे जाते हैं तौ भी निश्चयनयकर वीक्षण
महजानंद एक स्वभाव जो परमात्मा उससे भिन्न हैं । ये तर्हणादि विभावपर्याय कर्मके
उदयकर उत्पन्न हुए हैं इसलिये त्यागने योग्य हैं तौ भी उनको साक्षात् उपादेयकर
मित्र शुद्धात्मनस्त्वमें जो लगाना है अर्थात् आत्मके मानता है वह अज्ञानी जीव यहाँ
मनिष्टा धनका लाभ इत्यादि विभावपरिणामोंके आधीन होकर परमात्माकी भावनासे रहित
हुआ मूढात्मा है वह जीवके ही भाव मानता है ॥ ८३ ॥

आगे फिर भी मूढके लक्षण कहते हैं:—[जननी] माता [जननः] पिता [अपि]
और [कांता] भी [गृहं] घर [पुत्रः अपि] और भेटा बेटा [मित्रमपि] मित्र
वगैरः सब कुटुम्बजन वदिन मानजी जाना माया भाई बंध और [द्रव्यं] रत्न मानिक
मोती सुवर्ण चांदी धन धान्य द्विपद वांसी धान्य नौकर चौपाये गाव बैल घोडा घोड़ी ऊँट
हत्थी रथ वाजरी बहनी ये [सर्वं] सब [मायाजालमपि] अमन्य है कर्मजनित है तौ
भी [मूढः] अज्ञानी जीव [आत्मीयं] अपने [मन्यते] मानता है । भावार्थ—
माता पिता भाई सब कुटुम्बजन परमस्व भी हैं सब आत्मके हैं, शुद्धात्मा भिन्न भी
है स्वयं स्वकी है देवस्व सम्पत्तिक नारकादिदुःस्वोक्त कारण होनेमें आशय भी है उनको
जो ईश स्वयं उपादेयकर जनन कृतस्वस्व परमानन्द मूढमो अभिमत वीनराम परमा-
नन्दस्व परमनन्द है मूढ मूढमने आशय है अर्थात् अपने मानता है वह मन वचन
कायस्व परमानन्द हुआ मूढ मानता है मूढमनी भावनाना मूढ (मूढा) मूढा

॥ दुःखं कारणं जे विसय, ते सुखहेउ रमेइ ।

मिच्छाद्विज जीवदउ, इत्यु ण काइ करेइ ॥ ८५ ॥

१. दुःखस्य कारणं ये विषयाः तान् सुखहेतुन् रमते ।

मिथ्यादृष्टिः जीवः अत्र न किं करोति ॥ ८५ ॥

दुःखं कारणं जे विसय ते सुखहेउ रमेइ दुःखस्य कारणं ये विषयान् रमते । स कः । मिच्छाद्विज जीवदउ मिथ्यादृष्टिर्जीवः इत्यु ण काइ करेइ अत्र जगति योगी दुःखरूपविषयान् निश्चयनयेन सुखरूपान् रमन्ते स मिथ्यादृष्टिः रिमहन् पापं न करोति अपि ॥ सर्वकरोत्येवेति । अत्र तात्पर्यं । मिथ्यादृष्टिर्जीवो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमुत्पन्नपरमानन्दपरमममरमीभावरूपसुखरसापेक्षया निश्चयेन दुःखरूपानपि विषयान् सुखहेतुन् मत्वा अनुभवतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥ एवं त्रिविधात्मप्रतिपादकप्रथममहाधिकारमध्ये “जिउ मिउछे” इत्यादिसूत्राष्टकेन मिथ्यादृष्टिपरिणतिव्याख्यानस्थले ममाप्तं ।

तदनन्तरं सम्यग्दृष्टिभावनाप्यारयानमुत्पत्त्येन “कालु छहेविणु” इत्यादि सूत्राष्टकं कथ्यते । अध,—

॥ कालु छहेविणु जोइया, जिमु जिमु मोहु गलेइ ।

तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ, णियमं अप्पु मुणेइ ॥ ८६ ॥

१. कालं लब्ध्वा योगिन् यथा यथा मोहः गलति ।

तथा तथा दर्शनं लभते जीवः नियमेन आत्मानं मनुते ॥ ८६ ॥

पेमा जानो, अर्थात् अतीन्द्रियसुखरूप आत्मामें पर वस्तुका क्या प्रयोजन है । जो पर वस्तुको अपना मानता है वही मूर्ख है ॥ ८४ ॥

अब और भी मूढ़का लक्षण कहते हैं—[दुःखस्य] दुःखके [कारणं] कारण [ये] जो [विषयाः] पाच इंद्रियोंके विषय हैं [तान्] उनको [सुखहेतुन्] सुखके कारण जानकर [रमते] रमण करता है वह [मिथ्यादृष्टिः जीवः] मिथ्यादृष्टि जीव [अत्र] इस संसारमें [किं न करोति] क्या पाप नहीं करता सभी पाप करता है अर्थात् जीवोंकी हिसा करता है झूठ बोलता है दूसरेका धन हरता है दूसरेकी स्त्री सेवन करता है अति नृप्या करता है बहुत आरंभ करता है खेती करता है खोटे २ व्यसन सेवता है जो न करनेके काम है उनको करता है । भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव वीतराग निर्विकल्प परमसमाधिमें उत्पन्न परमानन्द परमममरमीभावरूप सुखमें परानुसुप्त हुआ निश्चयकर महा दुःखरूप विषयोंको सुखके कारण समझकर सेवन करता है सो इनमें सुख नहीं है ॥ ८५ ॥

काल लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ फाउं लख्या हे योगिन यथा यथा
मोहो विगलति तिमु तिमु दंसणु लहइ त्रिउ तथा तथा दर्शनं सम्यक्त्वं लभते उतरः ।
तदनंतरं किं करोति । णियमें अप्पु मुणेइ नियमेनात्मानं मनुते जानातीत्यर्थः । तथाहि—
एकेंद्रियविकलेंद्रियपंचेंद्रियमंत्रिपर्याप्तमनुष्यदेमकुलशुद्धात्मोपदेष्टादीनामुत्तरोत्तरदुर्लभकमेन
दुःप्रामाण्यं काललब्धिः कथंचित्कारुणानीयन्यायेन तां लख्या परमागमरुचिदत्तमेन
मिथ्यात्वादिभेदभिन्नपरमात्मोपलंभप्रतिपत्तेर्यथा यथा मोहो विगलति तथा तथा शुद्धात्म-
वोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं लभते । शुद्धात्मकर्मणोर्भेदमानेन शुद्धात्मत्वं मनुते
जानातीति । अत्र यस्त्वोपादेयमूतस्य शुद्धात्मनो रुचिपरिणामेन निश्चयमभ्यगद्विज्ञेति
जीव स एवोपादेय इति भावार्थः ॥ ८६ ॥

अत ऊर्ध्वं पूर्वोक्तन्यायेन सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा मिथ्यादृष्टिमावनायाः प्रतिपन्नमूनां चारुणी
भेदभावनां करोति तादृशी क्रमेण सूत्रसमकेन विवृणोति;—

॥ अप्पा गोरउ किणहु णवि, अप्पा रत्तु ण होइ ।

अप्पा सुहुमुचि धूलु णवि, णाणित णाणं जोइ ॥ ८७ ॥

॥ आत्मा गौरः कृष्णः नापि आत्मा रक्तः न भवति ।

आत्मा सूक्ष्मोपि स्थूलः नैव ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति ॥ ८७ ॥

इस प्रकार तीनतरहके आत्माके कहनेवाले पहले महा अधिकारमें “त्रिउ मिच्छुं”
इत्यादि आठ दोहाओंसे मिथ्यादृष्टिकी परिणतिका व्याख्यान समाप्त किया । इसके आगे
सम्यग्दृष्टिकी भावनाके व्याख्यानकी मुख्यतासे “काल लहेविणु” इत्यादि आठ दोहाएँ
कहते हैं;—[हे योगिन] हे योगी [कालं लख्या] काल पाकर [यथा यथा] वैसा
वैसा [मोहः] मोह [गलति] गलता है कम होता जाना है [तथा तथा] वैसा वैसा
[जीवः] यह जीव [दर्शनं] सम्यग्दर्शनको [लभते] पाता है फिर [नियमेन]
निश्चयसे [आत्मानं] अपने स्वरूपको [मनुते] जानना है । भावार्थ—एकेंद्रीसे
विकलव्रम (दो इंद्रि ते इंद्रि चौ इंद्रि) होना दुर्लभ है, विकलव्रमसे पंचेंद्री, पंचेंद्रीसे
सैनी पर्याप्त, उससे मनुष्य होना कठिन है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र उसमकुल शुद्धात्मा
उपदेश आदि मिलना बहुत कठिन है । और किमीतरह “कारुणालीय न्यायसे” काउ-
ट्रिपकी पाकर सब दुर्लभ सामग्री मिलनेपर भी जैन शास्त्रोक्त मार्गकर मिथ्यात्वादिके दू
हो जानेमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होते हुए वैसा वैसा मोह क्षीण होना जाता है वेमे १
शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप सम्यक्त्व होना है । शुद्ध आत्मा और कर्मको
जुदे २ जानता है । जिस शुद्धात्माकी रुचिरूप परिणाममें यह जीव निश्चयमभ्यगद्विज्ञेति
होता है वही उपादेय है यह तात्पर्य हुआ ॥ ८६ ॥

आत्मा गौरो न भवति कृष्णो न भवति रक्तो न भवति आत्मा मृन्मोहि न भवति स्थूलोपि नैव । तर्हि किंविशिष्टः । ज्ञानी ज्ञानस्वरूपः ज्ञानेन करणभूतेन पश्यति । अथवा “जाणिउ जाणइ जोइ” इति पाठान्तरं, ज्ञानी योगी योगी न जानायात्मानं । अथवा ज्ञानी ज्ञानस्वरूपेण आत्मा । कोमौ जानानि । योगीनि । तथाहि—कृष्णगौमादिकथनान् व्यवहारेण जीवमबंधधानपि तथापि शुद्धात्मनो मिश्रान् कर्मजनितान् हेतवान् वीतरागद्वन्द्व-वेदनज्ञानी स्वशुद्धात्मतत्त्वे तान् न योजयति मबंधात्त करोनीनि भावार्थः ॥ ८७ ॥ अथ ।

१) अप्या धंभणु वइरु जयि, जयि ररसिउ जयि मेसु ।

पुरिसु जउंसउ इतिथ जयि, जाणिउ मुणइ अमेसु ॥ ८८ ॥

॥ आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि नापि क्षत्रियः नापि शैवः ।

पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि ज्ञानी मनुने अशेषं ॥ ८८ ॥

अप्या धंभणु वइरु जयि जयि ररसिउ जयि मेसु पुरिसु जउंसउ इतिथ जयि आत्मा ब्राह्मणो न भवति वैश्योपि नैव नापि क्षत्रियो नापि शैवः शूद्रादिः पुरुषनपुंसक-श्रीलिंगरूपोपि नैव । तर्हि किं विशिष्टः । जाणिउ मुणइ अमेसु ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानी तम । किं करोति । मनुने जानानि । कं । अशेषं बन्तुजानं बन्तुममृतिनि । तथा । यानेव ब्राह्मणादिवर्णभेदान् पुष्टिगार्ह्यिगभेदान् व्यवहारेण परमात्मपदार्थ-वमिश्रान् शुद्धनिभयेन मिश्रान् वाश्रायेयभूतान् वीतरागनिर्विकल्पगमाधिपुनो कतिरामा

इत्येके वाद पूर्वकथित रीतिसे सग्यगृहि होकर मिथ्यात्वकी भावनासे दिपरीन जमी भेदवि-ज्ञानकी भावनाको करता है वैसी भेदविज्ञानभावनाका स्वरूप कमसे सातदोहायोगी करने हैं—[आत्मा] आत्मा [गौरः कृष्णः नापि] लपेद नही है बाला नही है [आत्मा] आत्मा [रक्तः] लाल [न भवति] नही है [आत्मा] आत्मा [गुरुः अपि स्थूलः नैव] गुरु भी नहीं है धोर स्थूल भी नहीं है [ज्ञानी] ज्ञानस्वरूप है [ज्ञानेन] ज्ञानरूपसे [पश्यति] देखा जाता है अथवा ज्ञानी पुरुष योगी ही ह.नकर आत्माको जानता है । भावार्थ—ये येन बाते आदि धर्म व्यवहारतत्त्वर ररसिउ रबंधसे जीवके बंधे जाते हैं सोभी शुद्धनिभयनदकर शुद्धात्मासे जुड़े हैं कर्मजनित हैं त्यागने योग्य हैं । जो वीतरागत्वमवेदन ज्ञानी है वह निजशुद्धात्मतत्त्वे हन धर्मको नही लगाना अर्थात् इनको अपने नही समझता है ॥ ८८ ॥

आगे ब्राह्मणादिवर्ण आत्माके नहीं है ऐसा वर्णन करने है [आत्मा] आत्मा [वैश्यः नापि] ब्राह्मण नहीं है वैश्य भी नहीं है [क्षत्रियः नापि] क्षत्रिय भी नहीं है [शैवः] शैव भी नहीं है [पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि] पुरुष नपुंसकः स्त्री नापि भी नहीं है [ज्ञानी] ज्ञानस्वरूप शुद्ध, अशेष, निजशुद्धात्मतत्त्वे हन धर्मको

स्वात्मनि योजयति नानेव तद्विपरिणामावनामनाम्ना म्यशुद्धात्मसम्पन्नं योजयति
तात्पर्यार्थः ॥ ८८ ॥ अथ ।

अप्पा वंदउ म्वचणु णवि, अप्पा गुरउ ण जोड ।

अप्पा लिंमिउ एकु णवि, णाणिउ जाणइ जोड ॥ ८९ ॥

॥ आत्मा वंदकः क्षणः नापि आत्मा गुरवः न भवति ।

आत्मा लिंमी एकः नापि ज्ञानी जानाति योगी ॥ ८९ ॥

आत्मा वंदको बौद्धो न भवति आत्मा क्षणको दिगंबरो न भवति आत्मा गुरव-
व्याच्यः श्वेतांबरो न भवति । आत्मा एरुदंडिद्रिदंडिहंमपरमहंसः संन्यासी
शिखी मुंडी योगदंडाक्षमालातिलककुलरूपप्रभृतिवेषधारी नैकोपि कश्चिदपि लिंमी न
भवति । तर्हि कथंभूतो भवति । ज्ञानी । तमात्मानं कोसौ जानाति योगी ध्यानीति ।
तथाहि—यद्यप्यात्मा व्यवहारेण वंदकादिलिंमी भण्यते तथापि शुद्धनिश्चयनयेनैकोपि लिंमी
न भवतीति । अयमत्र भावार्थः । देहाश्रितं द्रव्यलिंममुपचरितान्मद्भूतव्यवहारेण जीवन्मूर्तं
भण्यते वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिंगं तु यद्यपि शुद्धात्मस्वरूपमाधत्वा उपचरितं
शुद्धजीवस्वरूपं भण्यते तथापि सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन न भण्यत इति ॥ ८९ ॥ अथ ।

जानता है । भावार्थ—जो ब्राह्मणादिवर्णभेद हैं और पुरुषलिंगादि तीन लिंग हैं वे यद्यपि
व्यवहारनयकर देहके संबंधसे जीवके कहे जाते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनयकर आलाते
भिन्न हैं और साक्षात् त्यागने योग्य हैं उनको वीतरागनिर्विकल्पसमाधिसे रहित मिथ्या-
दृष्टि जीव अपने जानता है और उन्हींको मिथ्यात्वसे रहित सम्यग्दृष्टि जीव अपने नहीं
समझता । आपको तो ज्ञानस्वभावरूप जानता है ॥ ८८ ॥

आगे वंदक क्षणकादि भेद भी जीवके नहीं हैं ऐसा कहते हैं;—[आत्मा] आत्मा
[वंदकः क्षणः नापि] बौद्धका आचार्य नहीं है दिगंबर भी नहीं है [आत्मा]
आत्मा [गुरवः न भवति] श्वेताम्बर भी नहीं है [आत्मा] आत्मा [एकः अपि]
कोई भी [लिंमी] वेशका धारी [न] नहीं है अर्थात् एक दंडी त्रिदंडी हंस परमहंस
संन्यासी जटाधारी मुंडित रक्षाश्रकी माला तिलक कुलक घोष वगैरः भेषोंमें कोई भी
भेषधारी नहीं है एक [ज्ञानी] ज्ञानस्वरूप हैं उस आत्माको [योगी] ध्यानी मुनि
ध्यानारूढ होकर [जानाति] जानता है ध्यान करता है ॥ भावार्थ—यद्यपि व्यवहार-
नयकर यह आत्मा वंदकादि अनेक भेषोंको धरता है तौभी शुद्धनिश्चय नयकर कोई भी
भेष जीवके नहीं है देहके हैं । यहा देहके आश्रयमे जो द्रव्यलिंम है वह उपचरितान-
द्भूतव्यवहारनयकर जीवका स्वरूप कहा जाना है तौभी निश्चयनयकर जीवका स्वरूप नहीं

॥ अप्पा गुरु णचि सिस्सु णचि, णचि मामिउ णचि मिणु ।
सूरउ कायरु होइ णचि, णचि उत्तामु णचि णिणु ॥ ९० ॥

॥ आत्मा गुरुः नैव शिष्यः नापि नैव स्वामी नैव भृत्यः ।

शूरः कातरः भवति नैव नैव उत्तमः नैव नीचः ॥ ९० ॥

आत्मा गुरुर्नैव भवति शिष्योपि न भवति नैव स्वामी नैव भृत्यः शूरो न भवति कातरो दीनमन्त्रो नैव भवति नैवोत्तमोत्तमवृत्तप्रभृत्यः नैव नीचो नीचवृत्तप्रभृत्य इति । तथा । गुरुशिष्यादिसंबंधान् यद्यपि व्यवहारोऽपि जीवस्वरूपमप्यापि शुद्धनिर्भयं परमात्म-
श्रद्धाद्विज्ञानं देयभूतान् पीतलग्नपरमानंदैकमशुद्धान्मोहप्रपञ्चैश्रुतं कश्चिदपि स्वाकर्तृत्वज्ञानं करोति तानेव पीतलग्ननिर्विकल्पमसाधितो अंगगन्ता परमात्मज्ञानं ज्ञानार्त्तं नैव भावार्थः ॥ ९० ॥ अथ ।

॥ अप्पा माणुसु देउ णचि, अप्पा निरिउ ण होइ ।

अप्पा नारउ कर्हिणि णचि, णाणिउ जाणई जंइ ॥ ९१ ॥

॥ आत्मा मनुष्यः देवः नापि आत्मा निर्विकल्पः न भवति ।

आत्मा नारकः कापि नैव ज्ञानी जानाति योगी ॥ ९१ ॥

अप्पा माणुसु देउ णचि अप्पा तिरिउ न होइ अप्पा नारउ कर्हिणि कर्हि

है क्योंकि जब देह ही जीवकी नहीं तो भेष बंधे होसकता है इसलिये श्रद्धाविगने कर्मका ही नहीं है और पीतलग्ननिर्विकल्पमसाधित भावनिग्न यद्यपि शुद्धमलमयका साधक है इसलिये उपवासनमकर जीवका स्वरूप बता जाता है सोभी परमदृष्टम श्रद्धाविगनेकसा भावनिग्न भी जीवका नहीं है । भावनिग्न साधनरूप है वह भी परम अवस्थाका साधक नहीं है ॥ ९१ ॥

आगे यह गुरु शिष्यादिक भी नहीं है;—[आत्मा] आत्मा [गुरुः नैव] गुरु नहीं है [शिष्यः नापि] शिष्य भी नहीं है [स्वामी नैव] स्वामी नहीं है [भृत्यः नैव] भोक्ता नहीं है [शूरः कातरः नैव] शूरीय नहीं है बन्दीय नहीं है [उत्तमः नैव] उत्तम नहीं है [नीचः नैव भवति] नीच जीवगुणी भी नहीं है । भावार्थ—ये सब गुरु शिष्य स्वामी भोक्तादि संबन्ध यद्यपि व्यवहारमयमे लोबसे स्वरूप है न कि शुद्ध निश्चयमयमे शुद्ध आत्मामे लुप्त है भावने नहीं है स्वामिने रोष है इह केनेने पीतलग्नपरमानंद निज शुद्धात्मार्थ कश्चित् रहित कश्चित् शिष्यादि और करने करने जाना है तोर इन्ही भेदोको पीतलग्ननिर्विकल्पमसाधिते रहता हुआ कम-अन्य-साधकजीव पररूप (दुर्गम) जानता है ॥ ९० ॥

यदि पुण्यपापादिरूपः परमात्मा न भवति तर्हि कीदृशो भवतीति प्रश्ने प्रयुक्तम् ।

२१) अप्पा संजमु सीलु तउ, अप्पा दंसणु णाणु ।

अप्पा सासयमोक्खपउ, जाणंनउ अप्पाणु ॥ ९४ ॥

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा दर्शनं ज्ञानं ।

आत्मा शाश्वतमोक्षपदं जानन् आत्मानं ॥ ९४ ॥

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु अप्पा सासय मोक्खपउ आत्मा मरने भवति शीलं भवति तपश्चरणं भवति आत्मा दर्शनं भवति ज्ञानं भवति शाश्वतमोक्षपदं न भवति । अथवा पाठांतरं “सामयमुक्खपहुं” शास्त्रनमोक्षस्य पंथा मार्गः अथवा “मानवमुक्खपउ” शास्त्रतसौख्यपदं स्वरूपं च भवति । किं कुर्वन् मन् । जाणंतउ अप्पाणु जानन्तु भवन् । कं । आत्मानमिति । तद्यथा । वहिरंगेन्द्रियमयमप्रापमयमवलेन साधनान् भावेन निश्चयेन स्वशुद्धात्मनि संयमनान् स्थितिकरणान् संयमो भवति वहिरंगमहकारि-रणमूलेन कामक्रोधविवर्जनलक्षणैः प्रतपरिरक्षणशीलेन निश्चयेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि मलानुभवनेन शीलं भवति । वहिरंगेन सहकारिकारणभूतानशनादिद्रादशविधनपश्चरने निश्चयनयेनाभ्यन्तरे समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन परमात्मस्वभावे प्रतपनाद्विजयनात्पश्चरने

पुण्यपापादि समस्त संकल्गविकल्परहित निजशुद्धात्मद्रव्यमें सम्यक् ध्यान इन चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप परम समाधिमें तिष्ठता सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्माने जुड़े जानता है ॥ ९३ ॥

ऐसे वहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मारूप तीनप्रकारके आत्माका जिसमें कथन है ऐसे पहले अधिकारमें मित्यादृष्टिकी भावनासे रहित जो सम्यग्दृष्टिकी भावना उसकी मुख्यतासे आठ दोहायत्र कहे । आगे भेदविज्ञानकी मुख्यतासे “अप्पा संजमु” इत्यादि इ-तीस दोहापर्यंत श्लोकमूत्रोको छोड़कर पहला अधिकार पूर्ण करते हुए व्याख्यान करते हैं उसमें भी जो निष्पत्ति प्रशस्त किया कि यदि पुण्यपापादिरूप आत्मा नहीं है तो कैसा है ऐसे प्रश्नका धीगुरु समाधान करते हैं,—[आत्मा] निजपुण्यपर्यायका धारक ज्ञान-स्वरूप चिदानंद ही [संयम] संयम है [शीलः तपः] शील है तप है [आत्मा] आत्मा [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन ज्ञान है और [आत्मानं जानन्] अपनेको जानता अनुभवता हुआ [आत्मा] आत्मा [शाश्वतमोक्षपदं] अविनाशी सुमहा स्थाव मोक्ष मार्ग है । इसी कथनको विशेषताकर कहने हैं । भावार्थ—पाच इन्द्रिया और मनका रोकना व छह कायके जीवोकी दया व्यवस्था ऐसे इन्द्रिय मयम तथा प्राणमयम इन दोनोंके बलसे साध्यमाधक भावकर निश्चयमें अपने शुद्धात्मव्यवस्थेमें स्थिर होनेमें आत्माको ज्ञान प्राप्त होता है । वहिर्ग-पश्चरने निश्चयनयेनाभ्यन्तरे समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन परमात्मस्वभावे प्रतपनाद्विजयनात्पश्चरने

भवति । स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिकरणाभिधायसम्यक्त्वं भवति । धीतरागम्यमंवेदन-
शान्तानुभवनाभिधायशानं भवति । मिथ्यान्वरागादिममत्वविकल्पजात्यागम परमान्वनन्दे,
परमममरसीभावपरिणमनाच्च मोक्षमार्गो भवतीति । अत्र बहिर्गद्वन्द्वेन्द्रियसंयमादिप्रतिपा-
दनादभ्यन्तरे शुद्धात्मालुभूतिरूपभावसंयमादिपरिणमनादुपादेयमुग्रसाध्यक-प्रादान्मैवोपादेय
इति तात्पर्यार्थः ॥ ९४ ॥

अथ स्वशुद्धात्ममंथिति विहाय निधयनयेनान्वद्वन्द्वज्ञानपात्रिन् नाम्नात्यभिप्रायं मनसि
संप्रदाये सूत्रं कथयति,—

२८ अणु जि दंसणु अत्थि णवि, अणुवि अत्थि ण णाणु ।

अणु जि चरणु ण अत्थि जिप, मिद्धिपि अण्णा जाणु ॥ ९५ ॥

अण्णं एव दर्शनं अस्ति नापि अन्यदपि अस्ति न ज्ञानं ।

अण्णं एव चरणं च अस्ति जीव मुक्त्वा आत्मानं जानीहि ॥ ९५ ॥

अणु जि दंसणु अत्थि णपि अणुजि अत्थि ण णाणु अणु जि चरणु ण अत्थि
जिप अन्यदेव दर्शनं नास्ति अन्यदेव ज्ञानं नास्ति अन्यदेव चरणं नास्ति न ज्ञानं । १. १.
हत्वा । मिद्धिपि अण्णा जाणु मुक्त्वा न्यक्त्या । कं । आत्मानं जानीहि । मधापि ।
यद्यपि बहुद्वन्द्वसंघातिकायगतप्रत्ययनवषदाधो । तात्पर्याधकभावेन निधयनस्य चरणात्पु-
न-
स्याग्ररूप प्रतकी रसा यह व्यवहारशील है और निधयकर अंतरंगमें अपने शुद्धात्मद्रव्यका

निर्मल अनुभव यह शील कहा जाता है सो शीलरूप आत्मा ही चरा गया है, बाह्य
साहकारी कारणभूत जो अनघनादि बाह्य प्रकारका तप है उससे तथा निधयकर अन्त-
रंगमें तब परद्रव्यकी इष्टांश शोकनेसे परमात्मस्वभाव (निजस्वभाव) में प्रतापक रूप निष्ठ
रहा है इसकारण और समस्तविभावपरिणामोंके जीतनेसे आत्मा ही 'तपश्चरण' है और
आत्मा ही निजस्वरूपकी रुचिररूप तत्त्वकत्व है वह सर्वथा उपादेयरूप है इससे तपश्चरणा
भी आत्मा ही है अन्य कोई नहीं है, धीतरागम्यसंवेदन शान्तके अनुभवसे आत्मा ही नि-
धयज्ञानरूप है और मिथ्यान्वरागादिममत्वविकल्पजात्यके त्यागकर परमात्मस्वरूपमें परम-
समरसीभावके परिणमनसे आत्मा ही मोक्षमार्ग है । तात्पर्य यह है कि बहिर्गद्वन्द्वेन्द्रिय-
संयमादिके प्राप्तनेसे अंतरंगमें शुद्धात्माके अनुभवरूप भावसंयमादिके परिणमनसे एव-
देयमुग्र जो अतीन्द्रियमुग्र उसके साधकपनेसे आत्मा ही उपादेय है ॥ ९४ ॥

आगे निजशुद्धात्मस्वरूपको छोड़कर निधयनयन दृग्गता कोई दर्शन नहीं है १. १. १. १.
नहीं है इस अभिप्रायको कनक रूपका साधकगुण कहने है—[हे ज्ञान
[आत्मानं] आत्माको [मुक्त्वा] छोड़कर [अन्यदपि] दृग्गता १. १. १. १.
दर्शन [न एव] नहीं है [अन्यदपि] अन्य कोई [ज्ञानं न अस्ति]

कृत्वा । अप्पा विमलु मुएवि मुक्त्वा त्यक्त्वा । कं । आत्मानं । कथंभूतं । विमलं रागा-
दिरहितमिति । तथाहि । यद्यपि व्यवहारनयेन निर्वाणस्यानचैत्यचैत्यालयादिकं तीर्थभूतपुरुष-
गुणस्मरणार्थं तीर्थं भवति तथापि वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपनिष्ठद्रव्योत्पत्तेन संसारममुद्रत-
रणममर्थत्वाभिध्रयनयेन स्वात्मतत्त्वमेव तीर्थं भवति तदुपदेशात्पारंपर्येण परमात्मतत्त्वला-
भो भवतीति । व्यवहारेण शिष्टादीश्लादायको यद्यपि गुरुर्भवति तथापि निध्रयनयेन पंचे-
द्रियविषयप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामपरित्यागकाले संसारविच्छित्तिकारणत्वान् स्वशुद्धात्मैव
गुरुः । यद्यपि प्राथमिकापेक्षया भविकल्पापेक्षया चित्तस्थितिकरणार्थं तीर्थकरपुण्यहेतुभूतं
साध्यसाधकभावेन परंपरया निर्वाणकारणं च जिनप्रतिमादिकं व्यवहारेण देवो भण्यते
तथापि निध्रयनयेन परमाराध्यत्वाद्बीतरागनिर्विकल्पसमाधिगुणपरमममाधिकाले श्वशुद्धात्मव्य-
भाव एव देव इति । एवं निध्रयव्यवहाराभ्यां साध्यसाधकभावेन तीर्थगुरुदेवतास्वरूपं
ज्ञानव्यमिति भावार्थः ॥ ९६ ॥

दूसरे [तीर्थ] तीर्थको [मा गच्छ] मत जावै [अन्यत् एव] दूसरे [गुरुं] गुरुको
[मा मेवस्य] मत सेवै [अन्यत् एव] अन्य [देवं] देवको [मा चित्तय] मत ध्यावै
[आत्मानं विमलं] रागादिमलरहित आत्माको [मुरत्वा] छोड़कर अर्थात् अपना
आत्मा ही तीर्थ है वहां रमण कर, आत्मा ही गुरु है उसकी सेवा कर, और आत्मा ही
देव है उसीकी आराधना कर । अपने सिवाय दूसरेका सेवन मत करे । इसी कथनको
वित्तरसे कहते हैं । भाषार्थ—यद्यपि व्यवहार नयसे मोक्षके स्थानक सम्बेदशिखर आदि
य जिनप्रतिमा जिनमंदिर आदि तीर्थ हैं क्योंकि वहां गये महान पुरुषोंके गुणोंकी याद
होती है तौभी वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप छेदरहित जिह्वाजकर संसाररूपी समुद्रके
तरनेको समर्थ जो निज आत्मतत्त्व है वही निध्रयकर तीर्थ है उसके उपदेश परंपरासे
परमात्मतत्त्वका ज्ञान होता है । यद्यपि व्यवहार नयकर दीक्षाशिक्षाका देनेवाला दिगंबर
गुरु होना है तौभी निध्रयनयकर विषय कषाय आदिक समय विभावपरिणामोंके त्याग-
नैके समय निजशुद्धात्मा ही गुरु है उसीसे संसारकी निवृत्ति होती है । यद्यपि प्रथम
अवस्थामें बिचकी स्थिरताकेलिये व्यवहारनयकर जिनप्रतिमादिक देव बदे जाते हैं और
वे परंपरासे निर्वाणके कारण हैं तौभी निध्रयनयकर परम आराधने योग्य वीतरागनिर्वि-
कल्प परमसमाधिके समय निज शुद्धात्मभाव ही देव है अन्य नहीं । इसप्रकार निध्रय
व्यवहारनयकर साध्यसाधक भावसे तीर्थ गुरु देवका स्वरूप जानना चाहिये । निध्रयदेव
निध्रयगुरु निध्रयतीर्थ निज आत्मा ही है वही साधने योग्य है और व्यवहार देव
जिनेंद्र तथा उनकी प्रतिमा, व्यवहार गुरु महामुनिराज, व्यवहार तीर्थ निद्र क्षेत्रादिक ये
सब निध्रयके साधक हैं इसलिये प्रथम अवस्थामें आराधने योग्य हैं । तदा निध्रयनयकर

अथ निर्मलमात्मानं ध्याय त्वं येन आतेनांतर्मुहूर्तेनैव मोक्षपदं लभ्यत इति निरूपयति;—

अस्या सायति निश्मन्तु, किं बहुन अप्पणेण ।

ओ सायंतह परमपदं, एन्मह एक्खणेण ॥ ९८ ॥

आत्मानं ध्यायन् निर्मलं किं बहुना अन्येन ।

यं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते एकक्षणेन ॥ ९८ ॥

अस्या सायति निश्मन्तु आत्मानं ध्यायन् । कथंभूतं । निर्मलं किं बहुन अप्पणेण किं बहुनाभ्येन शुद्धात्मवर्तिभूतेन रागादिविकल्पजालमात्राप्रपंचेन ओ सायंतह परमपदं एन्मह यं परमात्मानं ध्यायमानानां परमपदं लभ्यते । येन करणभूतेन । एक्खणेण एकक्षणेनांतर्मुहूर्तेनापि । तथाहि । समस्तगुणानुभवंस्त्वविकल्परहितेन स्वशुद्धात्मतत्त्व-ध्यानेनांतर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन तदेव निरंतरं ध्यानमिति । तथा चोक्तं बृहदारण्यकोपनिषत् । पोटनार्थेवगणां एकक्षणे तीर्थकरोन्पत्तिवासरे प्रथमे भामण्यधोप-गिरिष्ठिः अंतर्मुहूर्तेन निर्वृतः । अत्राह शिष्यः । यतंतर्मुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीमात्मात्वं लक्षणं कुर्वोणानां किं न भवति । परिहारमाह । यादृशं तेषां प्रथमसंहत-

येना है कि आत्माका निश्चय यह सम्यग्दर्शन है आत्माका जानना यह सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें निश्चल होना यह सम्यक् चारित्र है यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्षके कारण हैं इनसे बंध कैसे हो सकता है कभी नहीं हो सकता ॥ ९७ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जो निर्मल आत्माको ही ध्यावै जिसके ध्यान करनेसे अंतर्मुहूर्तमें (तत्काल) मोक्षपदकी प्राप्ति हो;—दे योगी तू [निर्मल आत्मानं] निर्मल आत्माका ही [ध्यायन्] ध्यान कर [अन्येन बहुना किं] और बहुत पदार्थोंसे क्या । देना काल पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है रागादिविकल्पजालके समूहोंके प्रपंचसे क्या फायदा एक निज स्वरूपको ध्यावो [यं] जिस परमात्माके [ध्यायमानानां] ध्यानकरनेवालोंको [एकक्षणेन] क्षणमात्रमें [परमपदं] मोक्षपद [लभ्यते] मिलता है । भावार्थ—सब गुणानुभवंस्त्वं विकल्परहित निजशुद्ध आत्म-स्वरूपके ध्यान करनेसे शीघ्र ही मोक्ष मिलती है इस लिये यही हमेशः ध्यान करने योग्य है । ऐसा ही बृहदारण्यक शास्त्रमें कहा है । सोलह तीर्थकरोँको एक ही समय तीर्थकरोँके उत्पत्तिके दिन पहले चारित्र ज्ञानकी सिद्धि हुई फिर अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होगई । यद्वापर शिष्य प्रश्न करता है कि यदि परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होती है तो इस समय ध्यानकरनेवाले हमलोगोंको क्यों नहीं होती । उसका समाधान इस तरह है कि जैसा निर्विकल्पशुद्धध्यान वज्ररूपभनाराच संहनना वालोंके चौथेकालमें होता है

नसहितानां शुद्धध्यानं भवति तादृशमिदानीं नास्तीति । तथा चोक्तं । “अत्रेदानीं निषेधंति शुद्धध्यानं जिनोत्तमाः । धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनं” । अत्र येन कारणेन परमात्मध्यानेनांतर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेन संसारस्थितिच्छेदनार्थमिदानीं नमपि तदेव ध्यातव्यमिति भावार्थः ॥ ९८ ॥

अथ यस्य रीतिरागमनसि शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि किं कुर्वतीति कथयति;—

अप्पा नियमणि णिम्मलउ, णियमें वसइ ण जासु ।

सत्थपुराणइं तवचरणु, सुक्खु जि करहिं कि तासु ॥ ९९ ॥

आत्मा निजमनसि निर्मलः नियमेन वसति न यस्य ।

शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं मोक्षं अपि कुर्वति किं तस्य ॥ ९९ ॥

अप्पा नियमणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु आत्मा निजमनसि निर्मलो नियमेन धमति निष्ठति न यस्य सत्थपुराणइं तवचरणु सुक्खु जि करहिं कि तासु शास्त्रपुराणानि तपश्चरणं च मोक्षमपि किं कुर्वति तस्येति । तद्यथा । रीतिरागमनसि च समाधिरूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्रपुराणतपश्चरणानि निरर्थकानि भवन्ति । तर्हि किं सर्वथा निष्कलानि । नैव । यदि रीतिरागमनस्यसवरूपस्य शुद्धात्मोपादेयमारता-

वैमा अथ नहीं होसकता । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें कहा है—“अत्रेत्यादि” इसका अर्थ यह है कि भीसर्गजरीतरागदेव इस भरतक्षेत्रमें इस पंचमकालमें शुद्धध्यानका निषेध करने हैं इस समय धर्मध्यान हो सकता है शुद्धध्यान नहीं हो सकता । उपशमभेदी और शतकभेदी दोनों ही इस समय नहीं हैं सातवां गुणस्थानतक गुणस्थान है ऊपरके गुणस्थान नहीं हैं । इस जगह तात्पर्य यह है कि जिस कारण परमात्माके ध्यानसे अंतर्मुहूर्तमें मोक्ष होती है इसलिये संसारकी स्थिति भटानेके बाधे अब भी धर्मध्यानका आराधन करना चाहिये जिसमें परंपराय मोक्ष भी निश्चयकनी है ॥ ९८ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जिसके रागरहित मनमें शुद्धात्माकी भावना नहीं है उसके शास्त्र पुराण तपश्चरण क्या करसकते हैं अर्थात् कुछभी नहीं कर सकते;—[यस्य] जिसके [निजमनसि] निज मनमें [निर्मलः प्राण्मा] निर्मल आत्मा [नियमेन] नियमसे [न धमति] नहीं रहता [तस्य] उस जीवके [शास्त्रपुराणानि] शास्त्र पुराण [तपश्चरणमपि] तपस्या भी [किं] क्या [मोक्षं] मोक्षको [कुर्वति] करसकते हैं कभी नहीं करसकते । भावार्थ—निजमनसि निर्मल आत्मभावना जिसके नहीं है उसके शास्त्र पुराण तपश्चरण से क्या अर्थ है । यही शिष्य प्रश्न करता है कि क्या रि-

सहितानि भवन्ति तदा मोक्षस्यैव बहिरंगसहकारिकारणानि भवन्ति तद्भावे पुण्यबंधकारणानि भवन्ति । मिथ्यात्वरागादिमहितानि पापबंधकारणानि च विद्यानुवादसंश्लिष्टशमपूर्वभुतं पठित्वा भर्गयुग्मादिवदिनि भावार्थः ॥ ९९ ॥

अथात्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवतीति दर्शयति;—

जोइय अप्पे जाणिण्ण, जगु जाणियउ ह्वेइ ।

अप्पहं केरइ भावइइ, विंयिउ जेण वसेइ ॥ १०० ॥

योगिन् आत्मना ज्ञातेन जगत् ज्ञातं भवति ।

आत्मनः कृते भावे विवितं येन वसति ॥ १०० ॥

जोइय अप्पे जाणिण्ण हे योगिन् आत्मना ज्ञातेन । किं भवति । जगु जाणियउ ह्वेइ जगद्भिभुवनं ज्ञातं भवति । कस्मान् । अप्पहं केरइ भावइइ विंयिउ जेण वसेइ आत्मनः संबंधिनि भावे केवलज्ञानपर्याये विवितं प्रतिविवितं येन कारणेन वसति निष्ठतीति । अयमर्थः । वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन परमात्मतत्त्वे ज्ञाते सति समस्तद्वादशांगगमस्वरूपं ज्ञातं भवति । कस्माद्यस्माद्रापवपांडवादयो महापुरुषा जिनरीतिं गृहीत्वा द्वादशांगं पठित्वा द्वादशांगाप्ययनफलभूते निश्चयरत्नप्रयात्मके परमात्मध्यानं निष्ठन्ति तेन कारणेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन निजात्मनि ज्ञाते सति सर्वं ज्ञातं भवतीति । अथवा

शुद्ध ही निरर्थक हैं । उसका समाधान ऐसा है कि विलकुल ही नहीं है लेकिन वीतराग सम्यक्स्वरूप निज शुद्धात्माकी भावना सहित हों तब तो मोक्षके ही बाध सहकारी कारण हैं यदि वे वीतरागसम्यक्त्वके अभावरूप हों तो पुण्यबंधके कारण हैं और जो मिथ्यास्वरागादि सहित हों तो पापबंधके कारण हैं जैसेकि रुद्ध बगैरः विद्यानुवादनामा द्वापे पूर्वतक शास्त्र पढ़कर भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ ९९ ॥

आगे जिन भव्यजीवोंने आत्मा जानलिया उन्होंने सब जाना ऐसा दिखलाते हैं;—
[हे योगिन्] हे योगी [आत्मना ज्ञातेन] एक अपने आत्माके जाननेमें [जगत् ज्ञातं भवति] यह तीन लोक जाना जाता है [येन] क्योंकि [आत्मनः कृते भावे] आत्माके भाव रूप केवलज्ञानमें [विवितं] यह लोक प्रतिविवित हुआ [वसति] वस रहा है । भावार्थ—वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानसे शुद्धात्मतत्त्वके जाननेपर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है । क्योंकि जैसे रामचंद्र पांडव भरत सगर आदि महान् पुरुष भी जिनराजकी दीक्षा लेकर फिर द्वादशांगकी पढ़कर द्वादशांग पढ़नेका फल मिथ्यारत्नप्रय स्वरूप जो शुद्धपरमात्मा उसके ध्यानमें लीन हुए निष्ठे । इसलिये वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानकर अपने आत्माका जानना ही सार है आत्माके जाननेमें सबका जानपना

प्रभाकरभट्ट श्रीण्यपि परिहृत्य । यत्रान्दि कुम् । णियमिं अण्णु विद्याणु निग्रयनननं
विजानीहीति । तद्यथा । मरुतविग्रदैकज्ञानम्यत्परमात्मपदार्थानं निग्रयननेन निनं
श्रीण्यपि धर्मार्थकामान् त्यक्त्वा वीतरागममवेदनन्यग्रणे शुद्धात्मानुभूतिज्ञाने मित्वाननं
जानीहीति भावार्थः ॥ १०७ ॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर, णाणु विद्याणइ जेण ।

तिपिण्यपि मिद्धिचि जाणि तुह्मं, अप्पा णाणं तेण ॥ १०८ ॥

आत्मा ज्ञानस्य गम्यः परः ज्ञानं विजानाति येन ।

श्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं आत्मानं ज्ञानेन तेन ॥ १०८ ॥

अप्पा णाणहं गम्मु पर आत्मा ज्ञानस्य गम्यो विषयः परः । कोयों । नियमेन ।
कस्मान् । णाणु विद्याणइ जेण ज्ञानं कर्तुं विजानात्यात्मानं येन कारणेन अतः कारणान्
तिपिण्यपि मिद्धिचि जाणि तुहु श्रीण्यपि मुक्त्वा जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट अप्पा णाणं
तेण । कं जानीहि । आत्मानं । केन । ज्ञानेन तेन कारणेनेति । तस्माद्दि । निजशुद्धात्मा
ज्ञानस्यैव गम्यः । कस्मादिति चेत् । मतिमानादिपंचकविकल्परहितं यत्परमपदं परमात्म-
न्याय्यं साक्षात्सोभकारणं तद्रूपो योसौ परमात्मा तमात्मानं वीतरागनिर्विकल्पस्वमवेद-
नज्ञानगुणेन विना दुर्धरानुष्ठानं कुर्वाणोपि बहवोपि न लभन्ते यतः कारणात् । तथा चोक्तं
समयसारे । “ णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहुवि ण लहंति । तं गिण्ह मुपदमेदं जइ
इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं ” । अत्र धर्मार्थकामादिसर्वपरद्वयेच्छां योमौ भुञ्चति स्वशुद्धात्मान-
मुत्तामृते हृमो भवति स एव निःपरिग्रहो भण्यते स एवात्मानं जानातीति भावार्थः ।

[ये अपि भिन्नाः] जो जुदे भाव हैं [तेषु] येमी [ज्ञानं न भवंति] ज्ञान नहीं हैं वे
सय भाव ज्ञानसे रहित जडरूप हैं [तान्] उन [त्रीणि अपि] धर्म अर्थ कामरूप
तीनों भावोंको [परिहृत्य] छोड़कर [नियमेन] निश्चयसे [आत्मानं] आत्माको
[त्वं] तू [विजानीहि] जान । भावार्थ—हे प्रभाकरभट्ट मुनिरूप धर्म, अर्थरूप संसा-
रके प्रयोजन, काम (विषयामिलाष) ये तीनों ही आत्मासे भिन्न हैं ज्ञानरूप नहीं हैं ।
निश्चयनयकरके सब तरफसे निर्मल केवल ज्ञानस्वरूप परमात्मपदार्थसे भिन्न तीनों ही धर्म
अर्थ काम पुरुषार्थोंको छोड़कर वीतराग स्वमवेदनस्वरूप शुद्धात्मानुभवरूपज्ञानमें रहकर
आत्माको जान ॥ १०७ ॥

आगे आत्माका स्वरूप दिखलाते हैं;—[आत्मा] आत्मा [परः] नियमसे [ज्ञानस्य]
ज्ञानके [गम्यः] गोचर है [येन] क्योंकि [ज्ञानं] ज्ञान ही [विजानाति] आत्माको
जानता है [तेन] इसलिये [त्वं] हे प्रभाकरभट्ट तू [त्रीणि अपि] धर्म अर्थ
काम इन तीनोंही भावोंको छोड़कर [ज्ञानेन] ज्ञानमें [आत्मानं] निजआत्माको

एतत् ५ । “अपरिग्रहो अगिन्दो भणिओ णाणी दु णिच्छदे धम्मं । अपरिग्रहो दु धम्मरस जाणगो सेण सो होदि” ॥ १०८ ॥

अथ;—

णाणिय णाणिउ णाणिण णाणिउं जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणि णाणमउं, किं पर चंभु लहेहि ॥ १०९ ॥

शानिन् शानी शानिना शानिनं यावत् न जानासि ।

तावत् अजानेन शानमयं किं परं ब्रह्म समसे ॥ १०९ ॥

णाणिय हे शानिन् णाणिउ शानी निजाला णाणिण शानिना निजालना करण-
भूतेन । कथंभूतो निजाला । णाणिउ शानी ज्ञानलक्षणः समित्यंभूतमात्मानं जा ण
मुणेहि यावत्कालं न जानामि ता अण्णाणि णाणमउं तावत्कालमज्ञानेन मिथ्यात्वरा-

[जानीहि] ज्ञान । भावार्थ—निजशुद्धात्मा ज्ञानके ही गोचर (जानने योग्य) है
क्योंकि मतिज्ञानादि पांच भेदोद्बिन्न जो परमात्मशब्दका अर्थ परमपद है वही साक्षात्
मोक्षका कारण है उस स्वरूप परमात्माको वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानके बिना
दुर्धर तपके करनेवाले भी बहुतसे प्राणी नहीं पाते । इसलिये ज्ञानसे ही अपना स्वरूप
अनुभव कर । ऐसा ही कथन श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने समयसारनीमें किया है “जाणमुणेहि”
इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि सम्मग्नज्ञान नामा निज गुणसे रहित पुरुष इस ब्रह्मपदको
बहुत कष्ट करके भी नहीं पाते अर्थात् जो महान दुर्धर तप करौ तौभी नहीं मिलता ।
इसलिये जो तू दुःखसे छूटना चाहता है सिद्धपदकी इच्छा रखता है तो आत्मज्ञानकर
निजपदको प्राप्त कर । यहां सारांश यह है कि जो धर्म अर्थ कामादि सब परद्रव्यकी
इच्छाको छोड़ता है वही निज शुद्धात्मस्वरूप अमूलमें वृत्त हुआ सिद्धांतमें परिमहरहित
कहा जाता है और निर्मम कहा जाता है और वही अपने आत्माको जानता है । ऐसा
ही समयसारनीमें कहा है “अपरिग्रहो” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जिन-
सिद्धांतमें परिमहरहित और इच्छारहित ज्ञानी कहा गया है जो धर्मको भी नहीं चाहता
है अर्थात् जिसके व्यवहारधर्मकी भी कामना नहीं है उसके अर्थ तथा कामकी इच्छा
कहांसे होवे । वह आत्मज्ञानी सब अमिलापाओसे रहित है जिसके धर्मका भी परिमह नहीं
है तो अन्य परिमह कहांसे हो इसलिये वह ज्ञानी परिमही नहीं है केवल निजस्वरूपका
जाननेवाला ही होता है ॥ १०८ ॥

आगे ज्ञानसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है ऐसा कहते हैं;—[हे शानिन्] हे शानी
[शानी] शानवान् अपना आत्मा [शानिना] सम्मग्नज्ञानकरके [शानिनं] ज्ञानवश-
न-

गादिविकल्पजालेन ज्ञानमयं । किं परं वंशु लहेहि किं परमुच्छृष्टं ब्रह्ममात्रं लभमे हि
तु नैवेति । तद्यथा । यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन
आत्मने निमित्तं आत्मनः सकाशान् आत्मनि स्थितं समन्तरागादिविकल्पजालं मुक्त्वा
न जानासि तावत्कालं परमब्रह्मशब्दवाच्यं निर्दोषिपरमात्मानं किं लभमे नैवेति
भावार्थः ॥ १०९ ॥

अथानन्तरं सूत्रचतुष्टयेनान्तरस्थले परलोकशब्दव्युत्पत्त्यथा परलोकशब्दवाच्यं परमात्मानं
कथयति;—

जोइज्जइ तिं वंशु पर, जाणिज्जइ तिं सोइ ।

वंशु मुणेविणु जेण लहु, गम्मिज्जइ परलोइ ॥ ११० ॥

दृश्यते तेन ब्रह्म परः ज्ञायते तेन स एव ।

ब्रह्म मत्वा येन लघु गम्यते परलोके ॥ ११० ॥

जोइज्जइ दृश्यते तिं तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा । कोसौ दृश्यते । वंशु पर ब्रह्म-
शब्दवाच्यः शुद्धात्मा । कथंभूतः । परः उत्कृष्टः । अथवा पर इति पाठे नियमेन । न
केवलं दृश्यते जाणिज्जइ ज्ञायते तेन पुरुषेण तेन कारणेन वा सोइ स एव शुद्धात्मा ।
केन कारणेन । वंशु मुणेविणु जेण लहु येन पुरुषेण येन कारणेन वा ब्रह्मशब्दवाच्यनि-
र्दोषिपरमात्मानं मत्वा ज्ञात्वा पश्चान् गमिज्जइ परलोइ तेनैव पूर्वोक्तेन ब्रह्मस्वरूपे परिष्ठा-

षाले आत्माको [यावत्] जबतक [न] नहीं [जानासि] जानता [तावत्] त-
तक [अज्ञानेन] अज्ञानी होनेसे [ज्ञानमयं] ज्ञानमय [परं ब्रह्म] अपने स्वरूपको
[किं लभसे] क्या पासकता है कभी नहीं पासकता । जो कोई आत्माको पाता है तो
ज्ञानसे ही पासकता है । भावार्थ—जबतक यह जीव अपनेको आपकर अपनी प्राप्तिके
लिये आपसे अपनेमें तिष्ठता नहीं जान ले तबतक निर्दोष शुद्ध परमात्मा सिद्ध परमेष्टीको
क्या पासकता है कभी नहीं पासकता । जो आत्माको जानता है वही परमात्माको
जानता है ॥ १०९ ॥

इसप्रकार प्रथम मदासलमें चार दोहाओंकर अन्तरस्थलमें ज्ञानका व्याख्यान किया ।
आगे चार सूत्रोंकर अन्तरस्थलमें परलोक शब्दकी व्युत्पत्तिकर परलोक शब्दमें परमात्माको
ही कहते हैं;—[तेन] उस कारणसे उसी पुरुषसे [परः ब्रह्म] शुद्धात्मा नियमसे
[दृश्यते] देखा जाता है [तेन] उमी पुरुषमें निश्चयसे [स एव] वही शुद्धात्मा
[ज्ञायते] जाना जाता है [येन] जो पुरुष निमित्तकारण [ब्रह्म मत्वा] अपना स्वरूप
जानकर [परलोके लघु गम्यते] परमात्मनस्त्वमें शीघ्र ही प्राप्त होना दे । भावार्थ—जो

नपुंसकेण तेनैव कारणेन वा गम्यते । क । परलोके परलोकप्रवृत्त्याय परमात्मतत्त्वे ।
 ति च । योमौ शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण केवलज्ञानदर्शनस्वभावः परमात्मा स सर्वेषां
 मूर्धन्येन्द्रियादिजीवानां शरीरे पृथक् पृथक् रूपेण तिष्ठति स एव परमब्रह्मा स एव परम-
 विष्णुः स एव परमशिवः इति, व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवानर्हन्नेव मुक्तिगतसिद्धात्मा व
 परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते । तेन नान्यः कोपि परिकल्पितः जगद्ग्रापी तथैवै-
 को परमब्रह्मा शिवो वाप्सीति । अयमत्रार्थः । यत्रामौ मुक्तात्मा लोकामे तिष्ठति स एव
 ब्रह्मलोकः न एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोपीति भावार्थः ॥ ११० ॥

अथ,—

मुनिवरविंदहं हरिहरहं, जो मणि गियसइ देउ ।

परहं जि परतरु णाणमउ, सो बुचइ परलोउ ॥ १११ ॥

मुनिवरधुंदानां हरिहराणां यः मनसि निवसति देवः ।

परस्मात् अपि परतरः ज्ञानमयः स उच्यते परलोकः ॥ १११ ॥

मुनिवरविंदहं हरिहरहं मुनिवरधुंदानां हरिहराणां च जो मणि गियसइ देउ

कोई शुद्धात्मा अपना स्वरूप शुद्ध निश्चयनयकर शक्तिरूपसे केवलज्ञान केवलदर्शन
 स्वभाव है वही ब्रह्मवर्मे (असलमें) परमेश्वर है । परमेश्वरमें और जीवमें जातिभेद नहीं
 है जयतक कर्मोंसे बंधा हुआ है तयतक संसारमें भ्रमण करता है । सूक्ष्म वादर एकेन्द्रि-
 यादि जीवोंके शरीरमें जुदा जुदा तिष्ठता है और जब कर्मोंसे रहित होजाता है तब सिद्ध
 कहलाता है । संसारअवस्थामें शक्तिरूप परमात्मा है और सिद्ध अवस्थामें व्यक्तिरूप
 है । यही आत्मा परब्रह्म परमविष्णु परमशिव शक्तिरूप है और प्रगटरूपसे भगवान् अर्हत
 अथवा मुक्तिको प्राप्त हुए सिद्धात्मा ही परमब्रह्मा परमविष्णु परमशिव कहे जाते हैं ।
 यह निश्चयसे जानो । ऐसा कहनेसे अन्य कोई भी कल्पना किया हुआ जगतमें व्यापक
 परमब्रह्म परमविष्णु परमशिव नहीं है । सारांश यह है कि जिसलोकके शिखरपर अनंत,
 सिद्ध विराज रहे हैं वही लोकका शिखर परम धाम ब्रह्मलोक वही विष्णुलोक और
 वही शिवलोक है अन्य कोईभी ब्रह्मलोक विष्णुलोक शिवलोक नहीं है । ये सब निर्वाण
 क्षेत्रके नाम हैं और ब्रह्मा विष्णु शिव ये सब सिद्ध परमेष्ठीके नाम हैं । सो भगवान् तो
 व्यक्तिरूप परमात्मा हैं तथा यह जीव शक्तिरूप परमात्मा है । इसमें सदेह नहीं है ।
 जितने भगवान् के उतने सब शक्तिरूप इस जीवके नाम हैं । यह जीव ही शुद्धनयकर
 भगवान् है ॥ ११० ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि भगवान् का ही नाम परलोक है;—[यः] जो आत्मदेव
 [मुनिवरधुंदानां हरिहराणां] मुनीश्वरोंके समूह के तथा इद्र वा वासुदेव, रद्रोंके

रम्यमानः अनुभवमिति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । आत्माभ्यन्तरपरिग्रहितः मनुष्यात्मनोत्पन्नवीतरागपरमानंदसहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तद्वेन्द्रादयोपि न लभन्त इति । तथा चोक्तं । “दृष्टमाने जगत्स्मिन्महता मोहवद्भिना । विमुक्तविषयामंगाः सुखात्ते तपोधनाः ॥ ११८ ॥

अप्पादंसणि जिणवरहं, जं सुहु होइ अणंतु ।

तं सुहु लहइ विराउ जिउ, जाणंतउ सिउ संतु ॥ ११९ ॥

आत्मदर्शने जिनवराणां यत् सुखं भवति अनंतं ।

तत् सुखं लभते विरागः जीवः जानन् शिवं गांतं ॥ ११९ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पादंसणि निजशुद्धात्मदर्शने जिणवरहं छद्मस्वावस्थायां जिनवराणां जं सुहु होइ अणंतु यत्सुखं भवत्यनंतं तं सुहु तत्पूर्वोक्तसुखं लहइ लभते । कोमां विराउ जिउ वीतरागभावनापरिणतो जीवः । किं कुर्वन् सन् । जाणंतउ जानन्नुभव सन् । फं । सिउ शिवशब्दवाच्यं निजशुद्धात्मस्वभावं । कथंभूतं । संतु गांतं रागादि विभावरहितमिति । अयमत्र भावार्थः । दीक्षाकाले शिवशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मानुभवं यत्सुखं भवति जिनवराणां वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतो जीवस्तत्सुखं लभन् इति ॥ ११९ ॥

रमता हुआ [नैव] नहीं [लभते] पाता ॥ भावार्थ—बाह्य और अंतरंग परिग्रहित रहित निज शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ जो वीतराग परमानंद उसकर सहित महा मुनि जो सुख पाता है उस सुखको इंद्रादिक भी नहीं पाते । जगतमें सुखी साधु ही । अन्य कोई नहीं । यही कथन अन्यशास्त्रोंमें भी कहा है—“दृष्टमाने इत्यादि” इनका अर्थ ऐसा है कि महामोहरूपी अमिसे जलते हुए इस जगत्में देव मनुष्य तीर्थंकर नारक सब दुःखी हैं और जिनके तप ही धन है तथा सब विषयोंका संबंध जिन्होंने छोड़ दिया है ऐसे साधु मुनि ही इस जगतमें सुखी हैं ॥ ११८ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि वैरागी मुनि ही निज आत्माको जानते हुए निर्विकल्प सुखको पाते हैं—[आत्मदर्शने] निजशुद्धात्माके दर्शनमें [यन् अनंतं सुखं] जो अनंत अद्भुत सुख [जिनवराणां] मुनि अवस्थामें जिनेश्वर देवोंके [भवति] होता है [तत्सुखं] वह सुख [विरागः जीवः] वीतराग भावनाको परिणत हुआ मुनिराज [जिं गांतं जानन्] निज शुद्धात्मस्वभावको तथा रागादिरहित ज्ञान भावको जानना हुआ [लभते] पाता है । भावार्थ—दीक्षाके समय तीर्थंकरदेव निज शुद्ध आत्माके अनुभवते हुए जो निर्विकल्प सुख पाते हैं वही सुख रागादिरहित निर्विकल्प समाधिमें स्थित मुनि पाते हैं ॥ ११९ ॥

अथ कामक्रोधादिपरिहारेण शिवशब्दवाच्यः परमात्मा दृश्यत इत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य सूत्रमिदं कथयन्ति,—

जोह्य नियमणि निम्मलण्, पर दीसइ सिउ संतु ।

अंघरे निम्मलि घणरहिण्, भाणु जि जेम फुरंतु ॥ १२० ॥

योगिन् निजमनसि निर्मले परं दृश्यते शिवः शान्तः ।

अंघरे निर्मले घनरहिने भानुः इव यथा स्फुरन् ॥ १२० ॥

जोह्य इत्यादि । जोह्य हे योगिन् नियमणि निजमनसि । कथंभूते । निम्मलण् निर्मले परं नियमेन दीप्तं दृश्यते । कोयौ । कर्मतापन्नः सिउ शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा । कथंभूतः । संतु शान्तः रागादिरहितः । दृष्टान्माद् । अंघरे आकाशे । कथंभूते । निम्मलि निर्मले । घनरहिण् घनरहिते । क इव । भाणु जि भानुरिव यथा । किं बुद्धम् । फुरंतु स्फुरन् प्रकाशमान इति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यथा घनपटाटोपविषट्के मति निर्मलाकाशे दिनकरः प्रकाशते तथा शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षभूतानां कामक्रोधादिविकल्परूपघनानां विनाशे मति निर्मलचिन्ताशये केवलज्ञानाद्यनंतगुणकरकलितः निजशुद्धात्मादितः प्रकाशं करोतीति ॥ १२० ॥

अथ यथा मलिने दर्पणे रूपं न दृश्यते तथा रागादिमलिनचित्ते शुद्धात्मस्वरूपं न दृश्यत इति विरूपयन्ति,—

राणं रंगिण् दिपयटण्, देउ ण दीसइ संतु ।

दप्पणि मइलइ विंधु जिम, एहउ जाणि निमंतु ॥ १२१ ॥

रागेन रंजिते हृदये देवः न दृश्यते शान्तः ।

दर्पणे मलिने विंधं यथा एतन् जानीहि निर्भातं ॥ १२१ ॥

आगे काम क्रोधादिकके त्यागनेसे शिव शब्दसे कहा गया परमात्मा दीप्त जाता है ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथागूत्र कहते हैं,—[योगिन्] हे योगी [निर्मले निजमनसि] निर्मल अपने मनमें [शिवः शान्तः] निज परमात्मा रागादि रहित [परं] नियमसे [दृश्यते] दीप्तता है [यथा] जैसे [घनरहिने निर्मले] बादल रहित निर्मल [अंघरे] आकाशमें [स्फुरन्] भासमान (प्रकाशमान) [भानुः इव] सूर्यके समान । भावार्थ—जैसे मेघमालाके आडंबरसे सूर्य नहीं भासता और मेघके आडंबरके दूर होनेपर निर्मल आकाशमें सूर्य प्रगट दीखता है उसी तरह शुद्धात्माकी अनुभूतिके शुधु जो कामक्रोधादि विकल्परूप मेघ हैं उनके नाश होनेपर निर्मल मनरूपी आकाशमें केवलज्ञानादि अनंतगुणरूप किरणोंकर सहित निज शुद्धात्मारूपी सूर्य प्रकाश करता है ॥ १२० ॥

आगे जैसे मैले दर्पणमें रूप नहीं दीखता उसीतरह रागादिकर मलिन चित्तमें शुद्ध

तथाहि । पूर्वमूत्रकभितेन चित्ताकुलोत्पादकेन स्त्रीरूपावलोकनसेवनचिंतादिममुत्पन्नेन रागादिकलोलमालाजालेन रहिते निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानसहजसमुत्पन्नीतरागपरमसुखसुधारसम्यकरूपेण निर्मलनीरेण पूर्णे वीतरागस्समवेदनजनितमानमसरोवरे परमात्मा लीन-
स्तिष्ठति । कथंभूतः । निर्मलगुणसादृश्येन हंस इव हंमपक्षि इव । कुत्र प्रसिद्धः ।
सरोवरे । हंस इवेत्यभिप्रायो भगवतां श्रीयोगीन्द्रदेवानां ॥ १२३ ॥

उक्तं च;—

देउ ण देउलि णचि सिलइ, णचि लिप्पइ णचि चित्ति ।

अखउ णिरंजणु णाणमउ, सिउ संठिउ समचिचि ॥ १२४ ॥

देवः न देवकुले नैव शिलायां नैव लेपे नैव चित्रे ।

अक्षयः निरंजनः ज्ञानमयः शिवः संसितः समचिचे ॥ १२४ ॥

देउ इत्यादि । देउ देवः परमाराध्यः ण नास्ति । कस्मिन् कस्मिन् नास्ति । देउते देवकुले देवतागृहे णचि सिलइ नैव शिलाप्रतिमायां णचि लिप्पइ नैव लेपप्रतिमायां णचि चित्ति नैव चित्रप्रतिमायां । तर्हि क तिष्ठति । निश्चयेन अखउ अभयः निरंजणु कर्माजनरहितः । पुनरपि ठि विशिष्टः । णाणमउ ज्ञानमयः केवलज्ञानेन निर्द्वन्द्वः सिउ शिवशब्दवाच्यो निजपरमात्मा । एवं गुणविशिष्टः परमात्मा देव इति । संठिउ संश्रितः

सो हं प्रभाकरभट्ट [मम] गुणे [एवं] ऐमा [प्रतिभाति] मान्म पडता है । ऐमा बचन श्री योगीन्द्रदेवने प्रभाकरभट्टसे कहा । भावार्थ—पहले दोहेमें जो कहा था कि चित्तको भाकुलताके उपजानेवाले स्त्रीरूपका देवता सेवन चिंतादिकोंने उत्पन्न हुए रागादि-
तरंगोंके समूह हैं उनकर रहित निज शुद्धात्म द्रव्यका सम्यक् भद्धान स्वामानिकज्ञान उपमे उत्पन्न वीतराग परमसुखरूप अमृतरस उत्तमस्वरूप निर्मलनीरसे भरे हुए शान्तिमोहि मानसरोवरमें परमात्मादेवकी हंम निरंतर रहता है । वह आत्मदेव निर्मलगुणोंकी उच्च-
तत्त्व हंस समान है । जैसे हंसोंका नियाससाग मानसरोवर है वैसे प्रभुका नियाससाग शान्तिमोका निर्मलचिचि है । ऐमा श्री योगीन्द्रदेवका अभिप्राय है ॥ १२३ ॥

आगे इसी बातको हट करके हैं;— [देवः] आत्मदेव [देवकुले] देवालयमें (मंदिरमें) [न] नहीं है [शिलायां नैव] पाषाणकी प्रतिमामें भी नहीं है [लेपे नैव] लेपमें भी नहीं है [चित्रे नैव] चित्रामकी मूर्तिमें भी नहीं है । लेप को चित्रमकी मूर्ति कोइह वन बनाने है पटितजन तो धानुपाषाणकी ही प्रतिमा मानो है को कोइह दृष्टान्तकेद्वय दोहामें लेप चित्रामका भी नाम आगया । वह देव तिमै उग्रह उग्र हट्टा । वह देव [अक्षयः] अविनाशी है [निरंजनः] कर्माजनरहित है [ज्ञानमयः] वह सब ज्ञानका रस है [शिवः] ऐमा निज परमात्मा [समचिचे]

समचित्ति समभावे समभावपरिणतमनसि इति । तथा । यद्यपि व्यवहारेण धर्मवर्तना-
मिति संस्थापनारूपेण पूर्वोक्तगुणलक्षणो देवो देवगृहादौ तिष्ठति तथापि निश्चयेन शशुमित्र-
सुखदुःखजीविनमरणविममत्तारूपे धीतरागसहजानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसम्यक्भट्टानशाना-
नुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयान्यकसमचित्ते समानन्दवाच्यः परमात्मा तिष्ठतीति भावार्थः ॥
तथा चोक्तं समचित्तपरिणतममणलक्षणं । “समसत्तुषंधुवगो समसुहदुक्खो पसंसणि-
इममो । समलोडु कंचणोपि य जीवियमरणे समो समणो ॥ १२४ ॥ इत्येकत्रिंशत्सूत्रै-
श्चुलिकाखलं शनं ।

अथ खलगंल्यायाहं प्रक्षेपकद्वयं कथ्यते;—

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरुवि मणस्स ।

धीदियि समरसि ह्याहं, पुअ चडावउं कस्स ॥ १२५ ॥

मनः मिलितं, परमेश्वरस्य परमेश्वरः अपि मनसः ।

द्वयोरपि समरसयोः मृतयोः पूजां समारोपयामि कस्य ॥ १२५ ॥

मणु इत्यादि । मणु मनो विकल्परूपं मिलियउ मिलितं तन्मयं जानं । कस्य
संबंधित्वेन । परमेसरहं परमेश्वरस्य परमेसरुवि मणस्स परमेश्वरोपि मनःसंबंधित्वेन लीनो

संस्थितः] समभावमें तिष्ठता है अर्थात् समभावको परिणत हुए साधुओंके मनमें
विराज रहा है अन्य जगह नहीं है । भावार्थ—यद्यपि व्यवहारनयकर धर्मकी प्रवृत्तिके-
लिये स्थापनारूप अर्हंतदेव देवालयमें तिष्ठता है धातुपापाणकी प्रतिमाको देव कहते
हैं तौभी निश्चयनयकर शशुमित्र सुखदुःख जीवितमरण जिसमें समान है तथा धीतराग
सहजानंदरूप परमात्मतत्त्वका सम्यक् भट्टान ज्ञान चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमें लीन ऐसे
ज्ञानियोंके सम चित्तमें परमात्मा तिष्ठता है । ऐसाही अन्यजगह भी समचित्तको परिणत
हुए मुनियोंका लक्षण कहा है । “समसत्तु” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जिसके सुख
दुःख समान है, शशुमित्र वर्ग समान है, प्रशंसा निंदा समान हैं, परवर और सोना समान
है, और जीवन मरण जिसके समान हैं ऐसा समभावका धारण करनेवाला मुनि
होता है । अर्थात् ऐसे समभावके धारक शांतचित्त योगीधरोंके चित्तमें चिदानंद देव
तिष्ठता है ॥ १२४ ॥

इस प्रकार इकतीस दोहासूत्रोंकर चुलिका खल कहा । चुलिका नाम अंतका है सो
पहले खलका अंत यदांतक हुआ । आगे खलकी सख्यासे सिवाय दो प्रक्षेपक दोहा
कहते हैं;—[मनः] विकल्परूप मन [परमेश्वरस्य मिलितं] भगवान् आत्मारामसे
मिलगया तन्मई दोगया [परमेश्वरः अपि] और परमेश्वर भी [मनसः] मनसे

जनः बीद्विंशति समरसि ह्वाहं एवं द्वयोरपि समरमीयूतयोः पुञ्ज पूजां चकार
 मनारोगानि । कस्म कस्य निभयनयेन न कस्यापीति । अयमत्र भाषार्थः । इती
 व्यञ्जाननेन गृह्यगव्यायां विषयकषायदुष्कर्णवंचनार्थं धर्मवर्धनार्थं च पूजाभिरुक्त-
 नादिभ्यश्चोक्तिं तयापि बीनरागनिर्विकल्पममाधिरुतानां तत्काले बहिरंगमागत-
 भावात् स्वस्मेव नर्तानि ॥ १२५ ॥

जैज गिरंजणि मणु धरिउ, विसगकसायहिं जंतु ।

मोक्षतहं कारणु एसादउ, अणु ण तंतु ण मंतु ॥ १२६ ॥

येन निरंजने मनः धृते विषयकषायेषु गच्छत् ।

मोक्षस्य कारणे एतावदेव अन्यः न तंत्रः न भंत्रः ॥ १२६ ॥

मनो धीमतामनिर्विकल्पमवेदज्ञानवन्तेन व्याप्यते निजगुणानुभवेन ज्ञानवन्ति यः स एव
मोक्षं लभते नान्यो मंत्रगंधादिवन्निष्ठोपीति भाषायः ॥ १२६ ॥

एवं परमान्मप्रकाशवृत्तौ प्रक्षेपवन्तं विनाय इदं विवक्षितं पुनस्तत्त्वतीतवत्तुद्वैतवत्तु
स्मप्रतिपादयन्तामा प्रथममहाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

जीव गुणानुभवकी भावनामे कष्टे विषयवृत्तयोर्मे ज्ञाने कृत्वा ज्ञानं संप्रतिपादयन्
स्वयंवेदन ज्ञानके वन्ते पीछे दृष्टाव निजगुणानुभवेन व्याप्यते यः स एव
पाना हे दृष्टा कोई मंत्र मंत्रादिमें कृत्वा होनेपर भी मोक्ष नहीं पाना ॥ १२६ ॥

इतस्तद् परमान्मप्रकाशवृत्तौ टीका में तीन टोपकों में विषय वृत्तों के विनाय
कोई बहिर्भावा अंतरात्मा परमात्मारूप तीनपक्षों आत्मवत् स्वयंवेदन व्याप्य
धिकार पूर्ण किया ॥ १ ॥

संज्ञितं ज्ञानं समाप्तम् ।

श्रीवार्त्त ६ ।



अत ऊर्ध्वं स्थलसंस्थावहिर्भूतान् प्रप्रेषकान् विहाय चतुर्दशाधिकमतद्वयमस्तिनेर-
सूत्रैर्मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयमहाधिकारः शारभ्यते । तस्मै
सूत्रदशकपर्यंतं मोक्षमुख्यतया व्याख्यानं करोति । तद्यथा;—

सिरिगुरु अक्खहिं मुक्खु महु, मुक्खहं कारणं तत्थु ।

मोक्खहं केरउ अण्णु फल्लु, जें जाणउं परमतथु ॥ १२७ ॥

श्रीगुरो आख्याहि मोक्षं मम मोक्षस्य कारणं तत्त्वं ।

मोक्षस्य संबंधि अन्यन् फलं येन जानामि परमार्थ ॥ १२७ ॥

सिरि गुरु इत्यादि । सिरिगुरु हे श्रीगुरो योगीन्द्रदेव अक्खहिं कथय मोक्षं मे
महु मम, न केवलं मोक्षं मोक्खहं कारणं मोक्षस्य कारणं । कथंभूतं । तत्थु तत्त्वं
मोक्खहं केरउ मोक्षस्य संबंधि अण्णु अन्यन् । किं । फल्लु फलं । एतच्चयेन ज्ञातेन किं
भवति । जें जाणउं येन त्रयस्य व्याख्यानेन जानाम्यहं कर्ता । कं । परमतथु परमार्थ-
मिति । तद्यथा । प्रभाकरमहः श्रीयोगीन्द्रदेवान् विज्ञाय मोक्षं मोक्षफलं मोक्षसारमिति
त्रयं पृच्छतीति भावार्थः ॥ १२७ ॥

अथ तदेव त्रयं क्रमेण भगवान् कथयति;—

जोइय मुक्खुयि मोक्खफल्लु, पुच्छिउ मोक्खहं हेउ ।

मो जिणमामिउ णिसुणि तुहं जेणयिथाणहि भेउ ॥ १२८ ॥

योगिन् मोक्षोपि मोक्षफलं पृष्टं मोक्षस्य हेतुः ।

तन् विनमाशितं निश्चयं त्वं येन विज्ञानासि भेदं ॥ १२८ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् मुक्खुयि मोक्षोपि मुक्खफल्लु मोक्षफलं पुच्छिउ

हमके बाद प्रहसनकी सन्ध्याके बाहर अर्धात् शेषकोटि विहाय दोसी बौद्ध दोह-
बोने मोक्ष मोक्षफल और मोक्षमार्गके कथनकी मुख्यतामे दूसरा महा अधिकार भावि
करने दे । हमने भी पहले हम दोहा तक मोक्षकी मुख्यतामे व्याख्यान करने दे;—
[हे श्रीगुरो] हे श्रीगुरु [मम] मुझे [मोक्ष] मोक्ष [तत्त्वं मोक्षस्य कारण]
सत्यार्थ मोक्षका कारण [अन्यन्] और [मोक्षस्य संबंधि] मोक्षका [फल] पर
[व्याख्यादि] इत्यादि कहे [येन] विनमे कि मे [परमार्थ] परमार्थको [जानामि]
जाने ॥ भावार्थ—यनाकरमह श्रीयोगीन्द्रदेवमे विनतीकाके मोक्ष, मोक्षका कारण और
मोक्षका फल इन तीनोंको पूछता दे ॥ १२० ॥

अथ जोइय जोइय दोहो क्रमेण कहने दे,—[योगिन्] हे योगी तूने [मोक्षोपि]
मोक्ष और [मोक्षफल्लु] मोक्षका फल तथा [मोक्षस्य] मोक्षका [हेतुः] कारण

पृष्टं त्वया पदभूतेन । पुनरपि कः पृष्टः । मोक्षरहं हेतु मोक्षस्य हेतुः कारणं । तन्नयं जिणभासितं जिनभाषितं जिसुणि निश्चयेन शृणु समाकर्णय जेण येन प्रयेण हातेन पियाणाहि भेउ विजानासि भेदं प्रयाणां संबंधिनमिति । अयमत्र सात्पर्यार्थः । श्रीयोगीन्द्रदेवाः कथयन्ति हे प्रभाकरभट्ट शुद्धात्मोपलब्धमोक्षं मोक्षं केवलज्ञानाग्नंतचतुष्टयव्यतिरूपं मोक्षफलं भेदाभेदरसत्रयात्मकं मोक्षमार्गं च क्रमेण प्रतिपादयाम्यहं त्वं शृण्वनि ॥ १२८ ॥

अथ धर्मार्थकाममोक्षाणां मध्ये मुरकारणत्वान्मोक्ष एवोत्तम इति अभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

धम्महं अत्थहं कामहंवि, एयहं सयलहं मोक्खु ।

उत्तमु पभणहि णाणि जिय, अण्णं जेण ण सुक्खु ॥ १२९ ॥

धर्मस्य अर्थस्य कामस्यापि एतेषां सकलानां मोक्षं ।

उत्तमं प्रभणंति ज्ञानिनः जीव अन्येन येन न सुखं ॥ १२९ ॥

धम्महं इत्यादि । धम्महं धर्मस्य धर्माद्वा अत्थहं अर्थस्य अर्थोद्वा कामहंवि कामस्यापि कामाद्वा एयहं सयलहं एतेषां सकलानां संबंधित्वेन एतेभ्यो वा सकाशान् मोक्खु मोक्षं उत्तमु पभणहि उत्तमं विनिष्टं प्रभणंति । के कथयन्ति । णाणि ज्ञानिनः जिय हे जीव । कम्मादुत्तमं प्रभणंति मोक्षं । अण्णइ अन्येन धर्मार्थकामादिना जेण येन कारणेन ण सोक्खु नानि परमसुखं इति । तथावा—धर्मशब्देनात्र पुण्यं कथ्यते अर्थश-

[पृष्टं] पूछा [तत्] उसको [जिनभाषितं] जिनेश्वरदेवके कहे प्रमाण [त्वं] तू [निशृणु] निश्चयकर सुन [येन] जिससे कि [भेदं] भेद [विजानासि] अच्छी-तरह जान जावे । भावार्थ—श्री योगीन्द्रदेवगुरु शिष्यसे कहते हैं कि हे प्रभाकर-भट्ट योगी शुद्धात्माकी प्राप्तिरूप मोक्ष, केवलज्ञानादि अनंतचतुष्टयका प्रगटपना स्वरूप मोक्षफल और निश्चय व्यवहार रसत्रयरूप मोक्षका मार्ग इन तीनोंको क्रमसे जिन आज्ञा-प्रमाण सुझको कहूंगा । उनको तू अच्छीतरह विचरने धारण कर जिससे सब भेद मालूम होजावे ॥ १२८ ॥

अब धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारोंमेंसे सुखका मूल कारण मोक्ष ही सबसे उत्तम है ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर हम गाथासूत्रको कहते हैं;—[हे जीव] हे जीव [धर्मस्य] धर्म [अर्थस्य] अर्थ [कामस्य अपि] और काम [एतेषां सकलानां] इन सब पुरुषार्थोंमेंसे [मोक्षं उत्तमं] मोक्षको उत्तम [ज्ञानिनः] ज्ञानी पुरुष [प्रभ-णंति] कहते हैं [येन] क्योंकि [अन्येन] अन्य धर्म अर्थ कामादि पदार्थोंसे [सुखं] परमसुख [न] नहीं है ॥ भावार्थ—धर्मशब्दसे यहा पुण्य समग्रता, अर्थशब्दसे पुण्यका

परमात्मा परशब्देनोच्यते तस्यैवंगुणविशिष्टस्य परमात्मनो लोको लोकनमवलोकनं धीतरा-
गपरमानन्दममरमीभावानुभवनं लोक इति परलोकशब्दस्यार्थः । अथवा पूर्वोक्तलक्षणः
परमात्मा परशब्देनोच्यते । निश्चयेन परशिवशब्दवाच्यो मुक्त्यत्मा निव इत्युच्यते तस्य
लोकः निबलोक इति । अथवा परमब्रह्मशब्दवाच्यो मुक्त्यत्मा परमब्रह्म इति तस्य लोको
ब्रह्मलोक इति । अथवा परमविष्णुशब्दवाच्यो मुक्त्यत्मा विष्णुरिति तस्य लोको विष्णुलोक
इति परलोकशब्देन मोक्षो भण्यते परब्रह्मसौ लोकश्च परलोक इति । परलोकशब्दस्य व्युत्प-
त्त्यर्थो ज्ञातव्यः न चान्यः कोपि परिकल्पितः निबलोकादिरस्मीति । अत्र न एव परलोक-
शब्दवाच्यः परमात्मोपादेय इति तात्पर्यं ॥ १३० ॥

अप तमेव मोक्षं मुग्धायकं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति;—

उत्तमं सुखं न देह जह्, उत्तमं सुखं न होह ।

तो किं इच्छाहि, बंधणाहि यद्वा पमुगयि मोह ॥ १३१ ॥

उत्तमं सुखं न ददाति यदि उत्तमो मोक्षो न भवति ।

ततः किं इच्छंति बंधनैः यद्वा पशवोपि तमेव ॥ १३१ ॥

उत्तम इत्यादि । उत्तम उत्तमं सुखं सुखं न देह जह् न ददाति यदि येन उत्तमं
सुखं न होह उत्तमो मोक्षो न भवति तो तन्मात्कारणात् किं किमर्थं इच्छाहि इच्छंति
बंधणाहि बंधनैः यद्वा निबद्धाः । किं निबद्धाः । पशवोपि पशवोपि । किमिच्छंति ।
सोह तमेव मोक्षमिति । अयमत्र भावार्थः । मुग्धकारणत्वादेनोः बंधनयद्वाः पशवोपि

परमात्माका लोक अर्थात् अवलोकन धीतराग परमानन्द समरसीभावका अनुभव सह पर-
लोक कहा जाता है अथवा परमात्माको परमनिव बहते है उसका जो अवलोकन सह
निबलोक है, अथवा परमात्माका ही नाम परम ब्रह्म है उसका जो लोक सह ब्रह्मलोक है,
अथवा उत्तमका नाम परमविष्णु है उसका जो लोक अर्थात् स्थान सह विष्णुलोक है ये
सब मोक्षके नाम हैं यानी जितने परमात्माके नाम हैं उनके आगे लोक लगानेमें मोक्षके
नाम हो जाते हैं दूसरा कोई कल्पना किया हुआ निबलोक ब्रह्मलोक विष्णुलोक नहीं
है । यहाँपर सारांश यह हुआ कि परलोकके नामसे कहा गया परमात्मा ही उपादेय है
ध्यान करने योग्य है अन्य कोई नहीं ॥ १३० ॥

आगे उसी मोक्षको अनन्यसुखका देनेवाला दृष्टान्तके द्वारा यह बताने है;—[यदि]
जो [मोक्षः] मोक्ष [उत्तमं सुखं] उत्तमसुखको [न ददाति] न देरे तो [उत्तमः]
उत्तम [न भवति] नहीं होवे और जो मोक्ष उत्तम ही न होवे [ततः] तो [बंधनैः
यद्वाः] बंधनोपे बंधे [पशवोपि] पशु भी [तमेव] उग मोक्षही ही [किं इच्छंति]
क्यों इच्छा करे । भावार्थ—बंधनोके समान कोई दुःख नहीं है और करनेके समान

मोक्षमिच्छन्ति तेन कारणेन केवलज्ञानाद्यनंतगुणाविनाभूतस्योपादेयरूपस्थानंतमुत्पन्नं क-
णत्वादिति ज्ञानिनो विशेषेण मोक्षमिच्छन्ति ॥ १३१ ॥

अथ यदि तस्य मोक्षस्याधिकगुणगणो न भवति तर्हि लोको निजमन्त्रमोक्षार्थं
किमर्थं धरतीति निरूपयति;—

अणु जइ जगह जि अहियकर, गुणगणु तासु ण होइ ।

तो तइलोउवि किं घरइ, णियसिर उप्परि सोइ ॥ १३२ ॥

अनु यदि जगतोपि अधिकतरः गुणगुणः तस्य न भवति ।

ततः त्रिलोकोपि किं धरति निजशिरसि उपरि तमेव ॥ १३२ ॥

अणु इत्यादि । अणु पुनः जइ यदि चेत् जगहं जि जगतोपि सकाशात् अहियकर
अतिशयेनाधिकः अधिकतरः । कोमो । गुणगणु गुणगणाः तासु तस्य मोक्षस्य ण होइ
न भवति तो ततः कारणान् तइलोउवि त्रिलोकोपि कर्ता । किं घरइ किमर्थं धरति ।
कस्मिन् । णियसिर उप्परि निजशिरसि उपरि किं घरइ किं धरति सोइ तमेव मोक्ष-
मिति । तद्यथा । यदि तस्य मोक्षस्य पूर्वोक्तः मन्त्रादिगुणगणो न भवति तर्हि लोकः
कर्ता निजमन्त्रकस्योपरि तत्किं धरतीति । अत्रानेन गुणगणस्थापनेन किं कृतं भवति,
शुद्धिमुत्तदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्ममन्त्राभिधानानां गुणानामभावं मोक्षं मन्यन्ते चे

कोई सुख नहीं है बंधनसे बंधे जानवर भी छूटना चाहते हैं जब छूटते हैं तभी सुखी
होते हैं । इस सामान्यबंधनके अभावसेही पशु सुखी होते हैं तो कर्मबंधनके अभावसे
ज्ञानी जन परमसुखी होयें इसमें अचंभा क्या है । इसलिये केवलज्ञानादि अनंतगुणसे
सम्बद्ध अनंतसुखका कारण मोक्ष ही आदरने योग्य है इसकारण ज्ञानी पुरुष विशेषतः
मोक्षको ही इच्छते हैं ॥ १३१ ॥

आगे जो मोक्षमें अधिकगुणोंका समूह नहीं होता तो मोक्षको तीनलोक अपने समूह
पर क्यों रखना ऐसा बन्यते हैं;—[अनु] फिर [यदि] जो [जगतः अपि] हा
लोकमें भी [अधिकतरः] बहुत ज्यादा [गुणगणः] गुणोंका समूह [तस्य] उस
मोक्षमें [न भवति] नहीं होता [ततः] तो [त्रिलोकः अपि] तीनों ही लोक [नि-
जशिरसि] अपने मन्त्रके [उपरि] ऊपर [तमेव] उसी मोक्षको [किं धरति]
क्यों रखना । भावार्थ—मोक्ष लोकके शिर (अधभाग) पर है मोक्ष सब लोकमें मोक्षसे
बहुत ज्यादा गुण है इसीलिये उनको लोक अपने शिरपर रखना है । कोई किसीको
अपने शिरपर रखता है वह अपनेमें अधिक गुणवाला जानकर रखता है । यदि साधक
मायकत्व क्षेत्रदर्शनादि अनंतगुण मोक्षमें न होने ना मोक्ष सबके शिरपर न होना मोक्षके
उपर अन्य कोई स्थान नहीं है सबके ऊपर मोक्ष ही है और मोक्षके आगे अनंत अगोचर

वृद्धवैरोपिकास्ते निषिद्धाः । ये च प्रदीपनिर्वाणवज्जीवाभावं मोक्षं मन्यन्ते मौगतास्ते च निरस्ताः । यथोक्तं सांख्यैः । सुप्तावस्थावन् मुखज्ञानरहितो मोक्षस्तदपि निरस्तं । लोकाग्ने तिष्ठतीति वचनेन ॥ मंडिकमंता नैयायिकमनांतर्गता यत्रैव मुक्तमत्रैव तिष्ठतीति वदन्ति तेषां निरस्ता इति । जैनमते पुनरिन्द्रियजनितज्ञानमुपस्थाभावेन चातीन्द्रियज्ञानमुपगम्येति कर्मजनितेन्द्रियादिदशप्राणसहितस्थानुद्धजीवस्याभावे न पुनः शुद्धजीवस्येति भावार्थः॥१३२॥

हे वह शून्य है वहां कोई स्थान नहीं है । वह अनंत अलोक भी सिद्धोंके ज्ञानमें भाग रहा है । यहापर मोक्षमें अनंतगुणोंके स्थापन करनेसे मिथ्यादृष्टियोंका खंडन किया । कोई मिथ्यादृष्टि वैरोपिकादि ऐसा कहते हैं कि जो बुद्धि मुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म संस्कार इन नव गुणोंके अभावरूप मोक्ष है उनका निषेध किया, क्योंकि इन्द्रिय जनित बुद्धिका तो अभाव है परंतु केवल बुद्धि अर्थात् केवलज्ञानका अभाव नहीं है; इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुखका अभाव है लेकिन अतीन्द्रियसुखकी पूर्णता है, दुःख इच्छा द्वेष यत्न इन विभावरूप गुणोंका तो अभाव है ही केवलरूप परिणमन है, व्यवहार धर्मका अभाव ही है और वस्तुका स्वभावरूप धर्म वह है ही, अधर्मका तो अभाव ठीक ही है और पर द्रव्यरूप संस्कार सर्वथा नहीं है स्वभावसंस्कार ही है । जो मूढ़ इन गुणोंका अभाव मानते हैं वे बूढ़ा बकते हैं मोक्ष तो अनंतगुणरूप है । इसतरह निर्गुणवादिओंका निषेध किया । तथा बौद्धमती जीवके अभावको मोक्ष कहते हैं । वे मोक्ष ऐसा मानने हैं कि जैसे दीपका निर्वाण (बुझना) उसीतरह जीवका अभाव वही मोक्ष है । ऐसी बौद्धकी श्रद्धाका भी तिरस्कार किया । क्योंकि जो जीवका ही अभाव होगया तो मोक्ष किसके हुई । जीवका शुद्ध होना वह मोक्ष है अभाव कहना बूढ़ा है । सांख्यमतवाले ऐसा कहते हैं कि जो एकदम सोनेकी अवस्था है वही मोक्ष है जिसजगह न मुरा है न शान है ऐसी प्रतीतिका निवारण किया । नैयायिक मतवाले ऐसा कहते हैं कि जहांसे मुक्त हुआ वहीपर ही तिष्ठता है उसको गमन नहीं करता । ऐसे नैयायिकके कथनका लोक मिश्र-पर तिष्ठता है इस वचनसे निषेध किया । क्योंकि बंधनसे छूटता है वहां वह नहीं रहता यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कैदी कैदसे छूटता है सब बंदीप्रहसे छूटकर अपने परस सरफ गमन करता है वह निजपर निर्वाण ही है । जैनमार्गमें तो इन्द्रियजनित ज्ञान जोकि भवि भुत अवधि धन,पर्यय है उनका अभाव माना है और अतीन्द्रियरूप जो केवलज्ञान है वह वस्तुका स्वभाव है उसका अभाव आत्मामें नहीं होसकता । स्वर्ग रम गंध रूप रास इन पांच इन्द्रियविषयोंकर उत्पन्न हुए सुखका तो अभाव ही है लेकिन अतीन्द्रियसुख जो निराशुल परमानंद है उसका अभाव नहीं है, कर्मजनित जो इन्द्रियादि दम माग अर्थात् पांच इन्द्रिया मन वचन काय आयु आसोच्छ्वास इन दश प्राणोंका भी अभाव है शानादि

अधोत्तमं मुखं न ददाति यदि मोक्षमहिं सिद्धाः कथं निरंतरं सेवन्ते तमिति कथयते,-

उत्तमो मुखस्तु न देह जह, उत्तमो मुखस्तु न होह ।

तो किं सयलुवि कालं जिय, सिद्धवि सेवहिं सोह ॥ १३२ ॥

उत्तमं मुखं न ददाति यदि उत्तमः मोक्षो न भवति ।

ततः किं सकलमपि कालं जीव सिद्धा अपि सेवन्ते तमेव ॥ १३३ ॥

उत्तम इत्यादि । उत्तमो मुखस्तु उत्तमं मुखं न देह न ददाति जह यदि चेत् उत्तमो उत्तमो मुखस्तु मोक्षः न होह न भवति तो ततः कारणान् किं किमर्थं सयलुवि कालं सकलमपि कालं जिय हे जीव सिद्धवि सिद्धा अपि सेवहिं मेवन्ते सेवितमेव मोक्षमिति । तथाहि । यद्यतीन्द्रियपरमाह्लादरूपमविनश्वरं मुखं न ददाति मोक्षमहिं कथमुत्तमो भवति उत्तमत्वाभावे च केवलज्ञानादिगुणमहिताः सिद्धा भगवतः किमर्थं निरंतरं सेवन्ते च चेत् । तस्मादेव ज्ञायते तत्मुखमुत्तमं ददतीति । उक्तं च सिद्धमुखं । “आत्मोपादानमिदं स्वयमतिशयवद्दीप्तयापं विनालं, पृष्ठिद्वामव्यपेनं विषयविरहितं निःप्रतिबन्धभावं । अन्यदप्यन्येभ्यः निरुपमममितं शाश्वतं सर्वकालं उच्छृण्वन्तमामं परममुखमतस्तस्य सिद्धमयं जानं” ॥ अत्रेदमेव निरंतरमभिलषणीयमिति भावार्थः ॥ १३३ ॥

निज प्राणोंका अभाव नहीं है । जीवकी अशुद्धताका अभाव है शुद्धपनेका अभाव नहीं यह निश्चयसे जानना ॥ १३२ ॥

आगे कहते हैं कि जो मोक्ष उत्तममुख नहीं दे तो सिद्ध उसे निरंतर क्यों सेवन करे ! ;—[यदि] जो [उत्तमं मुखं] उत्तम अविनाशी मुखको [न ददाति] नहीं देवे तो [मोक्षः उत्तमः] मोक्ष उत्तम भी [न भवति] नहीं होसकती उत्तम मुख देती है इसी लिये मोक्ष सबसे उत्तम है । जो मोक्षमें परमानन्द नहीं होता [ततः] तो [हे जीव] हे जीव [सिद्धा अपि] सिद्ध परमेश्वरी भी [सकलमपि कालं] सदा काल [तमेव] उगी मोक्षको [किं सेवन्ते] क्यों सेवन करते कभी भी न सेवते । भावार्थ—वह मोक्ष अशुद्ध मुख देती है इसीलिये उसे सिद्ध महाराज सेवते हैं मोक्ष परम आह्लादरूप है अविनश्वर है मन और इन्द्रियोंसे रहित है इसीलिये उसे सदाका उ सिद्ध सेवते हैं केवलज्ञानादिगुणसहित सिद्ध भगवान् निरंतर निर्वाणमें ही निवास करते हैं ऐसा निश्चय है । सिद्धोंका मुख दूसरी जगह भी ऐसा कहा है “आत्मोपादान” इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि इस अध्यात्मज्ञानमें सिद्धोंके जो परममुख हुआ है वह कैसा है कि अपनी २ जो उपादानशक्ति उमीकर उत्तराश्र हुआ है परकी मशाय-लामे नहीं है स्वयं (आप ही) अनिगयरूप है सब बाधाओंसे रहित है निराबाध है निर्मल है परती ददतीमें रहित है विषयविद्यामें रहित है भेदभावसे रहित है निर्द्वन्द्व

अथ सर्वेषां परमपुरुषाणां मोक्ष एव ध्येय इति प्रतिपादयति;—

हरिहरयन्त्रुवि जिणवरवि, मुणिवरविंदवि भव्य ।

परमणिरंजणि मणु धरिवि, सुखरु जि ज्ञायहि सत्य ॥ १३४ ॥

हरिहरब्रह्माणोपि जिनवरा अपि मुनिवरवृंदान्यपि भव्याः ।

परमनिरंजने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायन्ति सर्वे ॥ १३४ ॥

हरि हर इत्यादि । हरि हरवंशुवि हरिहरब्रह्माणोपि जिणवरवि जिनवरा अपि मुणिवरविंदवि मुनिवरवृंदान्यपि भव्य जेपमव्या अपि, एते सर्वे किं कुर्याति । परमनिरंजणि परमनिरंजनाभिधाने निजपरमात्मस्वरूपे मणु मनः धरिवि विषयकपायेषु गच्छन् सन् व्यापृत्य धृत्वा पद्मान सुवरु जि मोक्षमेव ज्ञायहि ध्यायन्ति सत्य सर्वेति इति । तद्यथा । हरिहरादयः सर्वेऽपि प्रसिद्धपुरुषाः व्यानिपूजालाभादिस्वमन्त्रविष्णुजालेन दृष्ट्ये शुद्धबुद्धिकस्यभावनिजासद्रूप्यसम्यक्प्रवृत्तानुष्ठानानुष्ठानरूपभेदरसप्रयान्त्रनिर्विकल्पकमाधिसमुत्पन्नवीनरागसहजानंदैकमुत्तरमानुभवेन पूर्णकलशयन् भवितावस्थे निरंजनशब्दाभिधेयपरमात्मध्याने स्थित्वा मोक्षमेव ध्यायन्तीति । भयमत्र भावार्थः । यन्पि व्यवहारं

है जहां पर वस्तुकी अपेक्षा ही नहीं है अनुपम है अनंत है अपार है जिसका प्रमाण नहीं सदा काल साधता है महा उत्कृष्ट है अनंतसारता जिये हुए है । ऐसा परमगुण सिद्धोक्ति है अन्यके नहीं है । यहां तात्पर्य यह है कि हमेशा मोक्षका ही गुण अभिनवा करने योग्य है और संसारपर्वोच सब देय है ॥ १३३ ॥

आगे सभी महान पुरुषोक्ति मोक्ष ही ध्याने योग्य है ऐसा कहते हैं—[हरिहर-ब्रह्माणोपि] नारायण वा इंद्र रुद्र अन्य शानीपुरष [जिनवरा अपि] श्री तीर्थंकर परमदेव [मुनिवरवृंदान्यपि] मुनिधरोक्ति समूह तथा [भव्याः] अन्य भी भगवत्पुरुष [परमनिरंजने] परम निरंजनमें [मनः धृत्वा] मन रखकर [सर्वे] सब ही [मोक्षं] मोक्षको [एव] ही [ध्यायन्ति] ध्यावते हैं । यह मन विषयकपायोंमें ओ जाना है उसको पीछे छोटाकर अपने स्वरूपमें स्थिर अर्थात् निर्बीजका साधनेशाला करने है । भावार्थ—श्री तीर्थंकर देव तथा चक्रवर्ती बलदेव वासुदेव प्रतिवासुदेव महादेव इत्यादि सब प्रसिद्ध पुरुष अपने शुद्ध ज्ञान अग्रंइत्यभाव ओ निज आत्मद्रव्य उगवा सम्बद्ध भद्रान ज्ञान आचरणरूप ओ अभेदरसप्रय उम भई समाधिपर उत्पन्न वीजरागसहजानंद अर्थादियमुत्तरा उमह अनुभवो पूर्ण बन्धनारी सरह भरे हुए निरंतर निराशार निजस्वरूप परमात्मके ध्यानमें स्थिर होकर मुक्त होते हैं । ऐसा वह ध्यान है कि यानि (मनिद्रि पदा (अनन्त महिमा) और धनादिकका त्याग इत्यादि समस्त विषयजालोंमें रहने है । यहां ब्रह्म आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग बताया है और अपना स्वरूप ही ध्य बन योग्य है । न सर्व दः

मधिकल्पावस्थायां वीतरागमर्षदम्भरूपं तत्प्रतिविद्यानि नन्मंत्राश्रयिणि तद्गुणगुणवत्
ध्येया भवन्ति तथापि वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुत्रिगुणपरमममाधिकारं निजशुद्धात्मैव ध्येय
इति ॥ १३४ ॥

अथ भुवनत्रयेषु मोक्षं मुक्त्वा अन्यत्परममुत्पत्त्यकारणं नाम्नीति निश्चिनोति;—

तिहुयणि जीवहं अत्थि णवि, सुक्खहं कारणु कोद ।

सुखु सुएविणु एक्कु पर, तेणवि चित्तिहं सोद ॥ १३५ ॥

त्रिभुवने जीवानां अस्ति नैव सुखस्य कारणं किमपि ।

मोक्षं मुक्त्वा एकं परं तेनैव चित्तय तमेव ॥ १३५ ॥

तिहुयणि इत्यादि । तिहुयणि त्रिभुवने जीवहं जीवानां अत्थि णवि अस्ति नैव ।
किं नास्ति । सोखखहं कारणु सुखस्य कारणं कोद किमपि वस्तु । किं कृत्वा । सुखु
सुएविणु एक्कु मोक्षं मुक्त्वाकं परं नियमेन तेणवि तेनैव कारणेन चित्तिहं चित्तय सोद
तमेव मोक्षमिति । तथाहि । त्रिभुवनेषु मोक्षं मुक्त्वा निरंतरातिशयमुत्पत्त्यकारणमन्यत्पत्ति-
यविषयातुभयरूपं किमपि नास्ति तेन कारणेन हे प्रभाकरभट्ट वीतरागनिर्विकल्पपरम-
सामायिके स्थित्वा निजशुद्धात्मस्वभावं ध्याय त्वमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः हे भगवन्-
तीन्द्रियमोक्षमुखं निरंतरं धर्यते भवद्भिन्नम् न ज्ञायते जनैः । भगवानाह हे प्रभाकरभट्ट
कोपि पुरुषो निर्ग्याकुलचित्तः प्रस्तावे पंचेन्द्रियभोगमेवारहितस्तिष्ठति स केनापि देवदत्तेन

हे किं यद्यपि व्यवहारनयकर प्रथम अवस्थामें वीतरागसर्वज्ञका स्वरूप अथवा वीतरागके
प्रतिविंब अथवा वीतरागके नाम मंत्रके अक्षर अथवा वीतरागके सेवक महामुनि ध्यावने
योग्य हैं तौमी वीतराग निर्विकल्पतीनगुप्तिरूप परम समाधिके समय अपना शुद्ध जाला
ही ध्यान करने योग्य है अन्य कोई भी दूसरा पदार्थ पूर्ण अवस्थामें ध्यावने योग्य
नहीं है ॥ १३४ ॥

अथ तीन लोकमें मोक्षके सिवाय अन्य कोई भी परमसुखका कारण नहीं ऐसा निश्चय
करते हैं;—[त्रिभुवने] तीनलोकमें [जीवानां] जीवोंको [मोक्षं मुक्त्वा] मोक्षके
सिवाय [किमपि] कोई भी वस्तु [सुखस्य कारणं] सुखका कारण [नैव] नहीं
[अस्ति] है एक सुखका कारण मोक्ष ही है [तेनैव] इस कारण तू [परं एकं त्वं
एव] नियमसे एक मोक्षका ही [चित्तय] चित्तवन कर जिसे कि महामुनि भी चित्तवन
करते हैं । भावार्थ—श्रीयोगीन्द्राचार्य प्रभाकर भट्टसे कहते हैं कि वत्स मोक्षके सिवाय
अन्य सुखका कारण नहीं है और आत्मध्यानके सिवाय अन्य मोक्षका कारण नहीं है
इसलिये तू वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें ठहरकर निजशुद्धात्मस्वभावको ही ध्याय । यह
श्रीगुरुने आज्ञा की । तब प्रभाकर भट्टने वीनती की हे भगवन् तुमने निरंतर अतींद्रि

ष्टुः सुरेन स्थितो भवान् । तेनोक्तं सुरमस्तीति तत्सुरमात्मोत्थं । कणादिनि चेत् । तत्काले श्रीमेवादिस्पर्शविषयो नास्ति भोजनादिजिह्वेन्द्रियविषयो नास्ति विशिष्टरूपगंधमा-
त्यादिग्राणेंद्रियविषयो नास्ति दिव्यस्मीरूपावलोकनादिलोचनविषयो नास्ति श्रवणरमणीय-
गीतवाद्यादिशब्दविषयोपि नास्तीति तस्मान् शायते तत्सुरमात्मोत्थमिति । किं च । एक-
देवव्यापाररहितानां तदेकदेवेनात्मोत्थसुरमुपलभ्यते वीतरागनिर्विकल्पसमवेदनज्ञानरतानां
पुनर्निरवशेषपंचेंद्रियविषयमानसविकल्पजालनिरोधे सति विशेषेणोपलभ्यते । इदं तावन्
स्वमवेदनप्रत्यक्षगम्यं सिद्धात्मानं च सुखं पुनरनुमानगम्यं । तथाहि । मुक्तात्मनां दार्ढ्येन्द्रि-
यव्यापाराभावेपि सुरमस्तीति साध्यं । कस्माद्धेतोः । इदानीं पुनर्वीतरागनिर्विकल्पममा-
धिस्थानां परमयोगिनां पंचेंद्रियविषयव्यापाराभावेपि स्थानोत्थवीतरागपरमानन्दमुपलभ्यते-

मोक्षमुक्त वर्णन किया है सो ये जगतके प्राणी अतीन्द्रियसुखको जानते ही नहीं हैं इंद्रिय-
सुखको ही सुख मानते हैं । तब गुरुने कहा कि हे प्रभाकर भट्ट कोई एक पुरुष जिमका
चित्त व्याकुलतारहित है और पंचेंद्रियके भोगोंसे रहित अकेला स्थित है उससमय किसी
पुरुषने पूछा कि तुम सुखी हो । तब उसने कहा कि सुखसे तिष्ठ रहते हैं उस समयपर
विषयसेवनादि सुख तो है ही नहीं उसने यह क्यों कहा कि हम सुखी हैं । इसलिये यह
माझ होता है सुख नाम व्याकुलता रहितका है सुखका मूल निर्व्याकुलपना है यह नि-
र्व्याकुल अवस्था आत्मामें ही है विषय सेवनमें नहीं । भोजनादि जिह्वा इंद्रियका विषय भी
उस समय नहीं है, श्रीसेवनादि स्पर्शका विषय नहीं है और गंधमात्यादिक नाकका
विषय भी नहीं है, दिव्य स्त्रियोंका रूप अवलोकनादि नेत्रका विषय भी नहीं और का-
नोंका मनोज्ञ गीत वादिश्रादि शब्द विषयभी नहीं हैं इसलिये जानते हैं कि गुण आत्मामें
ही है । ऐसा तू निश्चयकर जो एकदेव विषयव्यापारसे रहित है उनके एकदेव विर-
ताका सुर है सो वीतरागनिर्विकल्पसमवेदनज्ञानियोंके समस्त पंच इंद्रियोंके विषय और
मनके विकल्प जालोंकी रुकावट होनेपर विशेषतासे निर्व्याकुल सुख उरजटा है । हम-
लिये ये दो बातें तो प्रत्यक्ष ही दृष्टि पड़ती हैं । जो पुरुष नीरोग और चिन्तारहित है
उनके विषयसामग्रीके बिना ही सुख भासता है और जो महापुनि शुद्धोपयोग अवस्थामें
ध्यानारूढ है उनके निर्व्याकुलता प्रगट ही दीर रही है ये इत्यादिक देवोंसे भी अधिक
सुखी हैं । इसकारण अब संसार अवस्थामें ही सुखका मूल निर्व्याकुलता दीगनी है नो
सिद्धोंके सुखकी बात ही क्या है । यद्यपि ये सिद्ध दृष्टिगोचर नहीं हैं तो भी
अनुमानकर ऐसा जानाजाता है कि सिद्धोंके भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म नहीं तथा विषयोंकी
प्रवृत्ति नहीं है कोई भी लवकरपञाड नहीं है केवल अतीन्द्रिय आत्मिक सुख ही है वही
सुख उपादेय है अन्य सुख सब दुःस्वरूप ही हैं । जो पागे गतिदोके परमाय है उनमें

स्थिरिति । अत्रेत्यभूतसुखमेवोपादेयमिति भावार्थः । तथागमं चोग्रमाभ्युपगम्यतीति श्रुत्वा ।
 “अइसयमाइससुत्थं विमयातीदं अणोवममणं । अणुच्छिण्णं च सुदं सुदुवण्णोण-
 सिद्धाणं” ॥ १३५ ॥

अथ यस्मिन् मोक्षे पूर्वोक्तमतीन्द्रियमुपगमन्ति तस्य मोक्षस्य स्वरूपं कथयति;—

जीवहं सो पर सुखसु मुणि, जो परमप्पयलाहु ।

कम्मकलंकविमुक्काहं, णाणिय बोद्धहिं साहु ॥ १३६ ॥

जीवानां तं परं मोक्षं मन्यस्य यः परमात्मलामः ।

कर्मकलंकविमुक्तानां ज्ञानिनः भवन्ति साधवः ॥ १३६ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां सो तं परं नियमेन मोक्षसु मोक्षं मुनि मन्यत
 जानीहि हे प्रभाकरभट्ट । तं कं । जो परमप्पयलाहु यः परमात्मलामः । इत्यभूतो मोक्षः
 केषां भवति । कम्मकलंकविमुक्काहं ज्ञानपरणाद्यप्रविधकर्मकलंकविमुक्तानां । इत्यभूतं
 मोक्षं के भवन्ति । णाणिय बोद्धहिं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो भवन्ति । ते के । साहु
 साधवः इति । तथाहि । केवलज्ञानाद्यनंतगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारभूतस्य हि
 परमात्मलामो मोक्षो भवतीति । म च केषां । पुत्रकलत्रममत्वस्वरूपप्रभृतिसमस्तविकल्प-
 रहितध्यानेन भावकर्मद्रव्यकर्मकलंकरहितानां भव्यानां भवतीति ज्ञानिनः कथयन्ति ।
 अत्रायमेव मोक्षः पूर्वोक्तस्यानंतसुखस्योपादेयभूतस्य कारणत्वादुपादेय इति भावार्थः

कदापि सुख नहीं है । सुख तो सिद्धोंके है या महामुनीश्वरोंके सुखका लेशमात्र देसाजला
 है दूसरेके जगतकी विषयवासनाओंसे सुख नहीं है । ऐसा ही कथन श्रीमद्वचनसारमें किया
 है । “अइसय” इत्यादि । सारांश यह है कि जो शुद्धोपयोगकर प्रसिद्ध ऐसे श्रीसिद्ध
 परमेशी हैं उनके अतीन्द्रियसुख है वह सर्वोत्कृष्ट है और आत्मजनित है तथा विषयवास-
 नासे रहित है अनुपम है जिसके समान सुख तीनलोकमें भी नहीं है जिसका पार नहीं
 माधारहित ऐसा सुख सिद्धोंके है ॥ १३५ ॥

आगे जिस मोक्षमें ऐसा अतीन्द्रिय सुख है उस मोक्षका स्वरूप कहते हैं;—हे प्रभा-
 करभट्ट जो [कर्मकलंकविमुक्तानां जीवानां] कर्मरूपी कलंकसे रहित जीवोंको [यः
 परमात्मलामः] जो परमात्मकी प्राप्ति है [तं परं] उसीको नियमसे तू [मोक्षं
 मन्यस्य] मोक्ष जान ऐसा [ज्ञानिनः साधवः] ज्ञानवान् मुनिराज [भवन्ति] कहते
 हैं, रत्नत्रयके योगमें मोक्षका साधन करने हैं हममें उनका नाम साधु है । भावार्थ—
 केवलज्ञानादि अनंतगुण प्रगट रूप जो कार्यमयममार अर्थात् शुद्धपरमात्माका लाभ वह
 मोक्ष है यह मोक्ष भव्यजीवोंके ही होता है । भव्य कैसे हैं कि पुत्रकलत्रादि पर वस्तु-
 ओंके ममत्वकी आदि लेकर मव विकल्पोमें रहित जो आत्मध्यान उससे जिन्होंने भावकर्म

॥ १३६ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये सूत्रदशकेन मोक्षस्वरूपनिरूपणस्थलं समाप्तं ।

अथ तस्यैव मोक्षस्यानंतचतुष्टयस्वरूपं फलं दर्शयति;—

दंसणु णाणु अणंतसुहु, समउ ण तुहुइ जासु ।

सो पर सासउ मोक्खफलु, पिञ्जउ अत्थि ण तासु ॥ १३७ ॥

दर्शनं ज्ञानं अनंतमुखं समर्थं न पुट्यति यस्य ।

तत् परं ज्ञाद्यतं मोक्षफलं द्वितीयं अस्ति न तस्य ॥ १३७ ॥

दंसणु इत्यादि । दंसणु केवलदर्शनं णाणु केवलज्ञानं अणंतसुहु अनंतमुखं णतुपल-
क्षणमनंतवीर्याद्यनंतगुणाः समउ ण तुहुइ एतद्गुणकर्तृवकमेकमनयमपि यावन्न पुट्यन्ति न
नश्यति आसु यस्य मोक्षपर्यायस्याभेदेन तदाधारजीवस्य वा सो पर तदेव केवलज्ञानादिस्वरूपं
सासउ मोक्खफलु ज्ञाद्यतं मोक्षफलं भवति पिञ्जउ अत्थि ण तासु तस्यानंतज्ञा-
नादिमोक्षफलस्यान्यं द्वितीयमधिकं किमपि नास्तीति । अयमत्र भावार्थः । अनंतज्ञानादिमो-
क्षफलं ज्ञात्वा क्षमस्त्यागादित्यागेन तदर्थमेव निरंतरं शुद्धात्मभावना कर्तव्येति ॥ १३७ ॥
एवं द्वितीयमहाधिकारे मोक्षफलकथनरूपेण स्वतंत्रसूत्रमेकं गतं ।

अथानंतरमेकोनविंशतिसूत्रपर्यंतं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गव्याख्यानस्थलं कथ्यते तदथा;—

रज्ज्जीयहं सुक्खहं हेउ घरु, दंसणु णाणु चरिचु ।

ते पुणु तिणिणयि अप्पु मुणि, णिचुइ प्हउ चुचु ॥ १३८ ॥

द्रव्यकर्मरूपी कलंक क्षय क्रिये हैं ऐसे जीवोंके निर्वाण होता है ऐसा ज्ञानी जन कहते
हैं । यहाँ पर अनंतमुखका कारण होनेसे मोक्ष ही उपादेय है ॥ १३६ ॥

इस प्रकार मोक्षका फल और मोक्ष मार्गका जिसमें कथन है ऐसा दूसरे महाधिकारमें
दस दोहाओंसे मोक्षका स्वरूप दिसलाया ।

आगे मोक्षका फल अनंतचतुष्टय है यह दिसलाते हैं;—[यस्य] जिस मोक्षपर्यायके
धारक शुद्धात्माके [दर्शनं ज्ञानं अनंतमुखं] केवलदर्शन केवलज्ञान अनंतमुख और
अनंतवीर्य इन अनंतचतुष्टयोंको आदि देकर अनंत गुणोंका समूह [समर्थं न पुट्यन्ति]
एक समयमात्र भी नाश नहीं होता अर्थात् हमेशा अनंतगुण पाये जाते हैं । [यस्य]
उस शुद्धात्माके [तत्] वही [परं] निश्चयसे [ज्ञाद्यतं फलं] हमेशा रहनेवाला मोक्षका
फल [अस्ति] है [द्वितीयं न] हमके सिवाय दूसरा मोक्षरत्न नहीं है और हमसे
अधिक दूसरी वस्तु कोई नहीं है । भावार्थ—मोक्षका फल अनंत ज्ञानादि जानकर सम-
स्तगादिकका त्यागकरके उसीके लिये निरंतर शुद्धात्माकी भावना करनी चाहिये ॥ १३७ ॥

रायचंद्रजैनशालामालायाम् ।

दयात् पुनर्वीतरागचारित्ररूपं निर्विकल्पशुद्धात्ममत्तावलोकनमपि न संभवतीति भावार्थः ।
निश्चयेनाभेदरत्नत्रयपरिणतो निजशुद्धात्मैव मोक्षमार्गो भवतीत्यस्मिन्नर्थे संवादगाथायाह
“रयणत्तयं ण वट्ठे अण्णाणं सुदुत्तु अण्णदवियस्मि । तस्मा तत्तियमइजो होदि हु मोक्खसस
कारणं आदा” ॥ १३९ ॥

अथ भेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारमोक्षमार्गं दर्शयति;—

॥ जं वोद्धइ ववहारणउ, दंसणु णाणु चरित्तु ।
तं परियाणहि जीव तुहुं, जं परु होदि पवित्तु ॥ १४० ॥

यत् भूते व्यवहारनयः दर्शनं ज्ञानं चारित्रं ।
तत् परिजानीहि जीव त्वं येन परः भवसि पवित्रः ॥ १४० ॥

जं इत्यादि । जं यत् वुद्धइ भूते । कोसौ कर्ता । व्यवहारणउ व्यवहारनयः । यत् किं
भूते । दंसणु णाणु चरित्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं तं पूर्वोक्तं भेदरत्नत्रयस्वरूपं परिया-
णहि परि समंतान् जानीहि जीव तुहुं हे जीव त्वं कर्ता जिं येन भेदरत्नत्रयपरिज्ञानेन परः
होदि परः उत्कृष्टो भवसि त्वं । पुनरपि किं विशिष्टस्त्वं । पवित्तु पवित्रः सर्वजनदूर-
इति । तद्यथा । हे जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्ग-
साधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि ? परंपरया पवित्रः

आदि सात प्रकृतिर्योका उपसम क्षयोपसम क्षय नहीं है तथा शुद्धात्मा ही उपादेय है
ऐसी रुचिररूप सम्यग्दर्शन भी उनके नहीं है और चारित्रमोहके उदयसे वीतराग चारित्र-
रूप निर्विकल्प शुद्धात्मका सत्तावलोकन भी कभी नहीं है । तात्पर्य यह है निश्चयका
भेदरत्नत्रयको परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही मोक्षका मार्ग है । ऐसा ही द्रव्यसंग्रह
साक्षीभूत गाथा कहा है । “रयणत्तयं” इत्यादि । उसका अर्थ ऐसा है कि रत्नत्रय आत्माको
छोड़कर अन्य (दूसरी) द्रव्योंमें नहीं रहते इसलिये मोक्षका कारण उन तीनमें
आगे भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहार वह परंपराय मोक्षका कारण है ऐसा दिसाते हैं;—

[जीव] हे जीव [व्यवहारनयः] व्यवहारनय [यत्] जो [दर्शनं ज्ञानं चारित्र्यं]
दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों को [भूते] कहता है [तत्] उस व्यवहाररत्नत्रयको
[त्वं] तू [परिजानीहि] जान [येन] जिससे कि [परः पवित्रः] उत्कृष्ट पवित्र
[भवमि] होंगे । भावार्थ—हे जीव तू तत्त्वार्थका श्रद्धानुशास्त्रका ज्ञान और अशुभ-
क्रियाओंका त्यागरूप सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र व्यवहारमोक्षमार्गको जान क्योंकि
ये निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निश्चयमोक्षमार्गक साधक है इनके ज्ञाननेमें किमी समय परमपवित्र
रत्नमार्ग हो जायगा । पहले व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति होजाये तब ही कि

परमात्मा अधिपत्येति इति । इत्युक्तानि निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथ्यते । तथा । वीतराग-
सर्वशक्त्यनन्दरूपः सत्यस्वस्वज्ञानज्ञानत्रयानुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः निजशुद्धा-
स्वस्वस्वज्ञानज्ञानानुष्ठानरूपो निश्चयमार्गः । अथवा साधको व्यवहारमोक्षमार्गः
साधको निश्चयमोक्षमार्गः । अत्राह शिष्यः । निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्त्वज्ञाने सविष्-
ण्णमोक्षमार्गो गतिश्च कथं साधको भवतीति । अत्र परिहारमाह । भूतनैगमनयेन परंपरया
भवतीति । अथवा सविष्णुनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा; तत्रानंतज्ञानरूपोऽहंनि-
त्यादि सविष्णुसाधको भवति, निर्विकल्पगमाधिरूपो साधको भवतीति भाषार्थः ॥
सविष्णुनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गोऽपि यथे संवादगायामाह । “अं पुनः सगदं तथं सविष्णुं

मासि होमकृती है इसमें संदेह नहीं है । जो अनंतसिद्ध हुए और होयेंगे वे पहले
व्यवहार रत्नत्रयको पाकर निश्चय रत्नत्रयरूप हुए । व्यवहार साधन है और निश्चयसाध्य
है । व्यवहार निश्चयमोक्षमार्गका स्वरूप कहते हैं—वीतरागसर्वशदेवके कहे हुए छह
द्रव्य साततत्त्व नौ पदार्थ पंचास्तिकाय इनका भ्रद्धान इनके स्वरूपका ज्ञान और शुभ-
क्रियाका आचरण यह व्यवहार मोक्षमार्ग है और निज शुद्ध आत्माका सम्यक् भ्रद्धान
स्वरूपका ज्ञान और स्वरूपका आचरण यह निश्चयमोक्षमार्ग है । साधनके बिना सिद्धि
नहीं होती इसलिये व्यवहारके बिना निश्चयकी प्राप्ति नहीं होती । यह कथन सुनकर
शिष्यने प्रश्न किया कि है प्रभो निश्चयमोक्षमार्ग जो निश्चय रत्नत्रय वह तो निर्विकल्प
है और व्यवहार रत्नत्रय विकल्प सहित है सो यह विकल्परक्षा निर्विकल्पपनेकी साधन
कैसे होमकृती है इसकारण उसको साधक मत कहो । उसका समाधान करते हैं । जो
कलादिकालका यह जीव विषय कषायोंकर मलीन होरहा है सो व्यवहारसाधनके बिना
उज्ज्वल नहीं होसकता जब मित्यात्र अमृत कषायादिककी क्षीणतासे देवगुरु धर्मकी भद्रा
करै तत्त्वोंका जानपना होवे अशुभक्रिया मिट जावे तब गुरु वह अध्यात्मका अधिकारी
होमकृता है । जैसे मलिन कपड़ेको धोवे तब रंगने योग्य होता है बिना धोये रंग
नहीं लगता इसलिये परंपराम मोक्षका कारण व्यवहाररत्नत्रय कहा है । मोक्षका मार्ग दो
प्रकार है एक व्यवहार दूसरा निश्चय, निश्चय तो साक्षात् मोक्षमार्ग है और व्यवहार
परंपराम है । अथवा सविष्णु निर्विकल्पके भेदसे निश्चय मोक्षमार्ग भी दो प्रकारका
है । जो मैं अनंतज्ञानरूप ह शुद्ध हूं एक हूं ऐसा ‘सोह’ का चिंतन है वह तो स-
विष्णु निश्चयमोक्षमार्ग है उसको साधक कहते हैं और जहांपर कुछ चिंतन नहीं है
कुछ सोचना नहीं है और कुछ चेष्टा नहीं है वह निर्विकल्पसमाधिरूप साध्य है यह
नामध हुआ । इसी वचनके बारेमें द्रव्यमयिकी साम्ब देते हैं । “मा चिद्दह” इत्यादि ।
सांगत यह है कि है जीव नु कुछ भी कायका चेष्टा मन का कुछ बोध भी मन

होइ तह य अवियणं । सवियणं सामवयं निरामयं विगयमंकणं ॥ १४० ॥ एवं पूर्व-
एकोनविंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रयं तं ।
इदानीं चतुर्विंशसूत्रपर्यंतं व्यवहारमोक्षमार्गप्रयमावयवभूतव्यवहारमन्यत्तं मुख्य-
प्रतिपादयति । तथा, —

क दब्बइं जाणइं जह ठियइं, तहं जगि मण्णइं जो जि ।

अप्पहं केरउ भावडउ, अविचलु दंसणु सो जि ॥ १४१ ॥

द्रव्याणि जानाति यथास्थितानि तथा जगति मन्यते य एव ।

आत्मनः संबंधि भावः अविचलः दर्शनं स एव ॥ १४१ ॥

दब्बइं इत्यादि । दब्बइं द्रव्याणि जाणइं जानाति । कथंभूतानि । जहठियइं यथास्थि-
तानि शीतरागस्वसंवेदनलक्षणस्य निश्चयमन्यगृह्णानस्य परंपरया कारणभूतेन परमागमज्ञेन
परिष्ठिततीति । न केवलं परिष्ठितं तह तथैव जगि इह जगति मण्णइं मन्यते, निश्च-
सद्रव्यमेवोपादेयमिति रुचिररूपं यन्निश्चयसम्यक्तत्वं तस्य परंपरया कारणभूतेन । “पूर्व-
मद्व्याप्तौ तथानायतानि पद । अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः” ॥ लोककवि-
पंचविंशतिसम्यक्तत्वमलयागेन श्रद्धातीति । एवं द्रव्याणि जानाति श्रद्धाति । कोसौ ।
अप्पहं केरउ भावडउ आत्मनः संबंधिभावः परिणामः । किंचित्शिष्टो भावः । अविचलु

मीन रह गौर कुछ चितवन भी मतकरे । सब बातों को छोड़ आत्मामें आरक्षो
लीन कर, यह ही परमध्यान है । श्रुतस्त्वसारमें भी सविकल्प निर्विकल्प निश्चयमोक्ष-
मार्ग के कथनमें यह गाथा कही है कि “जं पुण सगई” इत्यादि । इसका सारांश यह
है कि जो आत्मतत्त्व है वह भी सविकल्प निर्विकल्पके भेदकर दो प्रकारका है जो
विकल्पसहित है वह तो आसवसहित है और जो निर्विकल्प है वह आसव रहित
है ॥ १४० ॥

इस तरह पहले महास्थलमें अनेक अंतर सलोंमेंसे उन्नीसदोहाओंके सलमें तीन-
दोहाओंसे निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गका कथन किया ।

भाग चौदह दोहापर्यंत व्यवहारमोक्षमार्गका पहला अंग व्यवहारसम्यक्सत्यको मुख्यतासे
कहते हैं;—[य एव] जो [द्रव्याणि] द्रव्योंको [यथास्थितानि] जैसा उनका
स्वरूप है वैसा [जानानि] जानें [तथा] और उसी तरह [जगति] इस जगत्में
[मन्यते] निर्दोष श्रद्धा करे [य एव] वही [आत्मनः] आत्मका [निश्चलः
संबंधिभावः] चरमनिनावगाह दोषरहित निश्चल भाव है [य एव] वही आत्मभाव
[दर्शनं] सम्यक् दर्शन है । भावार्थ—यह जगत् छद्मद्रव्यमयी है तो इन द्रव्योंको
अच्छी तरह जानकर श्रद्धा करे कि जगत् मद्दह नहीं वह सम्यक् दर्शन है यह सत्य-

अथिचलोपि चलमतिनावगाढोपरहितः दंसणु दर्शनं सम्यत्त्वं भवतीति । क एव ।
 सो जि ह एव पूर्वोक्तो जीवभाव इति । अयमत्र भावार्थः । इदमेव सम्यत्त्वं चित्तमणि-
 रिदमेव कल्पवृक्ष इदमेव कामधेनुरिति मत्वा भोगाकांशाम्बरूपादिममन्त्रविकल्पजातं
 वर्जनीयमिति । तथा चोक्तं । "हृन्ने चित्तमणिर्यस्य गृहे यस्य सुरदुसः । कामधेनुर्धनं यस्य
 तस्य का प्रार्थना परा" ॥ १४१ ॥

अथ येः पदद्वयैः सम्यत्त्वविषयभूतैस्त्रिभुवनं भूतं निष्ठति तानीहकं जानीहीत्यभिप्रायं
 मनसि संप्रपार्य सूत्रमिदं कथयति,—

दृश्यह जाणहि ताहं छह, तिह्यणु भरियउ जेहिं ।
 आइचिणासचियत्रियहिं, णाणिहि पभणियएहिं ॥ १४२ ॥

मूर्धन आत्माका निज स्वभाव है । पीतरागनिर्विकल्प स्वमेव न निश्चयसम्भोजन उमका
 परंपराय कारण जो परमागमका ज्ञान उससे अच्छीतरह जानें और मनमें मानें यह
 निश्चय करे कि इन सब द्रव्योंमें निज आत्मद्रव्य ही ध्याने योग्य है ऐसी रचिण्य
 जो निश्चयसम्भव है उमका परंपराय कारण व्यवहारसम्भव देव गुरु धर्मकी मद्रा
 उसे स्वीकार करे । व्यवहारसम्भवत्वके पचीतदोष है उनको छोड़ें । उन पचीनोंको "मूद-
 ग्रवं" इत्यादि श्लोकमें कहा है । इसका अर्थ ऐसा है कि जहां देव कुदेशका विचार
 नहीं है वह तो देवमूद, जहां गुरु गुरुका विचार नहीं है वह गुरुमूद, जहां भर्म
 कुधर्मका विचार नहीं है वह धर्ममूद ये तीन मूदता; और जानिमद कुलमद धनमद
 रूपमद तपमद बलमद विद्यामद राजमद ये आठमद; गुरु कुदेश कुधर्म इनकी और
 इनके आराधकोंकी जो मंगला यह छह अनायतन और निःशंकिनादि आठ अंगोंमें
 विपरीत श्रेका कांक्षा विविधिरता मूदता परदोषकथन अधिरक्षण साधनिधोमें छेह
 नहीं रहना और जिनधर्मकी प्रभावना नहीं करना ये छेकादि आठ मय हम प्रसार
 सम्भ्यदर्शनके पचीत दोष हैं । इन दोषोंको छोड़कर तत्त्वों की मद्रा करे यह व्यवहार
 सम्भ्यदर्शन कहाजाता है । जहां अशिर मुद्रि नहीं है और परिणामोंकी मतिनना नहीं
 और शिथिलता नहीं वह सम्भव है । यह सम्भ्यदर्शन ही बकरवृक्ष कामधेनु चित्तमणि है
 ऐसा जानकर भोगोंकी बाढारूप जो सब विकल्प उनको छोड़कर सम्भवका प्ररण
 करना चाहिये । ऐसा कहा है "हृन्ने" इत्यादि । त्रिमयें द्वाधमें चित्तमणि है धनमें
 कामधेनु त्रिमयें परमै बकरवृक्ष है उमक. अन्य क्या प्रार्थनाकी आवश्यकता है ॥ १४३ ॥
 कामधेनु चित्तमणि जो करने कात्र है सम्भव ही बकरवृक्ष ॥ १४३ ॥
 यह जानना ॥ १४३ ॥

द्रव्याणि जानीहि तानि पट् त्रिभुवनं भूतं यैः ।

आदिविनाशविवर्जितैः ज्ञानिभिः प्रमणितैः ॥ १४२ ॥

दव्यइं इत्यादि । दव्यइं द्रव्याणि जाणहि जानीहि त्वं हे प्रभाकरभट्ट ताइ तानि परमागमप्रसिद्धानि । कतिसंख्योपेतानि । छहं पदेव । यैः द्रव्यैः किं कृतं । तिहुयणु भरियउ त्रिभुवनं भूतं जेहिं यैः कृतंभूतैः । पुनरपि किंविशिष्टैः । आदिविनाशविवर्जितैः । पुनरपि कथंभूतैः । जाणिहि प्रमणियंएहिं ज्ञानिभिः प्रमणितैः कथितैश्चेति । अयमत्रामिप्रायः । एतैः पद्धिद्रव्यैर्निष्पन्नोऽयं लोको नचान्यः कोपि लोकस्य हर्ता कर्ता रक्षको वासीति । किं च । यद्यपि पट्द्रव्याणि व्यरहा-
रसम्यक्तविविधभूतानि भवंति तथापि शुद्धनिश्चयेन शुद्धात्मानुभूतिरूपस्य धीतरागसम्य-
क्तस्य नित्यानेंद्रैकस्यभावो निजशुद्धात्मैव विषयो भवतीति ॥ १४२ ॥

अथ तेषामेव पट्द्रव्याणां संज्ञां चेतनाचेतनविभागं च कथयति;—

जीउ सचेयणु दव्यु मुणि, पंच अचेयण अण्ण ।

पुग्गलु घम्माहम्मु णहु, कालें सहिया भिण्ण ॥ १४३ ॥

जीवः सचेतनं द्रव्यं मन्यस्य पंच अचेतनानि अन्यानि ।

पुद्गलः धर्माधर्मा नभः कालेन सहितानि भिन्नानि ॥ १४३ ॥

जीउ इत्यादि । जीउ सचेयणु दव्यु चिदानंदैकस्यभावो जीवश्चेतनाद्रव्यं भवति मुणि मन्दस्य जानीहि त्वं पंच अचेयण पंचाचेतनानि अण्ण जीवादन्यानि । तानि कानि । पुग्गलु घम्माहम्मु णहु पुद्गलधर्माधर्मनभाति । कथंभूतानि तानि । कालें सहिया

आगे मन्दवचने कारण जो छह द्रव्य हैं उनमे यह तीनशेक मरा हुआ है उनको बंधार्थ जानो ऐसा अभिप्राय मनमें रखकर यह गाथाएव कहते हैं;—हे प्रभाकर भट्ट तु [तानि पट्द्रव्याणि] उन छहों द्रव्यों को [जानीहि] जान कि [यैः] तिन द्रव्योंमें [त्रिभुवनं भूतं] यह तीनशेक मरहा है ये छह द्रव्य [ज्ञानिभिः] ज्ञानियोंने [आ-
दिविनाशविवर्जितैः] आदि धनकर रहित द्रव्याधिकनयने [प्रमणितैः] कहे हैं । भावार्थ—यह छेक छह द्रव्योंने मरा है अनादि निधन है इस लोकका आदि धन नही है तथा इसका कर्ता हर्ता व रक्षक कोई नही है । यद्यपि ये छह द्रव्य व्यरहा सम्बन्धके कारण है नो भी शुद्ध निश्चयनकर शुद्धात्मानुभूतिरूप धीतरागसम्यक्ता कारण नित्य अनंद स्वभाव निजशुद्धात्मा ही है ॥ १४२ ॥

आगे उन छह द्रव्योंके नाम कहते हैं;—हे मित्र नृ [जीवः सचेतनद्रव्यं] जीव-
चेतन्द्रव्य है ऐसा [मन्यस्य] जन [अन्यानि] को। वही [पुद्गलः धर्माधर्मा]
पुद्गल धर्म अधर्म [नभः] आकाश [कालेन सहितानि] को। काक रहित जो [पंच]

कालद्रव्येण सहितानि । पुनरपि कथंभूतानि । मिथ्या स्वकीयस्वकीयलक्षणैः परस्परमि-
थ्यानि इति । तथाहि । द्विधा सम्यक्त्वं भण्यते सरागवीतरागभेदेन । सरागसम्यक्त्वलक्षणं
कथ्यते । प्रथमसंवेगानुकंपासिद्ध्यामिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वं भण्यते तदेव व्यवहारस-
म्यक्त्वमिति तस्य विषयभूतानि पट्टद्रव्याणीति । वीतरागसम्यक्त्वं निजगुणात्मानुभूतिलक्षणं
वीतरागचारित्र्याविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । निजगुणात्मै-
वोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः इदानीं
पुनः वीतरागचारित्र्याविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः । कस्मादि-
ति चेत् । निजगुणात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहमावस्थायां दीर्घकरपरमदेव-
भरतसगररामपांडवादीनां विद्यते न च तेषां वीतरागचारित्र्यमस्तीति परस्परविरोधः अस्ति
चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारमाह । तेषां गुणात्मोपादेयभावना-
रूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं किंतु चारित्र्यमोहोदयेन स्थिरता नास्ति प्रत्यक्षप्रामाण्ये
भवतीति तेन कारणेनामंयता वा भण्यते । गुणात्मभावनाप्युक्तः संतः भरतादयो निर्दोषि-

पांच हैं ये [अचेतनानि] अचेतन हैं और [अन्यानि] जीवसे भिन्न हैं तथा ये सब
[मिथ्यानि] अपने २ लक्षणोंसे आपसमें भिन्न (जुदेर) हैं, काल सहित छद् द्रव्य हैं
कालके बिना पांच अस्तिकाय हैं । भावार्थ—सम्यक्त्व दो प्रकारका है एक सराग-
सम्यक्त्व दूसरा वीतरागसम्यक्त्व, सरागसम्यक्त्वका लक्षण कहते हैं । प्रथम अर्थात्
सांनिपना, संवेग अर्थात् जिनपर्मकी रुचि तथा जगतमें भरचि, अनुकंपा परमीबोबो
हुती देखकर दया भाव और आस्तिक्य अर्थात् देव गुरु पर्मकी तथा छद् द्रव्योंकी
भद्रा ये चारोंका होना यह व्यवहारसम्यक्त्वरूप सरागसम्यक्त्व है । और वीतराग-
सम्यक्त्व जो निश्चयसम्यक्त्व यह निजगुणात्मानुभूतिरूप वीतरागचारित्र्यसे सम्मयी है ।
यह कथन सुनकर प्रभाकर भट्टने प्रश्न किया । हे प्रभो निजगुणात्मा ही उपादेय है
ऐसी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व का कथन पहले सुमने अनेकवार किया फिर अब वीतरा-
गचारित्र्यसे सम्मयी निश्चयसम्यक्त्व है यह व्याख्यान करते हैं यह तो पूर्वापर विरोध
है । क्योंकि जो निजगुणात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो दूसरे
अवस्थामें तीर्थंकर परमदेय भरतचक्रवर्ती सगरचक्रवर्ती और रामपांडवादिभ्यः बड़े २ गुरु-
बोके रहता है लेकिन उनके वीतरागचारित्र्य नहीं है । यही परस्पर विरोध है । यदि
उनके वीतरागचारित्र्य माना जावे तो गृहस्थपना क्यों कहा । यह प्रश्न किया । उसका उत्तर
भीगुरु कहते हैं । उन भट्टान (बड़े) पुण्योक गुणात्मा उपादेय है ऐसी भाषन रूप
निश्चय सम्यक्त्व तो है परंतु चारित्र्यमोहक उदयमें स्थिरता नहीं है जबकि गृहावस्था
उदय नहीं है तबतक अमरामी रहता है गुणात्माकी अमरता ० वन न ० १११ रूप मान

परमात्मनामर्हन्मिद्वानां गुणस्ववस्तुस्वरूपस्ववनादिकं कुर्वन्ति । तस्मिन्पुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायमाधूनां विषयकपायदुष्यन्तवचनार्थं संसारस्थितिछेदनार्थं च दानभूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगान् सरागमभ्यस्तुते भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वमंत्रा वीतरागचारित्राविनामूत्रस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति । वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागमभ्यस्तव्यान् व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः ॥ १४३ ॥

अधानन्तरं सूत्रचतुष्टयेन जीवादिषट्द्रव्याणां क्रमेण प्रत्येकं लक्षणं कथ्यते;—

मुत्तिविहणउ णाणमउ, परमाणंदसहाउ ।

णियमिं जोइय अप्पु मुणि, णिणु णिरंजणु भाउ ॥ १४४ ॥

मूर्तिविहीनः ज्ञानमयः परमाणंदसमायः ।

नियमेन योगिन् आत्मानं मन्यस्य नित्यं निरंजनं भावम् ॥ १४४ ॥

मुत्तिविहणउ इत्यादि । मुत्तिविहणउ अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणया स्पष्टरसगंधवर्णरस्य मूर्त्या विहीनत्वान् मूर्तिविहीनः णाणमउ कमकरणव्यवधानरहितेन लोकाग्रोक्तप्रकाशकेन पौरुषज्ञानेन निवृत्तत्वात् ज्ञानमयः परमाणंदसहाउ वीतरागपरमानंदैकरूपमुत्पाद्वरमाण्वादेन समरामीभासपरिणतस्वरूपत्वान् परमानंदममारः णियमिं शुद्धनिश्चयेन जोइय हे योगिन् अप्पु तमित्थंभूतमात्मानं मुणि मन्यस्य जानीहि त्वं । पुनरपि द्विविधं जानीहि । णिणु शुद्धद्वयार्थिकनयेन दंडोन्मीलितार्थकम्यभावव्याप्तिम् । पुनरपि द्वि

सगर रायव पाटवादिक्; निर्दोष परमात्मा अरहंत सिद्धोक्ते गुणस्ववन वस्तुस्वरूप रूप श्रोत्रादि करने हैं और उनके चारित्रपुगणादिक सुनने हैं तथा उनकी आज्ञाके आराधक जो महान् पुरुष आचार्य उपाध्याय माधु उनको भक्तिमें आशारदानादि करने हैं पूजा करते हैं । विषय कपाय रूप छोटे ध्यानके रोकनेके लिये तथा ममारकी स्थिति के नाश करनेके लिये ऐसी शुभक्रिया करने हैं । इमलिये शुभरागके संवधमे सम्पादधि है और इनके निश्चय सम्यक्त्व भी कदा जगमकता है क्योंकि वीतरागचारित्रमे सम्मर्द निश्चय सम्यक्त्वके परंपराय साधकपना है । अब वास्तवमे (अमर्तमे) विभाग जो है सो मूर्तना अवस्थाने इनके सरागमभ्यक्त्व ही है और जो सरागमभ्यक्त्व है वह पारल ही है ऐसा ज्ञानो ॥ १४३ ॥

विनिष्टं । विनिर्जन्तु मिथ्यात्वरागादिरूपांजनरहितत्वाभिरंजनं । गुणग्र कथंभूतमात्मानं
जानीति । भाउ भावं विनिष्टपदार्थं इति । अत्रैवं गुणविनिष्टः शुद्धात्मैवोपादेय अन्यत्वे-
नमिति तात्पर्यार्थः ॥ १४४ ॥

अथ,—

पुग्गलु छन्विह्मु मुत्तु वट, इयर अमुत्तु विपाणि ।

धम्मपाधम्मवि गइठियहिं, कारणु पभणहिं णाणि ॥ १४५ ॥

पुद्गलः पद्भिः मूर्तः वत्स इतराणि अमूर्तानि विजानीहि ।

धर्माधर्मगपि गतिस्वित्योः कारणं प्रभणंति ज्ञानिनः ॥ १४५ ॥

पुग्गलु इत्यादि । पुग्गलु पुद्गलद्रव्यं छन्विह्मु पद्भिः । तथा चोक्तं । “पुढवी जलं च
छाया चउरिंदियविमय कम्मपाउग्गा । कम्मातीदा एवं छम्मेया पुग्गला होंति” । एवं
मत्कथं भवति । मुत्तु स्पर्शरसगंधधर्माणवती मूर्तिरिति वचनान्मूर्तं वट वत्स पुत्र इयर
इतराणि पुद्गलाद् दोषद्रव्याणि अमुत्त स्पर्शघभावादमूर्तानि विपाणि विजा-
नीहि त्वं धम्मपाधम्मवि धर्माधर्मद्वयमपि गइठियहिं गतिस्वित्योः कारणु कारणं
निमित्तं पभणहिं प्रभणंति कथयंति । के कथयंति । णाणि वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनः
इति । अत्र द्रष्टव्यं । यद्यपि यज्जपृषभनाराचमंदहनरूपेण पुद्गलद्रव्यं मुक्तिगमनकाले महका-

[भावं] ऐसा जीवपदार्थ है । भावार्थ—यह आत्मा, अमूर्तीक शुद्धात्मासे भिन्न जो
स्पर्श रसगंधधर्माणवली मूर्ति उससे रहित है, लोक अलोकका प्रकाश करनेवाले केवल-
ज्ञानकर पूर्ण है जो कि केवलज्ञान सब पदार्थोंको एक समयमें प्रत्यक्ष जानता है आगे
पीछे नहीं जानता, वीतरागभाव परमानंदरूप अतीन्द्रियसुखस्वरूप अमृतके रसके स्वादसे
समरसी भावको परिणत हुआ है ऐसा है योगी शुद्धनिश्चयसे अपने आत्माको ऐसा समझ
शुद्धद्रव्याधिकनयसे विना टाकीका भड्या हुआ सुपटपाट शायक स्वभाव नित्य है । तथा
मिथ्यात्वरागादिरूप अंजनसे रहित निरंजन है । ऐसे आत्माको तू भली भांति जान सब
पदार्थोंमें उत्कृष्ट है । इन गुणोंसे मंडित शुद्ध आत्मा ही उपादेय है और सब तजने
योग्य हैं ॥ १४४ ॥

आगे फिर भी कहते हैं,—[हे वत्स] हे वत्स तू [पुद्गलः] पुद्गलद्रव्य [पद्भिः]
छे प्रकार तथा [मूर्तः] मूर्तीक है [इतराणि] अन्य सब द्रव्य [अमूर्तानि] अमूर्त है
ऐसा [विजानीहि] जान [धर्माधर्ममपि] धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्योंको
[गतिस्वित्योः कारणं] गति स्वितिका सहायककारण [ज्ञानिनः] केवली श्रुतकेवली
[प्रभणंति] कहते हैं । भावार्थ—पुद्गल द्रव्यके छह भेद दूसरी जगह भी “पुढवी
जल” इत्यादि गाथासे कहे हैं । उसका अर्थ यह है कि बादर बादर १ बादर २ बाद-

रिकारणं भवति तथापि धर्मद्रव्यं च गतिमहकारिकारणं भवति, अधर्मद्रव्यं च लोकापे
स्थितस्य स्थितिसहकारिकारणं भवति । यद्यपि मुक्तात्मप्रदेशमध्ये परस्परैकश्रेत्रावगाहेन
तिष्ठन्ति तथापि निश्चयेन विद्युद्ब्रह्मानदर्शनस्वभावपरमात्मनः सकाशाद्विभक्त्यारूपेण मुच्ये
तिष्ठन्ति । तथात्र संमारे चेतनाकारणानि हेयानीति भावार्थः ॥ १४५ ॥

अथ;—

द्रव्यद्वं सयलद्वं वरि टिपद्वं, णियमिं जासु वसन्ति ।

तं णहु दव्यु विद्याणि तुहुं, जिणवर एउ भणन्ति ॥ १४६ ॥

द्रव्याणि सकलानि उदरे स्थितानि नियमेन यस्य वसन्ति ।

तत् नमः द्रव्यं विजानीहि त्वं जिनवरा एतद् भणन्ति ॥ १४६ ॥

द्रव्यद्वं द्रव्याणि । कतिमंरूपोपेतानि । सयलद्वं समानानि उवरि उदरे टिपद्वं स्थितानि
णियमिं निश्चयेन जासु यस्य वसन्ति आधाराधेयभावेन तिष्ठन्ति तं तत् णहु दव्यु नम

रमूक्ष्म ३ सूक्ष्मवादर ४ सूक्ष्म ५ सूक्ष्ममूक्ष्म ६ ये छद् भेद पुत्रलके हैं । उनमेंमे पत्थर
फाठ लृण आदि पृथ्वी वादर वादर हैं दुकड़े होकर नहीं जुड़ते, जल घी मैन आदि वादर
हैं जो हटकर मिल जाते हैं, छाया आतप चांदनी ए वादर सूक्ष्म हैं जो कि देखनेमें
तो वादर धीर ग्रहण करनेमें मूक्ष्म हैं, नेत्रको छोड़कर चार इंद्रियोंके विषय रसाग्धादि
मूक्ष्म वादर हैं जो कि देखनेमें नहीं आते और ग्रहण करनेमें आते हैं, कर्मसंगी
मूक्ष्म हैं जो भगवत् मिली हुई हैं परंतु दृष्टिमें नहीं आती और मूक्ष्ममूक्ष्म परमाणु है
विमका दमग माग नहीं होता । इस तरह छद् भेद हैं । इन छद्भेदोंके पुत्रलको तू
अपने स्वरूपमें जुड़े समझ । यह पुत्रलद्रव्य स्वर्णसं गंध वर्णको धारण करना है इसलिये
मूर्तीक है अन्य धर्म अधर्म दोनों गति तथा स्थितिके कारण है ऐसा वीतरागदेवने कहा
है । यहांपर एक बात देखनेकी है कि यद्यपि वज्रवृषभनाराचमंदनरूप पुत्रलद्रव्य मोक्षके
गन्तका साहायक है इसके बिना मुक्ति नहीं होमकती तभी धर्मद्रव्य गति साक्षात् है इसके
बिना सिद्धलोकको जाना नहीं होमकता तथा अधर्मद्रव्य सिद्धलोकमें स्थितिका साक्षात् है ।
कोटिस्वरूप आकाशके प्रदेश अवकाशमें साक्षात् है । जनेने सिद्ध अपने लभावमें ही
उदरे हुए है पदद्रव्यका वृक्षमकोवन नहीं है । यद्यपि मुक्त्याभिक प्रदेश आराममें एक-
जगद् है तभी विद्युद्ब्रह्म दर्शन भाव भगवान सिद्धलोकमें निज भित्त भित्त है कोई
सिद्ध हिमी सिद्धमें प्रदेशोंकर निज हुआ नहीं है । पुत्रकादि पावो द्रव्य नीचको पर्वति
निजिज वरुण बड़े गये हैं नीचा उपासन कारण नहीं है ऐसा भावना दम । १४५ ॥

आकाशद्रव्यं विद्याणि विजानीहि तुहं त्वं हे प्रभाकरभट्ट जिणवर जिनवराः वीतराग-
सर्वज्ञाः एतु भणंति एतद्भणंति कथयंतीति । अयमत्र तात्पर्यार्थः । यद्यपि परस्परैकभेदा-
वगाहेन तिष्ठत्याकाशं तथापि साक्षादुपादेयभूतादर्नतमुखस्वरूपात्परमात्मनः सकाशादत्यन्त-
भिन्नत्वाद्धेयमिति ॥ १४६ ॥

अथ,—

कालु मुणिज्झहि दब्बु तुहं, वट्ठणलक्खणु णउ ।

रयणहं रासि विभिण्ण जिम, तसु अणुअहं तह भेउ ॥ १४७ ॥

कालं मन्यस्व द्रव्यं त्वं वर्तनालक्षणं एतत् ।

रत्नानां राशिः विभिन्नः यथा तस्य अणूनां तथा भेदः ॥ १४७ ॥

कालु इत्यादि । कालु कालं मुणिज्झहि मन्यस्व जानीहि । किं जानीहि । दब्बु
कालसंज्ञं द्रव्यं । कथंभूतं । वट्ठणलक्खणु वर्तनालक्षणं स्वयमेव परिणममानानां द्रव्याणां
पहिरेगसहकारिकारणं । किंवदिति चेत् । कुम्भकारचक्रम्यापस्तनशिलावदिति एतु एतत्
प्रत्यक्षीभूतं तस्य कालद्रव्यस्यामल्येयप्रमितस्य परस्परभेदविषये दृष्टान्तमाह । रयणहं रासि
रत्नानां राशिः । कथंभूतः । विभिन्नः विरोपेण स्वरूपव्यवधानेन भिन्नः तसु तस्य कालद्र-
व्यस्य अणुअहं अणूनां कालाणूनां तह तथा भेउ भेदः इति । अत्राह शिष्यः । समय एव
निश्चयकालः अन्यनिश्चयकालसंज्ञं कालद्रव्यं नास्ति । अत्र परिहारमाह । समयनामन्य-

आधेयरूप होकर रहती है [तत्] उसको [त्वं] तू [नमो द्रव्यं] आकाशद्रव्य
[विजानीहि] जान [एतत्] ऐसा [जिनवराः] जिनेन्द्रदेव [भणंति] कहते हैं ।
लोकाकाश आधार है अन्य सब द्रव्य आधेय हैं । भावार्थ—यद्यपि ये सब द्रव्य आका-
शमें परस्पर एक क्षेत्रावगाहसे ठहरी हुई हैं सीभी आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं इसलिये
त्यागने योग्य हैं और आत्मा साक्षात् आराधने योग्य है अर्नतमुखस्वरूप है ॥ १४६ ॥

आगे कालद्रव्यका व्याख्यान करते हैं:—[त्वं] हे भव्य तू [एतत्] इस प्रत्यक्षरूप
[वर्तनालक्षणं] वर्तनालक्षणशालेको [कालं] कालद्रव्य [मन्यस्व] जान अर्थात् अपने
आप परिणमते हुए द्रव्योंको कुम्भारके चक्की नीचेकी सिलारकी तरह पहिरंग सहकारी
कारण है यह कालद्रव्य असंख्यात प्रदेश प्रमाण है [यथा] जैसे [रत्नानां राशिः]
रत्नोंकी राशि [विभिन्नः] जुदे रूप है सब रत्न जुदे २ रहते हैं मिलते नहीं हैं [तथा]
उसीतरह [तस्य] उसकालके [अणूनां] कालकी अणुओंका [भेदः] भेद है एक
कालाणूसे दूसरी कालाणू नहीं मिलता । बहारर शिष्यने प्रश्न किया कि समय ही निश्चय-
काल है अन्य निश्चयकाल नामवाला काल द्रव्य नहीं है उसका श्रीगुरु समाधान करते हैं ।
समय है वह कालद्रव्यकी पर्याय है क्योंकि विनाशको क्षण है । ऐसा ही अर्थात् अति-

अथ जीवपुद्गलौ सक्रिया धर्माधर्माकाजकान्द्रव्याणि निःक्रियाणीति प्रतिपादयति,—

दृष्य चयारिवि इयर जिय, गमणागमणविहीण ।

जीउवि पुग्गलु परिहरिवि, पभणहिं णाणिपवीण ॥ १४१ ॥

द्रव्याणि चत्वारि एव इतराणि जीव गमनागमनविहीनानि ।

जीवोपि पुद्गलः परिहृत्य प्रभणंति ज्ञानिप्रवीणाः ॥ १४२ ॥

दृष्य इत्यादि । दृष्य द्रव्याणि । कतिमंग्योपेनानि एव । चयारिवि चत्वार्येव इयर जीवपुद्गलाभ्यामितराणि जिय हे जीव । कथंभूतान्येनानि । गमणागमणविहीण गमनागमनविहीनानि निःक्रियाणि चलनक्रियाविहीनानि । किंहुत्था । जीउवि पुग्गलु परिहरिवि जीवपुद्गलौ परिहृत्य पभणहिं एवं प्रभणंति कथयंति । के ते । णाणिपवीण भेदभेदरत्नप्रयाराधकाविवेकिन इत्यर्थः । तथाहि । जीवानां संमारावस्थायां गतेः सहकारिकारणभूताः कर्मनोकर्मपुद्गलाः कर्मनोकर्माभावात्मिद्धानां निःक्रियत्वं भवति पुद्गलस्कंदानां तु कालाणुरूपं कालद्रव्यं गतेर्बहिर्गतिमिच्छं भवति । अनेन किमुक्तं भवति । अविभागव्यवहारकालसमयोत्पत्तौ मंदगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुः घटोत्पत्तौ कुंभकारवद्वहिरंगनिमित्तं व्यंजको व्यक्तिकारको भवति । कालद्रव्यं तु मूर्तिषड्वदुपादानकारणं भवति । तस्य तु पुद्गल-

आगे जीव पुद्गल ये दोनों चलनहलनादि क्रिया युक्त हैं और धर्म अधर्म आकाश काल ये चारों निःक्रिय हैं ऐसा निरूपण करते हैं;—[हे जीव] हे हंस [जीवः अपि पुद्गलः] जीव और पुद्गल इन दोनोंको [परिहृत्य] छोड़कर [इतराणि] दूसरी [चत्वारि एव द्रव्याणि] धर्मोदि चारों ही दृष्य [गमनागमनविहीनानि] चलन हलनादि क्रिया रहित हैं जीव पुद्गल क्रियावंत हैं गमनागमन करते हैं ऐसा [ज्ञानिप्रवीणाः] ज्ञानियोंमें चतुर रत्नत्रयके धारक केवली श्रुतकेवली [प्रभणंति] कहते हैं । भावार्थ—जीवोंके संसार अवस्थामें इस गतिसे अन्य गतिके जानेको कर्म नोकर्म जातिके पुद्गल सहाई हैं । और कर्म नोकर्मके अभावसे सिद्धोंके निःक्रियपना है गमनागमन नहीं है । पुद्गलके स्कंदोंको गमनका बहिर्गतिनिमित्तकारण कालाणुरूप कालद्रव्य है । इससे क्या अर्थ निकला । यह निकला कि निश्चय कालकी पर्याय जो समयरूप व्यवहारकाल उसकी उत्पत्तिमें मंदगतिरूप परिणत हुआ अविभागो पुद्गलपरमाणु कारण होता है । समयरूप व्यवहार कालका उपादानकारण निश्चय काल द्रव्य है उसीकी एक समयादि व्यवहारकालका मूलकारण निश्चयकालाणुरूप काल द्रव्य है उसीकी एक समयादि पर्याय है पुद्गल परमाणुकी मंदगति बहिर्गति निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं है पुद्गल परमाणु आकाशके प्रदेयमें मंदगतिमें गमन करना है यदि शीघ्र गतिमें चले तो एक समयमें बीसह राजू जाना है जेमे घटपर्यायका उत्पत्तिमें मूलकारण तो मटीक

परमाणोर्मंदगतिगमनकाले यद्यपि धर्मद्रव्यं सहकारिकारणमस्ति तथापि कालानुरूपं निश्च-
यकालद्रव्यं च सहकारिकारणं भवति । सहकारिकारणानि तु बहून्यपि भवंति मत्स्यानां
धर्मद्रव्ये विद्यमानेषु जलवन् पटोत्पत्तौ कुम्भकारबहिरंगनिमित्तेषु चक्रचीवरादिवन् जीवानां
धर्मद्रव्ये विद्यमानेषु कर्मनोकर्मपुद्गला गतेः सहकारिकारणं पुद्गलानां ॥ कालद्रव्यं गतेः
सहकारिकारणं । कुत्र भणितमाप्ते इति चेन् । पञ्चास्तिकायप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवैः
सक्रियनिःक्रियव्याख्यानकाले भणितमस्ति । “जीवा पुग्गलकाया सह सकिरिया हवन्ति
ण य मेसा । पुग्गलकरणा जीवा खंदा म्भु कालकरणेहि” ॥ पुद्गलस्वभावानां धर्मद्रव्ये
विद्यमानेषु जलवन् द्रव्यकालो गतेः सहकारिकारणं भवतीत्यर्थः । अत्र निश्चयनयेन

काल है और बहिरंग कारण कुम्भार है जैसे समयपर्यायकी उत्पत्तिमें मूलकारण तो
कालानुरूप निश्चय काल है और बहिरंगनिमित्त कारण पुद्गलपरमाणु है । पुद्गलपरमाणुकी
मंदगतिरूप गमन समयमें यद्यपि धर्मद्रव्य सहकारी है तौभी कालानुरूप निश्चयकाल
परमाणुकी मंदगतिका सहाई जानना । परमाणुके निमित्तसे तो कालका समय पर्याय
मगट होता है और कालके सहायसे परमाणु मंदगति करता है । कोई प्रश्न करे कि
गतिका सहकारी धर्म है कालको क्यों कहा । उसका समाधान यह है कि सहकारी
कारण बहुत होते हैं और उपादानकारण एक ही होता है दूसरा द्रव्य नहीं होता निज
द्रव्य ही निज (अपनी) गुणपर्यायोंका मूलकारण है और निमित्तकारण बहिरंगकारण तो
बहुत होने हैं इसमें कुछ दोष नहीं है । धर्म द्रव्य तो सबहीका गतिसहाई है परंतु
मछलीबोको गतिसहाई जल है तथा पटकी उत्पत्तिमें बहिरंग निमित्त कुम्भार है तौभी दंड
चक्र चीवरादिक ये भी अवश्य कारण हैं इनके बिना पट नहीं होता । और जीवोंके
धर्मद्रव्य गतिकी सहाई विद्यमान है तौभी कर्म नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण है इसीतरह
पुद्गलको कालद्रव्य गतिसहकारी कारण जानना । यहा कोई प्रश्न करे कि धर्म द्रव्य
तो गतिका सहाई सब जगह कहा है और कालद्रव्य वर्तनाका सहाई है गति सहाई
किसजगह कहा है । उसका समाधान धीपञ्चास्तिकायमें कुन्दकुन्दाचार्यने कियावत और
अक्रियावतके व्याख्यानमें कहा है । “जीवा पुग्गल” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है
कि जीव और पुद्गल ये दोनों क्रियावत हैं और वाक्यके चार द्रव्य अक्रियावाले हैं चउव
हलन क्रियासे रहित हैं । जीवको दूसरी गतिमें गमनका कारण कर्म है यह पुद्गल है
और पुद्गलको गमनका कारण काल है । जैसे धर्म द्रव्यके मौजूद होनेपर भी मच्छोंको
गमनसहाई जल है उसीतरह पुद्गलको धर्म द्रव्यके होनेपर भी द्रव्यकाल गमनका सहकारी
कारण है । यहा निश्चयनपर गमनादि क्रियासे रहित निःक्रिय मिदस्वरूपके समान
निःक्रिय निर्द्व निज शुद्धात्मा ही उपादेश है यह नामका तात्पर्य हुआ । इसी प्रकार

निःक्रियसिद्धस्वरूपममानं निजमुद्धात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यं । तथाचोक्तं निश्चयनरेण
निःक्रियजीवलक्षणं “भावक्रियाः प्रवर्तते तावद्वैतस्य-गोचरः । अद्वये निष्कले प्राये
निःक्रियस्य कुतःक्रिया” ॥ १४९ ॥

अथ पंचास्तिकायमूचनार्थं कालद्रव्यमप्रदेशं विहाय कस्य द्रव्यस्य कियंतः प्रदेशाः भव-
तीति कथयति;—

धम्माधम्मुवि एहं जिउ, ए जि असंखपदेस ।

गपणु अणंतपणसु मुणि, बहुविह पुगलदेस ॥ १५० ॥

धर्माधर्मा अपि एकः जीवः एतानि एव असंख्यप्रदेशानि ।

गगनं अनंतप्रदेशं मन्यस्य बहुविधाः पुद्गलप्रदेशाः ॥ १५० ॥

धम्माधम्मुवि इत्यादि । धम्माधम्मुवि धर्माधर्मद्विजपमेव एहं जिउ एको विरज्जितो
जीवः ए जि एतान्येष श्रीणि द्रव्याणि असंख्यपणसु अमन्येष्यप्रदेशानि भवन्ति गपणु
गगनं अणंतपणसु अनंतप्रदेशं मुणि मन्यस्य जानीहि बहुविह बहुविधा भवन्ति । के ते ।
पुग्गलदेस पुद्गलप्रदेशाः । अत्र पुद्गलद्रव्यप्रदेशवियवध्या प्रवेशजघ्नेन परमाणवो प्राप्ताः ।

दूगरे संघोर्मे भी निधयकर हलन चरनादि क्रिया रहित जीवका लक्षण कहा है । “भाव-
क्रिया” इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि जब तक इस जीवके हलन चरनादि क्रिया
हैं तबिसे मन्वन्तरको जाना है तब तक दूगरे द्रव्यका संबंध है जब दूगरेका संबंध मिटा
अर्थात् हुआ तब निकल अर्थात् शरीरमे रहित निःक्रिय है उसके हलन चरनादि क्रिया
कहासे होमकी है अर्थात् संघाती जीवके कर्मके संबंधमे गमन है निश्च भगवान् कर्म-
रहित निःक्रिय हैं उनके गमनगमन क्रिया कभी नहीं होमकी ॥ १४९ ॥

अग्रे पंचास्तिकायके प्रगट करनेके लिये काठ द्रव्य अपदेशीको छोड़कर अन्य पंच-
द्रव्योमेंसे छिमेक छितने प्रदेश हैं यह कहने हैं;—[धर्माधर्मा] धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य
[अपि एकः जीवः] और एक जीव [एतानि एव] इन तीनों ही को [असंख्य
प्रदेशानि] अमन्यमान प्रदेशों [मन्यस्य] न जान [गगनं] आकाश [अनंतप्रदेशं]
अनंतप्रदेशों के [पुद्गलप्रदेशाः] और पुद्गलके प्रदेश [बहुविधाः] बहुत प्रकारके हैं
पणसु तो एक प्रदेशों के और संबंध मन्वन्तर प्रदेश अमन्यमान प्रदेश तथा अर्थात् प्रदेशों
को होते हैं । तात्पर्य—जगत्में धर्म द्रव्य तो एक ही है, वह अधमन्यमान प्रदेशों है,
अर्थात् द्रव्य तो एक है अमन्यमान प्रदेशों है, जीव अनंत है तो एक २ जीव अमन्यमान
प्रदेशों है, अर्थात् द्रव्य एक ही है वह अनंतप्रदेशों है ऐसा जानो । पुद्गल एक घरमें
होकर अनेक प्रदेशों के हैं । एक घरमें तो एक प्रदेशों के और और ५ घरमें निजों
होकर दो प्रदेशों के २ घरों में बहुत घर हैं व समान अमन्यमान अनंत प्रदेशों के अर्थात्,

न च क्षेत्रप्रदेशा इति । कस्मात् । पुद्गलस्यानंतक्षेत्रप्रदेशाभावादिति । अथवा पाठांतरं । 'पुग्गलु तिविहु पण्मु' पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानंतरूपेण त्रिविधाः प्रदेशाः परमाणवो भवन्तीति । अत्र निश्चयेन द्रव्यकर्माभावादमूर्ता मिध्यात्वरगादिरूपभावकर्ममंकल्पविकल्पाभावान् शुद्धा लोकाकाशप्रमाणेनासंख्येयाः प्रदेशाः यस्य शुद्धात्मनः ॥ शुद्धात्मा वीतरागनिर्विकल्पसमाधिपरिणतिकाले साक्षादुपादेय इति भावार्थः ॥ १५० ॥

अथ लोके यद्यपि व्यवहारेणैकक्षेत्रावगाहेन तिष्ठन्ति द्रव्याणि तथापि निश्चयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण कृत्वा स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न स्वर्जन्तीनि दर्शयति;—

लोमागासु धरेवि जिय, कहियहं द्रव्यहं जाहं ।

एकहिं मिलियहं इत्यु जनि, सगुणहिं णियसहिं ताहं ॥ १५१ ॥

लोकाकाशं धृत्वा जीव कथितानि द्रव्याणि यानि ।

एकत्वे मिलितानि अत्र जगति स्वगुणेषु निवसन्ति तानि ॥ १५१ ॥

लोमागासु इत्यादि । लोमागासु लोकाकाशं कर्मतापन्नं धरेवि धृत्वा मयीदीप्तत्वा जिय हे जीव अथवा लोकाकाशमाधारीकृत्वा ठिपाहं आधेयरूपेण भित्तानि । यानि भित्तानि । कहियहं द्रव्यहं जाहं कथितानि जीवादिद्रव्याणि यानि । पुनः कथंभूतानि ।

अनंत परमाणू इकट्ठे होवें सब अनंत प्रदेश कहे जाते हैं । अग्य द्रव्योंके तो विस्ताररूप प्रदेश हैं और पुद्गलके रकंचरूप प्रदेश हैं । पुद्गलके कथनमें प्रदेश राखते परमाणू लेना क्षेत्र नहीं लेना पुद्गलका प्रचार लोकमें ही है अलोकाकाशमें नहीं है इसलिये अनंत क्षेत्र प्रदेशके अभाव होनेसे क्षेत्र प्रदेश न जानने । जैसे २ परमाणू मिलजाते हैं वैसे २ प्रदेशोंकी बढवारी जाननी । इसी दोहाके कथनमें पाठांतरमें "पुग्गलु तिविहु पण्मु" ऐसा है उसका अर्थ यह है कि पुद्गलके संख्यात असंख्यात अनंत प्रदेश परमाणूओंके मेलसे जानने चाहिये अर्थात् एक परमाणू एक प्रदेश बहुत परमाणू बहुत प्रदेश यह जानना । सूत्रमें शुद्ध निश्चयनयकर द्रव्यकर्मके अभावसे यह जीव अमूर्तक है और मिध्यात्वरगादिरूप भावकर्म संकल्प विकल्पके अभावसे शुद्ध है लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशवाला है ऐसा जो निजशुद्धात्मा यही वीतरागनिर्विकल्पसमाधिदशाने साक्षात् उपादेय है यह जानना ॥ १५० ॥

अग्रे लोकमें यद्यपि व्यवहारनयकर ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाहमें निहरते हैं तो भी निश्चयनयकर कोई द्रव्य किसीमें नहीं मिलना और कोई भी अवन र स्वरूपकी नहीं छोड़ता है ऐसा दित्तान्त है,—[हे जीव] हे जीव [अत्र जगति] हम समारमें [यानि द्रव्याणि कथितानि] जो द्रव्य कहे गये हैं [तानि] वे सब [लोकाकाशं

एकहिं मिलियइं एकत्वे मिलितानि । इत्थु जगि अत्र जगति सगुणहिं पिबनहिं
 निअवनयेन स्वकीयगुणेषु निवमंति 'मगुणहिं' तृतीयांतं करणपदं स्वगुणेष्वधिकरणं एवं
 जानमिति । ननु कथितं पूर्वं प्राकृते कारकव्यभिचारो लिगव्यभिचारश्च क्वचिद्भवतीति ।
 क्वानि निवमंति । नाइं तानि पूर्वोक्तानि जीवादियद्द्रव्याणीति । तथाया । यद्यपुनरुपतिताः
 मद्भूतव्यवहारेणाधाराधेयभावेनैकभेदावगाहेन तिष्ठन्ति तथापि शुद्धपारिणामिकभागभावेन
 शुद्धद्रव्याधिकृतयेन संकरव्यतिकरपरिहारेण स्वकीयस्वकीयभामान्यविशेषगुणगुणान्न लज्ज-
 तंति । अवाह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् लोकस्यावदसंख्यातप्रदेशः परमागमे भवति
 तिष्ठति तत्रासंख्यातप्रदेशलोके प्रत्येकं प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशान्यनंतजीवद्रव्याणि, तत्र वैकृते
 जीवद्रव्ये कर्मनोद्धर्मरूपेणानंतानि पुद्गलरमागुद्रव्याणि च तिष्ठन्ति तेभ्योऽनंतगुणाभि-
 शङ्कपुद्गलद्रव्यानि तिष्ठन्ति तानि मयोप्यसंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभन्ते इति पूरयामः ।
 भगवन् परिहायमाह । अवगाहनशक्तियोगादिति । तथाहि । यथैकस्मिन् गुहनागरमणाल-
 लोके सस्यस्यस्यस्यगुहनेमं वाप्रभितान्यवकाशं लभन्ते । अथवा यथैकस्मिन् प्रदीपप्रकाशे
 कश्चिन् प्रदीपप्रकाशा अवकाशं लभन्ते । अथवा यथैकस्मिन् मम्मण्डे जलपटः सस्यग-
 वकाशं लभते । अथवा यथैकस्मिन् भूमिगृहे बहवोरपि पटहजवपेटादिमन्त्राः सस्यगवकाशं
 लभन्ते यथैकस्मिन् लोके विविद्रावगाहनशक्तियोगान् पूर्वोक्तानंतमंख्या जीवपुद्गला अवकाशं
 लभन्ते न च विरोधः इति । तथा चोक्तं जीवानामवगाहनशक्त्यनिरूपं परमागमे । "एत-

निगोदसरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणे दिद्वा । सिद्धेहि जणतगुणा मज्जेण विनीदकाटणे ॥
 पुनस्तथोक्तं पुद्गलानामवगाहनप्रतिस्वरूपं । “ओगादगादणिचिद्दो पुमादकाण्हि मज्जेरो
 लोगो । सुद्धमेहि धादरेहि य जणतण्तेहि विविद्धेहि” । अयमत्र भावार्थः । यथार्थकाव-
 गाहेन निष्ठेति तथापि शुद्धनिश्चयेन जीवाः केवलज्ञानाद्यनंतगुणस्वरूपं न त्यजन्ति पुद्गला-
 वर्णादिरूपं न त्यजन्ति शेषद्रव्याणि च स्वकीयस्वकीयस्वरूपं न त्यजन्ति ॥ १५१ ॥

अथ जीवस्य व्यवहारेण शेषपंचद्रव्यवृत्तमुपकारं कथयन्ति, तस्यैव जीवस्य तिष्ठयेन
 तान्येव दुःखकाण्डानि च कथयन्ति,—

एयइं दव्वइं देहिपइं, णिपणिपकसु जणंनि ।

चउगाइदुक्खं सहंत जिप, ते संसारं भमंति ॥ १५२ ॥

एतानि द्रव्याणि देहिनां निजनिजकार्यं जनयन्ति ।

चतुर्गतिदुःखं सहमानाः जीवाः तेन संसारं भ्रमन्ति ॥ १५२ ॥

एयइं इत्यादि । एयइं एतानि द्रव्यं जीवास्त्यक्त्वाणि देहिपइं देहिनां संसारि-

जगह पाता है, अथवा जैसे एक राखके पड़ेमें जलका पड़ा अच्छी तरह अवकाश पाता
 है उसमें जल शोषित हो जाता है, अथवा जैसे एक उटनीके दूधके पड़ेमें घाहनवा
 पड़ा समा जाता है, अथवा एक भूमिपरमें होल घंटा आदि बहुत यात्रोंका राज्य अच्छी
 तरह समाजाता है उसीतरह एक लोक आकाशमें विविध अवगाहन क्षणिक योगमें
 अनंतजीव और अनंतानंत पुद्गल अवकाश पाते हैं इसमें विरोध नहीं है । और ऊँचेमें
 परस्पर अवगाहन शक्ति है । ऐसा ही कथन परमाणवमें कहा है—“एगगिगोद”
 इत्यादि । इसका अर्थ ऐसा है कि एक निगोदिया जीवके शरीरमें जीव द्रव्यके प्रमाणमें
 दिक्काए गये जिनमें सिद्ध हैं उन सिद्धोंमें अनंतगुणों जीव एक निगोदियाके शरीरमें है
 और निगोदियाका शरीर अंगुलके असंख्यालये भाग है सो ऐसे सूक्ष्म शरीरमें अनंत
 जीव समा जाते हैं तो लोकाकाशमें समाजानेका क्या अर्थभा है । अनंतानंत पुद्गल लोक-
 काशमें समारहे है उसकी “ओगाद” इत्यादि गाथा है । उसका अर्थ यह है कि सबद्वार
 सब जगह यह लोक पुद्गल कायोक अवगादगाह भरा है ये पुद्गल काय अनंत हैं अनेक
 प्रकारके भेदको धरते हैं कोई सूक्ष्म है कोई बाहर है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब द्रव्य
 एक शेषावगाहपर रहते हैं तौभी शुद्धनिश्चयनवत्तर जीव केवलज्ञानादि अनंतगुणद्रव्य
 अपने स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादि स्वरूपको नहीं छोड़ता और
 यथादि अन्य द्रव्य भी अपने स्वरूपको नहीं छोड़ते हैं ॥ १५१ ॥

अगे ऊँचेका जलपाननवत्तर अन्य पानी द्रव्य पचने पर है । लोकाकाशमें
 उसी ऊँचेके निश्चयन वत् पुद्गल काय है एना वत्तर है { एगाद

पूर्वाणाम्भवात् पुद्गलादिपञ्चद्रव्यस्यभावं दुःखस्य कारणं ज्ञात्वा । किं क्रियते । होयवि भूत्वा । क । मोक्षराहं मग्निं मोक्षस्य मार्गं लघु लघु शीघ्रं पश्चान् गमिष्याह गम्यते । क । कर्मतापत्रः । परलोउ परलोको मोक्ष इति । तथाहि । धीतरागसदानन्दैकस्याभाविक-
सुखविपरीतस्याकुलत्वोपादकस्य दुःखस्य कारणानि पुद्गलादिपञ्चद्रव्यानि ज्ञात्वा हे जीव भेदाभेदरसत्रयलक्षणं मोक्षस्य मार्गं स्थित्वा परः परमात्मा स्वस्यावलोकनमनुभवनं परमसम-
रसीभावेन परिणमनं परलोको मोक्षस्तत्र गम्यत इति भावार्थः ॥ १५३ ॥

अथेदं व्यवहारेण मया भणितं जीवद्रव्यादिग्रहानुरूपं सम्यग्दर्शनमिदानीं सम्यग्ज्ञानं
चारित्र्यं च हे प्रभाकरभट्ट शृणु स्वमिति मनसि धृत्या सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

णियमिं कहियउ एहु मइ, व्यवहारेणयि दिट्ठि ।

एवहिं णाणु चरित्तु सुणि, जिं पायहि परमेट्ठि ॥ १५४ ॥

नियमेन कथिता एषा मया व्यवहारेणैव दृष्टिः ।

इदानीं ज्ञानं चारित्र्यं शृणु येन प्राप्नोषि परमेष्टिम् ॥ १५४ ॥

णियमं नियमेन निभयेन कहियउ कथिता एहु मइ एषा कर्मतापत्रा मया । केनैव ।
व्यवहारेणयि व्यवहारनयेनैव । एषा क । दिट्ठि दृष्टिः । दृष्टिः कोर्धः सम्यक्त्वं एवहिं
इदानीं णाणु चरित्तु सुणि हे प्रभाकरभट्ट क्रमेण ज्ञानचारित्र्यद्वयं शृणु । येन क्षुतेन किं
भवति । जें पायहि येन सम्यग्ज्ञानचारित्र्यद्वयेन प्राप्नोषि । किं प्राप्नोषि । परमेष्टि परमे-
ष्टिपदं मुक्तिपदमिति । अतो व्यवहारसम्यक्त्वविषयभूतानां द्रव्याणां गूलिकारूपेण व्याख्यातं

इमं स्वमात्रं] परद्रव्योक्ते ये स्वभाव [दुःखस्य] दुःखके [कारणं मत्वा] कारण जान-
कर [मोक्षस्य मार्गं] मोक्षके मार्गमें [भूत्वा] लगकर [लघु] शीघ्र ही [परलोकः
गम्यते] उत्कृष्ट लोक रूप मोक्षमें जाना चाहिये । भावार्थ—पहले कहेगये पुद्गलादि
द्रव्योक्ते सहाय दारीर वचन मन स्थासोधात आदिक ये सब दुःखके कारण हैं क्योंकि
धीतराग सदा आनंदरूप स्वभावकर उत्पन्न जो अतीव्री सुख उससे विपरीत आकुलताके
उपजानेवाले है ऐसा जानकर हे जीव तू भेदाभेद रसत्रयस्वरूप मोक्षके मार्गमें लगकर
परमात्माका अनुभव परमसमरसीभावसे परिणमन रूप मोक्ष उसमें गगन कर ॥ १५३ ॥

आगे व्यवहारनयसे मैंने ये जीवादि द्रव्योक्ते ग्रहानुरूप सम्यग्दर्शन कहा है अब
सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यको हे प्रभाकर भट्ट तू सुन ऐसा मनमें रखकर यह दोहा-
सूत्र कहते हैं,—हे प्रभाकर भट्ट [मया] मैंने [व्यवहारेणैव] व्यवहारनयसे तुझको
[एषा दृष्टिः] ये सम्यग्दर्शनका स्वरूप [नियमेन कथिता] अच्छीतरह कहा [इदानीं]
अब तू [ज्ञानं चारित्र्यं] ज्ञान और चारित्र्यको [शृणु] सुन [येन] जिसके धारण
करनेसे [परमेष्टिं प्राप्नोषि] सिद्धपरमेष्टीके पदको पावै । भावार्थ—व्यवहार सम्यक्त्वके

क्रियते । तद्यथा । “परिणाम जीव मुक्तं संपदेसं ण्यं चित्तं किरिया य । निष्ं कारणं दत्ता
सच्चगदं इदरक्षि यपवेसो” । परिणाम इत्यादि । ‘परिणाम’ परिणामिनो जीवपुत्रो
स्वभावविभावपरिणामाभ्यां शेषचत्वारि द्रव्याणि जीवपुत्रलवद्विभावव्यंजनपर्यायामात्र
मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनि इति, ‘जीव’ शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं शुद्ध-
तन्म्यं प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीवः व्यवहारनयेन पुनः कर्मोदयजनितद्रव्य-
भावरूपैश्चतुर्भिः प्राणैर्जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः पुत्रलादिपंचद्रव्याणि
पुनरजीवरूपाणि, ‘मुक्तं’ अमूर्तशुद्धात्मनो विलक्षणा स्पर्शरसगंधधर्माणवती मूर्तिरुच्यते - कल्प-
ज्ञावात्मूर्तः पुत्रलः जीवद्रव्यं पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्तमपि शुद्धनिश्चयनयेनामूर्त-
धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्तानि, ‘संपदेसं’ लोकमात्रप्रमितामंलयेयप्रदेशलभ्यं
जीवद्रव्यमादिं कृत्वा पंचद्रव्याणि पंचास्तिकायसंज्ञानि संप्रदेशानि कालद्रव्यं पुनर्पुनर्देश-
लभ्यकायत्वाभावात्प्रदेशं, ‘ण्यं, द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति
जीवपुत्रलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति, ‘स्वेत्तं’ सर्वद्रव्याणामयकाशदानमामर्ष्यं
क्षेत्रमाकाशमेकं शेषपंचद्रव्याण्यभेदाणि, ‘किरिया य’ क्षेत्रात्क्षेत्रांतरगमनरूपा परिमृष्टवती
पञ्चनरणी क्रिया सा विद्यते ययौली क्रियावंतौ जीवपुत्रलौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्यानि
पुनर्निष्क्रियाणि, ‘निष्ं’ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि ययप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि तपन्ति

कारण भूत एव द्रव्योंका सांगोपांग व्याख्यान करते हैं “परिणाम” इत्यादि वाक्यमें ।
इगका अर्थ यह है कि इन एव द्रव्योंमें विभावपरिणामके परिणमनेवाले जीव ही
पुत्रल दोही हैं अन्य चार द्रव्य अपने स्वभावरूप तो परिणमते हैं लेकिन जीव पुत्रली
तबह विभाव व्यंजन पर्यायके अभावसे विभावपरिणमन नहीं है इसलिये मुख्यतासे परि-
णामी दो द्रव्य ही कहें हैं, शुद्ध निश्चय नयकर शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव जो शुद्ध चैतन्य-
ज्ञान उनमें जीवता है जीवेगा पहले जी आया धीर व्यवहार नयकर ईद्री वन आयुक्त-
संन्यास रूप द्रव्यप्राणोंकर जीता है जीवेगा पहले जी बुद्धा इगदिये जीवको ही जीव
कहा गया है अन्य पुत्रलादि पांच द्रव्य अजीव हैं, स्पर्शरसगंधधर्मावली मूर्ति मर्त्य
मूर्ति व द्रव्य पुत्रलद्रव्य ही है अन्य पांच अमूर्तक है । उनमेंमें धर्म अधर्म आकाश
काल ये चारों ही प्रत्यक्षमें अमूर्तक हैं तथा जीवद्रव्य अनुपचरित अमर्तक जाय
नयकर मूर्तक भी कहा जाता है क्योंकि शरीरको धारण कर रहा है तोभी शुद्ध-
अद्वयतत्त्व अमूर्तक ही है, जोह प्रमाण अमर्त्यान प्रदेशी जीवद्रव्यको यदि लेहा
पांच द्रव्य संन्यास है वे संप्रदेशी है क्षेत्र वरुद्रव्य बहुपदसमभावकायना व
होलेले अद्वेदी है, वन व्यंजन वाह्य व लीन द्रव्य एक एक है जीव जीव पुत्रल
कहा है जीवो अमर्तक है । जीव न भवन है पुत्रल भवननीन है ज्ञान आभावन है

सुखदृष्ट्या विभाव्यजनपर्यायाभावान् नित्यानि । द्रव्यार्थिकनयेन च जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिरूपस्यभावपर्यायापेक्षया विभाव्यजनपर्यायापेक्षया चानित्ये, 'कारण' पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाह्यनःप्राणापानादिगतिभिन्ववगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्ति इति कारणानि भवन्ति जीवद्रव्यं पुनर्यद्यपि गुरुनिष्प्यादिरूपेण परस्पररोपमहं करोति तथापि पुद्गलादिपंच-द्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणं, 'कथा' शुद्धपारिणामिकपरमभावप्रादुर्भावेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बंधमोक्षद्रव्यभावरूपः पुण्यपापपटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणतः भव्य पुण्यपापबंधयोः कर्ता तत्कलभोक्त्य च भवति विमुक्तज्ञान-दर्शनम्वभायनिजशुद्धास्मद्रव्यमन्वबुद्धानुज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तत्परिणतः सन् मोक्षस्यापि कर्ता तत्कलभोक्त्य च । शुभाशुभशुद्धपरिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं सर्वत्र ज्ञानव्यमिति । पुद्गलादिपंचद्रव्याणां च स्वकीयस्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वं । यत्सुदृष्ट्या पुनः पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव, 'सर्ववगदं' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगत-माश्रयं भण्यते धर्माधर्मौ च लोकव्याप्त्यपेक्षया जीवद्रव्यं तु पुनरेकैकजीवापेक्षया लोकपू-

सब द्रव्योंको अवकाश देने समर्थ एक आकाश ही है इसलिये आकाश क्षेत्र कहा गया है बाकी पांच द्रव्य अक्षेत्री हैं, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें गमन करना यह चलन हलन-वर्ती क्रिया कही गई है यह क्रिया जीव पुद्गल दोनोंके ही है और धर्म, अधर्म आकाश काल चार द्रव्य निष्क्रिय हैं जीवोंमें भी संसारी जीव हलनचलनवाले हैं इसलिये क्रियावंत हैं और सिद्ध परमेष्टी निःक्रिय हैं उनके हलन चलन क्रिया नहीं है, द्रव्यार्थिकनयसे विचारा जाये तो सभी द्रव्य नित्य हैं और अधर्पर्याय जो बद् गुणी हानि वृद्धिरूप स्वभावपर्याय है उसकी अपेक्षा सब ही अनित्य हैं तौभी विभाव्यजनपर्याय जीव और पुद्गल इन दोनोंकी है इसलिये इन दोनोंको ही अनित्य कहा है अन्य चार द्रव्य विभावके अभावसे नित्य ही हैं इसकारण यह निश्चयसे जानना कि चार नित्य हैं दो अनित्य हैं तथा द्रव्यकर सब ही नित्य हैं कोई भी द्रव्य विनश्वर नहीं है, जीवको पांचों ही द्रव्य कारणरूप हैं पुद्गल तो शरीरादिकका कारण है धर्म अधर्मद्रव्य गति स्थिति के कारण हैं आकाशद्रव्य अवकाश देनेका कारण है और काल वर्तनाका साह्य है । ये पांचों द्रव्य जीवको कारण हैं और जीव उनको कारण नहीं है । यद्यपि जीवद्रव्य अन्य जीवोंको गुरु निष्प्यादिरूप परस्पर उपकार करता है तौभी पुद्गलादि पांचद्रव्योंको अकारण है और ये पांचों कारण हैं, शुद्ध पारिणामिक परमभावप्रादुर्भावे शुद्धद्रव्यार्थिक नयकर यह जीव यद्यपि बंध मोक्ष पुण्य पापका कर्ता नहीं है तौभी अशुद्ध निश्चयनयकर शुभ अशुभ उपयोगोंमें परिणत हुआ पुण्य पापके बंधका कर्ता होता है और उनके

निर्विकल्पसमाधिकाले बहिरूपयोगो यद्यप्यनीहितस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद्गोचरवन्ति
कृत्वा स्वसंवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते ॥ १५५ ॥

अथ स्वपरद्रव्यं ज्ञात्वा रागादिरूपपरद्रव्यविषयसंकल्पविकल्पत्यागेन स्वस्वरूपे अवस्थानं
ज्ञानिनां चारित्रमिति प्रतिपादयति;—

ॐ जाणवि मण्णवि अप्पु परु, जो परमाउ चण्ड ।

सो णिउ सुद्धउ भावडउ, णाणिहिं चरणु हवेड ॥ १५६ ॥

ज्ञात्वा मत्त्वा आत्मानं परं यः परमावं त्यजति ।

स निजः शुद्धः भावः ज्ञानिनां चरणं भवति ॥ १५६ ॥

जाणवि इत्यादि । जाणवि सम्यग्ज्ञानेन ज्ञात्वा न केवलं ज्ञात्वा मण्णवि तत्त्वार्थ-
श्रद्धानलक्षणपरिणामेन मत्त्वा श्रद्धाय । कं । अप्पु परु आत्मानं च परं च जो यः कर्ता
परमाउ परमावं चण्ड त्यजति सो स पूर्वोक्तः णिउ निजः सुद्धउ भावडउ शुद्धो
भावः णाणिहिं चरणु हवेड ज्ञानिनां पुरुषाणां चरणं भवतीति । तद्यथा । वीतरागमद-
जानंदैकस्वभावं स्वद्रव्यं तद्विपरीतं परद्रव्यं च संशयविपर्ययानभ्यव्रंसापरहितेन ज्ञानेन
पूर्वं ज्ञात्वा शंकादिदोषपरहितेन सम्यक्त्वपरिणामेन श्रद्धाय च यः कर्ता मायानिध्वानि-
नशत्यप्रभृतिसमस्तचित्ताजालत्यागेन निजशुद्धात्मस्वरूपे परमानंदमुत्तरसाक्षादनुभूया
तिष्ठति स पुरुष एवामेदेन निश्चयचारित्रं भवतीति भावार्थः ॥ १५६ ॥ एवं मोक्षमोक्ष-

निश्चय सम्यग्ज्ञान है । व्यवहारसम्यग्ज्ञान तो परंपराय मोक्षका कारण है और निश्चय
सम्यग्ज्ञान साक्षात् मोक्षका कारण है ॥ १५५ ॥

आगे निजपर द्रव्यको जानकर रागादिरूप जो परद्रव्यमें संकल्पविकल्प हैं उनके
त्यागसे जो निजस्वरूपमें निश्चलता वही ज्ञानी जीवोंके सम्यक् चारित्र है ऐसा कहते
हैं;—सम्यग्ज्ञानसे [आत्मानं च परं] आपको और परको [ज्ञात्वा] जानकर और
सम्यग्दर्शनसे [मत्त्वा] आपपरकी प्रतीति करके [यः] जो [परमावं] परमावकी
[त्यजति] छोड़ता है [मः] वह [निजः शुद्धः भावः] आत्माका निज शुद्ध भाव
[ज्ञानिनां] ज्ञानीपुरुषोंके [चरणं] चारित्र [भवति] होता है । भावार्थ—वीतराग
सहजानंद अद्वितीय स्वभाव जो आनन्दद्रव्य उभय विपरीत पुद्गलादि परद्रव्योंको सम्य-
ग्ज्ञानसे पहचने तो जानें वह सम्यग्ज्ञान मगध विमोह और विभ्रम इन तीनोंमें रहित है ।
तथा शंकादि दोषोंमें रहित जो सम्यग्दर्शन है उभय आप परकी श्रद्धा करे अच्छीतरह
जानके प्रतीति करे और माया निधवा निदान इन तीन मत्त्वोंको आदि देकर सम्य-
चित्तममृतके त्यागसे निज शुद्धात्म स्वरूपमें निष्टे है, वह परम आनंद अतींद्रिय गुण-
रमक अमरदमे दृम हुआ पुरुष ही अनेकनवमे निश्चय चारित्र है ॥ १५६ ॥

फलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुच्यन्तेन सूत्र
प्रथं पदद्वयभङ्गान्तर्गुणं व्यवहारसम्यक्प्रव्याख्यायानमुच्यन्तेन सूत्राणि चतुर्दश, सम्य
गज्ञानधारिणमुच्यन्तेन सूत्रद्वयमिति मनुदायैर्नैकोनविंशतिसूत्रमूलं समाप्तं ।

अद्यान्तत्तमभेदरत्नत्रयव्याख्यायानमुच्यन्तेन सूत्राष्टकं कथ्यते तत्रादौ तावत् रत्नत्रयमत्र
भव्यजीवस्य लक्षणं प्रतिपादयति:—

जो भक्तउ रयणस्यार्ह, तसु गुणि लक्षणु गउ ।

अप्या मिद्विपि गुणगिलउ, तासुपि अणु ण झेउ ॥ १५७ ॥

यः भक्तः रत्नत्रयस्य तस्य मन्यस्य लक्षणं इदम् ।

आत्मानं गुणैः गुणनित्यं तस्यैव अन्यन् न ध्येयम् ॥ १५७ ॥

जो इत्यादि । जो यः भक्तउ भक्तः । कस्य । रयणस्यार्ह रत्नत्रयसंगुणस्य जीवस्य
गुणि मन्यस्य जानीदि हे प्रभाकरभट्ट । किं जानीदि । लक्षणं लक्षणं एउ इदमे
वक्ष्यमाणं । इदं किं । अप्या मिद्विपि आत्मानं गुणैः । किं विविधं । गुणगिलउ
गुणनित्यं गुणगुहं तासुपि तस्यैव जीवस्य अणु ण झेउ निश्चयेनाग्राह्यद्विधेयं ध्येयं न
भवतीति । तथाहि । व्यवहारण बीजरागासर्बज्ञप्रणीतगुह्यतमसत्त्वप्रसूतिपद्व्यवस्थापनाका-

इस प्रकार मोक्ष, मोक्षका कल, मोक्षका मार्ग इनको बहनेवाले दूसरे महाधिकारमें
निश्चयव्यवहार रूप निर्वाणके पंथकी मुख्यतासे तीन दोहाओंमें व्याख्यान दिया और
और दो दोहाओंमें एह द्वयकी भट्टारूप व्यवहार सम्यक्त्वका व्याख्यान दिया तथा दो
दोहाओंमें सम्यगज्ञान सम्यक् धारिणकी मुख्यतासे वर्णन दिया । इसप्रकार एही
दोहाओंका मूल पूरा हुआ ।

आगे अभेद रत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे आठ दोहाएँ बहने हैं उनमें से पह
रत्नत्रयका भक्त भव्यजीव हे उनका लक्षण बहने है:—[यः] जो जीव [रत्नत्रयस्य
भक्तः] रत्नत्रयका भक्त है [तस्य] उसका [इदं लक्षणं] यह लक्षण [मन्यस्य]
जानना हे प्रभाकर भट्ट रत्नत्रय धारकके ये लक्षण हैं कि [गुणनित्यं] गुणोंके बहने
[आत्मानं गुणैः] आत्माको छोड़कर [अन्यन्] आत्माने अप्र कदा कदाके

यसप्ततत्त्वनेवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धानज्ञानाहिंसादिद्वतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्न-
त्रयस्य निश्चयेन वीतरागसदानन्दैकरूपमुखमुधारसाखादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्-
श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेदरत्नत्रयस्य च योसौ भक्तस्तस्येदं लक्षणं जानीहि । इदं किं
यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां चित्तस्थितिकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्तीदिविभूतिविशेष-
कारणं परंपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूतं पंचपरमेष्ठिरूपसत्त्वस्तुतचगुणसत्त्वादिकं वचनेन
स्तुत्यं भवति मनसा च तद्गुरुरूपादिकं प्रायमिकानां ध्येयं भवति तथापि पूर्वोक्तनिश्चय-
रत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरिणतस्यशुद्धात्मैव ध्येय इति । अत्रेदं तात्पर्यं ।
योसावनंतज्ञानादिगुणः शुद्धात्मा ध्येयो भणितः स एव निश्चयेनोपादेय इति ॥ १५७ ॥

अथ ये ज्ञानिनो निर्मलरत्नत्रयमेवात्मानं मन्यन्ते शिवशब्दवाच्यं ते मोक्षपदाराधकाः
संतो निजात्मानं ध्यायन्तीति निरूपयति;—

जे रयणत्तउ णिम्मलओ, णाणिय अप्पु भणंति ।

ते आराहय सिवपयहं, णियअप्पा झायंति ॥ १५८ ॥

ये रत्नत्रयं निर्मलं ज्ञानिनः आत्मानं भणन्ति ।

ते आराधकाः शिवपदस्य निजात्मानं ध्यायन्ति ॥ १५८ ॥

जे इत्यादि । ये केचन रयणत्तउ रत्नत्रयं । कथंभूतं । णिम्मलउ निर्मलं रागादि-

कर परिणत हुआ । उसका सम्यक् श्रद्धान ज्ञान आचरणरूप अभेदरत्नत्रय है उसका जो
भक्त (आराधक) उसके ये लक्षण हैं यह जानो । ये कौनसे लक्षण हैं—यद्यपि व्यवहार
नयकर सविकल्प अवस्थामें वित्तके स्मिर करनेके लिये पंचपरमेष्ठीका स्तवन करता है जो
पंचपरमेष्ठीका स्तवन देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूतिका कारण है और परंपराय शुद्ध आत्म-
तत्त्वकी प्राप्तिका कारण है सो प्रथम अवस्थामें भग्यजीवोंको पंच परमेष्ठी ध्यावने योग्य है
उनके आत्माका स्तवन गुणोंकी स्तुति वचनमे उनकी अनेक तरहकी स्तुति करनी और
मनमे उनके नामके अक्षर तथा उनका रूपादिक ध्यावने योग्य है सो भी पूर्वोक्त निश्चय-
रत्नत्रयकी प्राप्तिके समय केवलज्ञानादि अनंत गुणरूप परिणत जो निजशुद्धात्मा परी
आगवने योग्य है अन्य नहीं । तात्पर्य यह है कि ध्यान करने योग्य या सो निज आत्मा
या पंचपरमेष्ठी है अन्य नहीं सो प्रथम अवस्थामें सो पंच परमेष्ठीका ध्यान करना
योग्य है और निर्विकल्पदशामें निजस्वरूप ही ध्यावने योग्य है निजस्वरूप ही उपदेश
है ॥ १५७ ॥

अने जो ज्ञानी निर्मलरत्नत्रयको ही आत्मस्वरूप मानते हैं और अनेको ही शिव
पदवने हैं वे ही केवलपदके धारक हुए निज आत्माको ध्यावने हे योग निरूपण करते
हैं । [निर्मलरत्नत्रय] जो ज्ञानी [निर्मलं रत्नत्रयं] निर्मलं रागादि मोहादित आकाश-

माकरमदः । अयोक्तं भवद्भिः य एव शुद्धात्मस्थानं कुर्यात् न एव मोक्षं मयि यत्नम् ।
 चारित्रमागदौ पुनर्भवितां द्रव्यपरमाणुं मावरणमाणुं वा ध्यानात् केवलज्ञानमुत्पन्नं
 यत्र विषये अग्राह्यं मन्दोहोऽस्ति । अत्र श्रीयोगीन्द्रेणः परिहासमादुः । तत्र द्रव्य-
 परमाणुजन्तेन द्रव्यमूढमत्तं मावरणमाणुजन्तेन मावमूढमत्तं मायं न च पुनरुत्पन्न-
 माणुः । तथाचोक्तं भवार्थमिद्विद्विषयिके । द्रव्यपरमाणुजन्तेन द्रव्यमूढमत्तं मावर-
 णमाणुजन्तेन भावमूढमत्तमिति । तथा । द्रव्यमात्रमद्रव्यं तस्य परमाणुजन्तेन मूढमत्त-
 माया । सा च रागादिविकल्पोपधिगतिना तस्य सूक्ष्मत्वं कथयति चेत्, निर्विकल्प-
 माधिविषयत्वेनैन्द्रियमनोविकल्पतातीतत्वात् । भावजन्तेन स्वमवेदनपरिणामः तस्य भाव-
 परमाणुजन्तेन सूक्ष्मावस्था प्राप्ता । सूक्ष्मा कथयति चेत् । वीतरागनिर्विकल्पमनस-
 भावविषयेन पंचेन्द्रियमनोविषयानीतत्वादिति । पुनरुत्पाद । इदं परद्रव्यावर्तनं धृतं
 निषिद्धं किल भवद्भिः निजशुद्धात्मस्थानेनैव मोक्षः कुप्रारि भगिनमात्रे । परिहारान-
 “अप्पा ह्यायहि जिम्मलउ” इत्यग्रैव ग्रंथे निर्णयं भगिनमात्रे, ग्रंथान्तरे च मनाविगत-
 कादौ पुनश्चोक्तं तैरेव पूज्यपादव्यामितिः । “आत्मानमाया आत्मन्येवात्मनानौ कन्दु-

शीघ्र [लभन्ते] पाते हैं । भावार्थ—यह कथन श्रीगुरुने कहा तब प्रमाकरमदने पूछा
 कि हे प्रभो तुमने कहा कि जो शुद्धात्माका ध्यान करते हैं वे ही मोक्षको पाते हैं वृत्त्य
 नहीं । तथा चारित्रासारादिक ग्रंथोंमें ऐसा कहा है जो द्रव्यपरमाणू और भावरणमाणू
 ध्यानकर केवल ज्ञानको पाते हैं । इस विषयमें मुझको संदेह है । तब श्रीयोगीन्द्रेव
 समाधान कहते हैं । द्रव्यपरमाणुसे द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणुसे भावकी सूक्ष्मता
 कही गई है । उसमें पुद्गल परमाणूका कथन नहीं है । तत्त्वावस्थकी सर्वोपसिद्धि टीकाने
 भी ऐसा ही कथन है जो द्रव्य परमाणू द्रव्यकी सूक्ष्मता और भावपरमाणू भावकी सूक्ष्मता
 समक्षना अन्यद्रव्यका कथन न लेना । यहां निजद्रव्य तथा निजगुणपर्यायका ही कथन है
 अन्य द्रव्यका प्रयोजन नहीं है । द्रव्य अर्थात् आत्मद्रव्य उसकी सूक्ष्मता वह द्रव्यपरमाणू
 कहा जाता है । वह रागादि विकल्पकी उपाधि से रहित है उसको सूक्ष्मपना कैसे हो
 सकता है ऐसा शिष्यने प्रश्न किया । उसका समाधान इस तरह है कि मन और इंद्रि-
 ओके अगोचर होनेसे सूक्ष्म कहा जाता है तथा भाव (स्वमवेदनपरिणाम) भी परम-
 सूक्ष्म है वीतराग निर्विकल्प परमसमरसीभावरूप है बड़ा मन और इंद्रियोंकी गन्ध नहीं
 है इसलिये सूक्ष्म है । ऐसा कथन सुनकर फिर शिष्यने पूछा कि तुमने परद्रव्यके आक-
 षणरूप ध्यानका निषेध किया और निजशुद्धात्माके ध्यानसे ही मोक्ष कही । ऐसा कथन
 किसप्रकार कहा है । उसका समाधान । “अप्पा ह्यायहि जिम्मलउ” निर्मल आत्माको
 ध्याओ ऐसा कथन इस ग्रंथमें पहले कहा है और समाधिप्रवृत्तकमें भी श्रीपूज्यपादस्तानीने

नमुख्यत्वेन स्थलं समाप्तं । अत ऊर्ध्वं चतुर्दशसूत्रपर्यंतं परमोपशमभावमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति ।

तथाहि;—

—कम्मु पुरकिउ सो खवइ, अहिणव पेसु ण देइ ।

संगु मुएविणु जो सयलु, उवसमभाउ करेइ ॥ १६५ ॥

कर्म पुराकृतं स क्षपयति अभिनवं प्रवेशं न ददाति ।

संगं मुत्तवा यः सकलं उपशमभावं करोति ॥ १६५ ॥

कम्मु इत्यादि । कम्मु पुरकिउ कर्म पुराकृतं सो खवइ स एव बीतरागसमवेदन-
स्वस्थानी क्षपयति । पुनरपि किं करोति । अहिणव पेसु ण देइ अमितव कर्म प्रवेशं
न ददाति । स कः । संगु मुएविणु जो सयलु संगं बाह्याभ्यन्तरपरिमहं मुत्तवा यः कर्ता
समन्तं । पञ्चात्किं करोति । उपसमभाउ करेइ जीवितमरणलाभालाभमुग्दुःखारिमम-
तामायलक्षणममभावं करोति । तद्यथा । म एव पुराकृतकर्म क्षपयति नवतरं संगुगोति य
एव बाह्याभ्यन्तरपरिमहं मुत्तवा सर्वज्ञानं पठित्वा च शास्त्रफलभूतं बीतरागपरमानंदकमुग्द-
रमास्यादरूपं समभावं करोतीति भावार्थः । तथा चोक्तं । “भान्यमेवादराद्भाज्यं किमन्यै-
र्मथविन्दरैः । प्रक्रियामात्रमेवेदं बाह्यं विश्रमस्य हि” ॥ १६५ ॥

महाधिहारमं आठ दोहा सूत्रोसे अभेदरत्नत्रयके व्याख्यानकी मुख्यतासे अनुरक्षण
प्रा हुआ ।

आगे चौदह दोहा तक परम उपशम भावकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं;—
[म एव] वही बीतराग समवेदन ज्ञानी [पुराकृतं कर्म] पूरे उपाजिन कर्मोको [क्षप-
यति] क्षय करता है और [अभिनवं] नये कर्मोको [प्रवेशं] प्रवेश [न ददाति]
नहीं होने देता [यः] जो कि [मकलं] सब [संगं] बाह्य अभ्यन्तर परिमहको [मुत्तवा]
छोड़कर [उपशमभावं] परम शान्ति भावको [करोति] करता है अर्थात् जीवन मरण
राम भयम सुख दुःख शत्रु मित्र लृप्त कंचन इत्यादि वस्तुओंमें एकमा परिणाम रमना
है । भावार्थ—जो मुनिरात्र मकल परिमहको छोड़कर सब बाधाओंका रहस्य जानके
बीतराग परमानंद सुखरमका अन्वदी हुआ समभाव करता है वही मानु पूरेके कर्मोका
क्षय करता है और नवीन कर्मोको रोचना है । ऐसा ही कथन पद्यनदि पद्यामीने भी
करा है । “भान्यमेव” इत्यदि । इसका तात्पर्य यह है कि अद्वैतमे समभावको ही परम
कारण बर्हिसे अन्य सबके विनाशोत्पत्ति, समस्त पथ तथा मकल आदशाग इस समान-
द्वय रूपका ही टीका है ॥ १६५ ॥

शानीजनः सा णिसि मणिवि मुवेह तां रात्रिं भत्वा त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीतरागनिर्विकल्प-
परममभाधियोगनिद्रायां स्वप्नि इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो
भण्यते इति तात्पर्यार्थः ॥ १७३ ॥

अथ शानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति
दर्शयति;—

११ णाणि मुएप्पिणु भाउ समु, कित्थुवि जाइ ण राउ ।

जेण लहेसइ णाणमउ, तेण जि अप्पसहाउ ॥ १७४ ॥

११ शानी मुक्त्वा भावं शमं हापि याति न रागम् ।

येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मस्वभावम् ॥ १७४ ॥

णाणि इत्यादि । णाणि परमात्मरागात्मबन्धोर्भेदज्ञानी मुएप्पिणु मुक्त्वा । फं । भाउ
भावं । कथंभूतं भावं । समु उपजमं पंचेंद्रियविषयाभिलापरहितं वीतरागपरमाह्लादमहितं
कित्थुवि जाइ ण राउ तं पूर्वोक्तं ममभावं मुक्त्वा हापि बहिर्विषये रागं न याति न
गच्छति । कस्मादिनि चेन् । जेण लहेसइ येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति ।
फं । णाणमउ ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्वृत्तं केवलज्ञानान्वर्भूतानन्तगुणं तेण जि तेनैव समभा-
वेन अप्पसहाउ निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यं । शानी पुरुषः शुद्धात्मानुभू-

जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे परान्मुख हुए विषयकषायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं
जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान (जागते)
नहीं रहते। इसलिये संसारकी दशासे सोते हुएसे मादृश पड़ते हैं। जिनको आत्मस्वभावके
सिवाय विषयकषायरूप प्रपंचकी मादृश भी नहीं है। उस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर
उसमें याद नहीं रखते मनवचनकायकी तीन गुप्तिमें अचल हुए वीतराग निर्विकल्प परम
समाधिरूप योगनिद्रामें मगन होरहे हैं । सारास यह है कि ध्यानी मुनियोंको आत्मस्व-
रूपकी गम्य है प्रपंचकी गम्य नहीं है और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनकी
आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है अनेक प्रपंचोंमें (सगड़ोंमें) लगे हुए हैं। प्रपंचकी
सावधानी रखनेको मूढ़ज्ञाना बड़ी परमार्थ है तथा बाधविषयोंमें जामत होना ही
मूल है ॥ १७३ ॥

आगे जो शानी पुरुष हैं वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादि परद्रव्यमें
राग नहीं करते ऐसा दिसलाते हैं;—[शानी] निजपरके भेदका जाननेवाला शानी
मुनि [शमं भावं] समभावको [मुक्त्वा] छोड़कर [हापि] किसी पदार्थमें [रागं न
याति] राग नहीं करता [येन] इसी कारण [ज्ञानमयं] ज्ञानमई निर्बोधपद
[प्राप्स्यति] पावेगा [तेनैव] और उसी समभावसे [आत्मस्वभावं] केवल ज्ञान पूर्ण

अथवा यथा कोपि लोकमध्ये वित्तविकलो मृतः मन निदां लभने तथा शब्दछलेन तयो-
धनोपीति ॥ १७२ ॥

अथ स्थलसंख्यावाहं प्रक्षेपकं कथयति;—

॥ जा णिसि सयलहं देहियहं, जोगिउ तहिं जग्गेइ ।

जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु, सा णिसि मणिवि सुवेइ ॥ १७३ ॥

या निशा सकलानां देहिनां योगी तस्यां जागर्ति ।

यत्र पुनः जागर्ति सकलं जगत् तां निशां मत्वा स्वपिति ॥ १७३ ॥

जा णिसि इत्यादि । जा णिसि या वीतरागपरमानंदकसहजशुद्धात्मावस्था मिथ्यात्वा-
गांधकारावगुंठिता सती रात्रिः प्रतिभाति । केषां । सयलहं देहियहं मकलानां स्वशु-
द्धात्मसंविस्तरहितानां देहिनां जोगिउ तहिं जग्गेइ परमयोगी वीतरागनिर्विकल्पस्वमंत्रे-
दनज्ञानरत्नप्रदीपप्रकाशेन मिथ्यात्वरगादिविकल्पजालांधकारमपसार्य स तस्यां तु शुद्धा-
त्मना जागर्ति जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु यत्र पुनः शुभाशुभमनोवाक्यायपरिणामव्या-
पारे परमात्मतत्त्वभावनापराङ्मुखः सन् जगज्जागर्ति स्वशुद्धात्मपरिज्ञानरहितः सकलो

निदा है कि विकल अर्थात् बुद्धि वगैरःसे भ्रष्ट होकर लोक अर्थात् लोगोंके ऊपर चढ़ता
है । यह लोकनिदा हुई । लेकिन असलमें ऐसा अर्थ है कि विकल अर्थात् शरीरसे रहित
होकर तीन लोकके शिखर (मोक्ष) पर विराजमान हो जाता है । यह सुति ही है ।
क्योंकि जो अनंत सिद्ध हुए तथा होंगे वे शरीर रहित निराकार होके जगतके शिखरपर
विराजे ॥ १७२ ॥

आगे स्थलसंख्याके सिवाय क्षेपक दोहा कहते हैं;—[या] जो [सकलानां
देहिनां] सब संसारी जीवोंकी [निशा] रात है [तस्यां] उस रातिमें [योगी]
परम तपस्वी [जागर्ति] जागता है [पुनः] और [यत्र] जिसमें [सकलं जगत्]
सब संसारी जीव [जागर्ति] जाग रहे हैं [तां] उस दशाको [निशां मत्वा] योगी
रात मानकर [स्वपिति] योगनिद्रामें सोता है । भावार्थ—जो जीव वीतराग परमानंद-
रूप सहज शुद्धात्माकी अवस्थासे रहित हैं मिथ्यात्व रागादि अंधकार कर मंडित हैं
इसलिये इन सबोंको वह परमानंद अवस्था रात्रिके समान मालूम होती है । कैसे ये
जगतके जीव हैं कि आत्मज्ञानसे रहित हैं अज्ञानी हैं अपने स्वरूपसे विमुख हैं जिनके
जाग्रत दशा नहीं हैं अचेत सो रहे हैं ऐसी रात्रिमें वह परमयोगी वीतराग निर्विकल्प
स्वसवेदन ज्ञानरूपी रत्नदीपके प्रकाशसे मिथ्यात्वरगादि विकल्प जालरूप अंधकारको
दूर कर अपने स्वरूपमें सावधान होनेमें सदा जागता है । तथा शुद्धात्माके ज्ञानसे रहित
शुभ अशुभ मन वचन कायके परिणमनरूप व्यापारवाले थावर जंगम सकल अज्ञानी

ज्ञानीजनः सा णिसि मणिवि सुवेइ तां रात्रिं मत्ता त्रिगुप्तिगुप्तः सन् वीतरागनिर्विकल्प-
परमममाधियोगनिद्रायां स्वप्ति इति निद्रां करोतीति । अत्र बहिर्विषये शयनमेवोपशमो
भण्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ १७३ ॥

अप्य ज्ञानी पुरुषः परमवीतरागरूपं समभावं मुक्त्वा बहिर्विषये रागं न गच्छतीति
दर्शयति;—

१) णाणि मुएप्पिणु भाउ समु, कित्थुवि जाइ ण राउ ।

जेण लहेसइ णाणमउ, तेण जि अप्पसहाउ ॥ १७४ ॥

११) ज्ञानी मुक्त्वा भावं शमं हापि याति न रागम् ।

येन लभिष्यति ज्ञानमयं तेन एव आत्मसमावन् ॥ १७४ ॥

णाणि इत्यादि । णाणि परमात्मरागाद्याद्यवयोर्भेदज्ञानी मुएप्पिणु मुक्त्वा । फं । भाउ
भावं । कथंभूतं भावं । समु उपशमं पंचेंद्रियविषयाभिलाषरहितं वीतरागपरमाह्लादसहितं
कित्थुवि जाइ ण राउ तं पूर्णोक्तं समभावं मुक्त्वा कापि बहिर्विषये रागं न याति न
गच्छति । कस्मादिति चेत् । जेण लहेसइ येन कारणेन लभिष्यति भाविकाले प्राप्स्यति ।
फं । णाणमउ ज्ञानमयं केवलज्ञाननिर्घृप्तं केवलज्ञानानंतभूतानंतगुणं तेण जि तेनैव समभा-
वेन अप्पसहाउ निर्दोषिपरमात्मस्वभावमिति । इदमत्र तात्पर्यं । ज्ञानी पुरुषः शुद्धात्मानुभू-

जीव परमात्मतत्त्वकी भावनासे परान्मुख हुए विषयकषायरूप अविद्यामें सदा सावधान हैं
जाग रहे हैं, उस अवस्थामें विभावपर्यायके स्मरण करनेवाले महामुनि सावधान (जागते)
नहीं रहते। इसलिये संसारकी दशासे सोते हुएसे माउस पड़ते हैं। जिनको आत्मस्वभावके
सिवाय विषयकषायरूप प्रपंचकी मालूम भी नहीं है। उस प्रपंचको रात्रिके समान जानकर
उसमें थाद नहीं रखते मनवचनकायकी तीन गुप्तियों अचल हुए वीतराग निर्विकल्प परम
समाधिरूप योगनिद्रामें मगन होरहे हैं । सारांश यह है कि प्यानी मुनियोंको आत्मस्व-
रूपकी गम्य है प्रपंचकी गम्य नहीं है और जगतके प्रपंची मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनको
आत्मस्वरूपकी गम्य नहीं है अनेक प्रपंचोंमें (जगद्गोमें) लगे हुए हैं । प्रपंचकी
सावधानी रखनेको भूलजाना बड़ी परमार्थ है तथा बाह्यविषयोंमें जाग्रत होना ही
भूल है ॥ १७३ ॥

आगे जो ज्ञानी पुरुष हैं वे परमवीतरागरूप समभावको छोड़कर शरीरादि परदृश्यमें
राग नहीं करते ऐसा दिखलाते हैं;—[ज्ञानी] निजपरके भेदका जाननेवाला ज्ञानी
मुनि [शमं भावं] समभावको [मुक्त्वा] छोड़कर [कापि] किसी पदार्थमें [रागं न
याति] राग नहीं करता [येन] इसी कारण [ज्ञानमयं] ज्ञानमई निर्वाणपद
[प्राप्स्यति] पायेगा [तेनैव] और उसी समभावसे [आत्मस्वभावं] केवल ज्ञान पूर्ण

तिलक्षणं समभावं विहाय यद्विर्भावो रागं न गच्छति येन कारणेन समभावेन विना गुण-
त्मलाभो न भवतीति ॥ १७४ ॥

अयं ज्ञानी कमप्यन्यं न मणति न प्रेरयति न स्तौति न निन्दति प्रतिपादयति;

११ भणइ भणावइ णवि धुणइ, णिंदइ णाणि ण कोइ ।

सिद्धिहि कारण भाउ समु, जाणंतउ पर सोइ ॥ १७५ ॥

मणति माणयति नैव स्तौति निन्दति ज्ञानी न कमपि ।

सिद्धेः कारणं भावं समं जानन् परं तमेव ॥ १७५ ॥

भणइ इत्यादि । भणइ मणति नैव भणावइ नैवान्यं भणनं प्रेरयति णवि धुणइ नैव
स्तौति णिंदइ णाणि ण कोइ निन्दति ज्ञानी न कमपि । किं कुर्वन् मन् । सिद्धिहि कारण
भाउ समु जाणंतउ पर सोइ जानन् । कं । परं भावं परिणामं । कथंभूतं । समं रागद्वेष
रहितं । पुनरपि कथंभूतं । कारणं । कस्माः । सिद्धेः परं नियमेन तमेव सिद्धिका
परिणाममिति । इदमत्र तात्पर्यं । परमोपेक्षामयमभावनाकारं विशुद्धज्ञानदर्शननिजगुणान्
तत्त्वमन्यद्भट्टानमानानुभूतिलक्षणं माहात्म्यसिद्धिकारणं कारणसमयभारं जानन् शिष्टान्

आत्मस्वभावको आगे पावेगा । भावार्थ—जो अनंतसिद्ध हुए वे समभावके प्रसादसे
हुए हैं और जो होवेंगे इसीभावसे होंगे । इसलिये ज्ञानी समभावके सिवाय अन्य
भावोंमें राग नहीं करते । इस समभावके विना अन्य उपायसे गुणात्माका लाभ नहीं
है । एक समभाव ही भवसागरसे पार होनेका उपाय है । समभाव उसे कहते
हैं जो पंचेन्द्रिके विषयोंकी अभिवासासे रहित धीतराग परमानंदसहित निर्विकल्प
निश्चय हो ॥ १७४ ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानीजन समभावका स्वरूप जानता हुआ न किसीसे पढ़ता है
न किसीको पढ़ता है न किसीको प्रेरणा करता है न किसीकी स्तुति करता है न
किसीकी निंदा करता है;—[ज्ञानी] निर्विकल्प ध्यानी पुरुष [कमपि न] न मणति
[मणति] शिष्य होकर पढ़ता है, न गुरु होकर किसीको [माणयति] पढ़ता है
[नैव स्तौति निन्दति] न किसीकी स्तुति करता है न किसीकी निंदा करता है [सिद्धेः
कारणं] मोक्षका कारण [समं भावं] एक समभावको [परं] निश्चयसे [जानन्]
जानता हुआ [तमेव] केवल आत्मस्वरूपमें अक्षत हो रहा है, अन्य कुछभी गुरु भगुन
कायें नहीं करता । भावार्थ—परमोपेक्षा मयम अर्थात् तीनगुणोंमें भिर परम समानि
उपेक्षे करके जो स्वस्वमय उपेक्षा भावनाकार निर्मल वषाये सम्भाररहित भावना
स्वरूप स्वभाव नहीं सिद्ध करता है ऐसा मोक्षका कारण जो समसागर उपे
क्षण हुआ अनुभव हुआ अनुभूति पुरुष न किसी पक्षीको गिराता है न

यथायां अनुभवन् सन् भेदज्ञानी पुरुषः पदं प्राप्तिनं न भवति ॥ प्रोचति न भवति ॥
 य निन्दतीति ॥ १७५ ॥

अथ बासाभ्यन्तरपरिमोक्षदायाः पंचेन्द्रियत्रयसंयोगावाप्तोत्पत्त्युत्पत्तिरिति संवत् १९१३.
स्वरक्षितेन निजमुदात्तध्यानेन योगी निजमुदात्तानं जगतां न वक्ष्यति न च वक्ष्यति न च वक्ष्यति.
प्रत्येक रागद्वये न च योगीनि जगतां प्रवक्ष्यति,—

17 गंधर्वा उप्परि पद्ममुणि, दंमुनि कण्ठ न गच्छ ।

गंधं जेण विद्यानिष्ठ, भिण्णं अप्रमत्तं ॥ १.१६ ॥

मंथस्य उपरि पद्ममुनिः द्वेषमपि वसंति न शर्तः ।

मंथान् मेनविज्ञातः भिन्नः आगम्यमावः ॥ १३६ ॥

[illegible]

किसीने शीशना है ना खुली करता है व निहा करता है । 'अपव' व 'अप' व
दुःख सब समान है ॥ १७५ ॥

[illegible]

यत्वा च यो याद्याभ्यन्तरपरिमहद्भिन्नमाज्ञानं जानाति स परिमहस्योपरि रागद्वेषौ न
रोति । अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुणविशिष्टनिर्भयस्यैव शोभते, न च सपरिमहस्येति
तत्पर्यायः ॥ १७६ ॥

अथः—

विसयहं उत्परि परममुणि, देसुवि करइ ण राउ ।

विसयहं जेण विषाणियउ, भिण्णउ अप्पसहाउ ॥ १७७ ॥

विषयाणां उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागम् ।

विषयेभ्यः येन विज्ञातः भिन्नः आत्मक्षमायः ॥ १७७ ॥

विमर्हं इति । विसयहं उत्परि विषयाणामुपरि परममुणि परममुनिः देसुवि
करइ ण राउ द्वेषमपि करोति न च रागमपि येन । येन हि कृतं । विमर्हं जेण
विषाणियउ विषयेभ्यो येन विज्ञातः । कोमौ विज्ञातः । भिण्णउ अप्पसहाउ आमन-
भायः । कथंभूतो, भिन्न इति । तथा च । द्रव्यैस्त्रियाणि भावैस्त्रियाणि द्रव्यैस्त्रियभावेस्त्रिय-
भावात् विषयाश्च दृष्टधुगानुभूतान् जगज्जपे कालज्येयैः मनोवचनकायैः इत्येकस्मिन्-
क्षेत्रे नृपत्या भिन्नशुद्धामभावनामगुणसरीररागपरमानंदैरुत्पन्नागुणरमाभ्यानेन नृपो
भूत्वा यो विषयेभ्यो भिन्नं शुद्धामानगनुभवति स मुनिः पंचैस्त्रियविषयेषु रागद्वेषौ न

होती प्रविश्य कीदृशग निर्भीक्य समाधिमे दृष्टकर परब्रह्मे अपनेको भिन्न जानना
है कीही परिमर्ह उपा रागद्वेष नहीं करना है । यद्वापर ऐसा व्याप्तमान निर्भीक
होती ही होती देता है परिमर्ह धारीको नहीं शोभा देता है ऐसा कर्त्ता
उत्तर ॥ १७६ ॥

अने विषयेह उपा कीदृशगता विषयाने हैः—[परममुनिः] परममुनि [वि-
षयाणां उपरि] पंच द्रव्यैस्त्रियैर्भावादि विषयोंपर [रागमपि दोषे] राग जो है
[न करोति] नहीं करता अर्थात् मनोत्र विषयोंपर राग नहीं करता और भवि-
विषयपर द्वेष नहीं करता क्योंकि [येन] विषये [आत्मक्षमायः] भावना सम-
[विषयेभ्यः] विषयेभ्ये [भिन्नः विज्ञातः] नृप समजडिया है । इसीसे कीदृशग
काम्य करती है ॥ अर्थात्—उत्पत्ती भावती और इन दोनोंपर प्रदण करने को
देते हुए उत्पत्ती विषये को सम्यक् विषय है उनको मन करन काय ही
कर्मिक उत्पत्तीद्वारा ही उत्पत्ती और विषयोंद्वारा ही भावनाम उत्पत्ती विषयोंपर
उत्पत्ती उत्पत्तीद्वारा ही उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती
उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती
उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती उत्पत्ती

करोति । अत्र यः पंचेन्द्रियविषयसुराजिबर्त्त स्वशुद्धात्ममुखे समो भवति तस्मैवेदं व्याख्यानं शोभते न च विषयासक्तस्येति भावार्थः ॥ १७७ ॥

अथ;—

१) देहहं उपपरि परममुनि, देसुवि करह ण राउ ।

देहहं जेण विषाणियउ, भिण्णउ अप्पसहाउ ॥ १७८ ॥

देहस्य उपरि परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागं ।

देहात् येन विज्ञातः भिन्नः आत्मस्वभावः ॥ १७८ ॥

देहहं इत्यादि । देहहं उपपरि देहस्योपरि परममुनिः परममुनिः देसुवि करह ण राउ द्वेषमपि न करोति न रागमपि । येन किं कृतं । देहहं जेण विषाणियउ देहात्सकाशात्तेन विज्ञातः । कोसी । भिण्णउ अप्पसहाउ आत्मस्वभावः । कथंभूतो विज्ञातः । तस्मादेहा-
द्विभ्र इति । तथाहि । “सपरं बाधामहिंयं चिच्छिण्णं बंधकारणं विसमं । जं इद्वियेहिं
छद्धं तं मुक्कं दुक्कमेव तहा” ॥ इति गाथाकथिनलभ्यं दृष्टधुनानुभूतं यदेहजनितमुग्रं
तज्जगच्चे कालप्रयेपि मनोवचनकार्यैः कृतकारित्वानुभवैश्च लक्ष्वा वीतरागनिर्विकल्प-
समाधिपलेन-पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणमुत्परिणते निजपरमात्मनि स्थित्वा च य एव
देहाद्विभ्रं स्वशुद्धात्मानं जानाति स एव देहस्योपरि रागद्वेषौ न करोति । अत्र य एव

वृत्त होता है उसीको वह व्याख्यान शोभा देता है और विषयाभिलाषीको नहीं शोभता ॥ १७७ ॥

आगे साधु देहके ऊपर भी रागद्वेष नहीं करता;—[परममुनिः] महागुनि
[देहस्य उपरि] मनुष्यादिशरीरके ऊपर भी [रागमपि दोषं] राग और द्वेषको [न
करोति] नहीं करता अर्थात् शुभ शरीरसे राग नहीं करता अशुभ शरीरसे द्वेष नहीं
करता [येन] जिसने [आत्मस्वभावः] निजस्वभाव [देहात्] देहसे [भिन्नः
विज्ञातः] भिन्न जानलिया है । देह तो जड़ है आत्मा चैतन्य है जड़ चैतन्यका
क्या संबंध ? ॥ भावार्थ—इन इंद्रियोसे जो सुख उत्पन्न हुआ है वह दुःखरूप ही है ।
ऐसा कथन श्रीप्रवचनसारमें कहा है । “सपरं” इत्यादि । इसका तात्पर्य ऐसा है कि जो
इंद्रियोसे सुख प्राप्त होता है वह सुख दुःखरूप ही है क्योंकि वह सुख परवस्तु है निजवस्तु
नहीं है, बाधा सहित है निराबाध नहीं है, नाशको लिये हुए है जिसका नाश होजाता
है, बन्धका कारण है और विषय है । इसलिये इन्द्रियमुक्त दुःखरूप ही है । ऐसा इस
गाथामें जिसका लक्षण कहा गया है ऐसे देह जानने सुखको मन वचन बाध कृत कारित
अनुमोदनामें छोड़ें । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिक बलसे आकुलनारहित परमसुखरूप
निजपरमात्मामें स्थित होकर जो महागुनि देहसे भिन्न अपने शुद्धात्माको जानता है

सर्वप्रकारेण देहममत्वं त्यक्त्वा देहमुग्रं नानुभवति तस्मैवेदं व्याख्यानं शोभते नापरम्यंति-
तात्पर्यार्थः ॥ १७८ ॥

अथ;—

- ११ विच्छिणिविच्छिहिं परममुनि, देसुवि करइ ण राउ ।
बंधहं हेउ विद्याणियउ, एयहं जेण सहाउ ॥ १७९ ॥
वृत्तिनिवृत्त्योः परममुनिः द्वेषमपि करोति न रागं ।
बंधस्य हेतुः विज्ञातः एतयोः येन स्वभावः ॥ १७९ ॥

विच्छिणिविच्छिहिं इत्यादि । विच्छिणिविच्छिहिं वृत्तिनिवृत्तिविषये व्रताग्रतविषये परम-
मुनि परममुनिः देसुवि करइ ण राउ द्वेषमपि न करोति न च रागं । येन किं कृतं ।
बंधहं हेउ विद्याणियउ बंधस्य हेतुर्विज्ञातः । कोमौ । एयहं जेण सहाउ एतयोर्व्रताग्र-
तयोः स्वभावो येन विज्ञात इति । अथवा पाठांतरं । “मिण्णउ जेग विद्याणियउ एयहं
अप्पसहाउ” भिन्नो येन विज्ञातः । कोसौ । आत्मस्वभावः । काभ्यां । एताभ्यां व्रताग्रत-
विकल्पाभ्यां सफाशादिति । तथाहि । येन व्रताग्रतविकल्पो पुण्यपापबंधकारणभूतौ विज्ञातौ
स शुद्धात्मनि स्थितः सन् व्रतविषये रागं न करोति तथा चाग्रतविषये द्वेषं न करोतीति ।
अग्राह प्रभाकरभट्टः । हे भगवन् यदि व्रतस्योपरि रागतात्पर्यं नास्ति तर्हि व्रतं निषिद्ध-

देहके ऊपर राग द्वेष नहीं करता । जो सब तरह देहसे निर्ममत्व होकर देहके सुखको
नहीं अनुभवता उसीके लिये यह व्याख्यान शोभा देता है और देहबुद्धिवालोंको नहीं
शोभता ऐसा अभिप्राय जानना ॥ १७८ ॥

आगे प्रवृत्ति और निवृत्तिमें भी महामुनि राग द्वेष नहीं करता ऐसा कहते हैं;—
[परममुनिः] महामुनि [वृत्तिनिवृत्त्योः] प्रवृत्ति और निवृत्तिमें [रागं अपि द्वेषं]
राग और द्वेषको [न करोति] नहीं करता [येन] जिसने [एतयोः] इन दोनोंका
[स्वभावः] स्वभाव [बंधस्य हेतुः] कर्मबंधका कारण [विज्ञातः] जानलिया है ॥
भावार्थ—व्रत अव्रतमें परममुनि राग द्वेष नहीं करता । जिसने इन दोनोंका स्वभाव बंधका
कारण जानलिया है । अथवा पांठांतर होनेसे ऐसा अर्थ होता है कि जिसने आत्माका
स्वभाव भिन्न जानलिया है । अपना स्वभाव प्रवृत्ति निवृत्तिसे रहित है । जहां व्रत अव्रतका
विकल्प नहीं है । ये व्रत अव्रत पुण्य पापरूप बंधके कारण हैं । ऐसा जिसने जान-
लिया वह आत्मामें तट्टीन हुआ व्रत अव्रतमें रागद्वेष नहीं करता । ऐसा कथन सुनकर
प्रभाकर भट्टने पृछा है भगवन् जो व्रतपर राग नहीं करे तो व्रत क्यों धारण करे । ऐसे
कथनमें व्रतका निषेध होता है । नच योगीन्द्राचार्यकहते हैं कि व्रतका अर्थ यह है कि
सब शुभ अशुभ भावोंमें निवृत्ति परिणाम होना । ऐसा ही अन्य ग्रंथोंमें भी “रागद्वेषौ”

मिति । भगवानाह । प्रतं कोर्यः । सर्वनिवृत्तिपरिणामः । तथाचोक्तं । हिंसानृत्तलेयाप्रद-
परिग्रहेभ्यो विरतिर्ग्रन्तं । अथवा । “रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्वाप्तिवृत्तिस्तन्निषेधनं । तौ च वास्यार्थ-
संबंधौ तस्मात्तांस्तु परित्यजेत् ॥” प्रसिद्धं पुनरहिंसादिप्रतं एकदेशेन व्यवहारेणेति । कय-
मेकदेशप्रतमिति चेत् । तथाहि । जीवघाते निवृत्तिर्जावदयाविषये प्रवृत्तिः, असत्यवचनविषये
निवृत्तिः सत्यवचनविषये प्रवृत्तिः, अदत्तादानविषये निवृत्तिः दत्तादानविषये प्रवृत्तिरि-
त्यादिरूपेणैकदेशं प्रतं । रागद्वेषरूपसंकल्पविकल्परहितमाहारहिते त्रिगुनिगुमपरमसमाधौ
पुनः शुभाशुभत्यागात्परिपूर्णं प्रतं भवतीति । कश्चिदाह । प्रतेन किं प्रयोजनमात्मभावनाया
मोक्षो भविष्यति । भरतेश्वरेण किं प्रतं कृतं ? पटिकाद्वयेन मोक्षं गतः इति । परिहारमाह ।
भरतेश्वरोपि पूर्वं जिनदीक्षाप्रस्तावे लोचानंतरं हिंसारिनिवृत्तिरूपं महाप्रतविकल्पं कृत्वा नर्मुहर्त्ने
गते सति दृष्टधुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानवन्धादिविकल्परहिते मनोवचनकायनिरोधप्रभणे

इत्यादिसे कहा है । अर्थ यह है कि राग और द्वेष ये दोनों प्रवृत्ति हैं तथा इनका
निषेध वह निवृत्ति है । ये दोनों अपने नहीं हैं अन्य पदार्थके संबंधसे हैं । इनलिये
इन दोनोंको छोड़ें । अथवा “हिंसानृत्तलेयाप्रदपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ग्रन्तं” ऐसा कहा
गया है । इसका अर्थ यह है कि प्राणियोंको पीडादेना, शठवचन, परधनहरना, चुराई-
लुका सेवन और परिग्रह इनसे जो विरक्त होना बंही प्रत है । ये अहिंसादि प्रत प्राप्त
हैं ये व्यवहारनयकर एकोदेशरूप प्रत हैं । यही दिसलाते हैं—जीवघातमें निवृत्ति जीव
दयामें प्रवृत्ति, असत्यवचनमें निवृत्ति सत्यवचनमें प्रवृत्ति, अदत्तादान (चोरी)से निवृत्ति
अचौर्यमें प्रवृत्ति इत्यादिवस्वरूपसे एकोदेश प्रत कहा जाता है । और राग द्वेषरूप
संकल्पविकल्पांकी बल्लोलोंसे रहित तीन गुणोंसे गुप्त सगाधिमें शुभाशुभके त्यागसे परिपूर्ण
प्रत होता है । अर्थात् अशुभकी निवृत्ति और शुभकी प्रवृत्तिरूप एकोदेशप्रत और शुभ
अशुभ दोनोंका ही त्याग होना वह पूर्ण प्रत है । इसलिये प्रथम अवस्थामें मनका निषेध
नहीं है एकोदेश प्रत है और पूर्ण अवस्थामें सर्वदेश प्रत है । यहां पर कोई याद प्रभ
करे कि प्रतसे क्या प्रयोजन आत्मभावनासे ही मोक्ष होती है । भरतजी महाराजने
क्या प्रत कियाया ! वो दोषझीमें ही केवल ज्ञान पाकर मोक्ष गये । उसका समाधान
ऐसे है कि भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, तिरके फेस हंवन विने,
हिंसादि पापोंकी निवृत्तिरूप पंच महाप्रत आदरे । फिर एक अंतर्मुहर्त्नमें समस्त विकल्पर
रहित मनवचन काय रोकनेरूप निज शुद्धात्मध्यान उसमें ठहरकर निर्विकल्प हुए । वो
शुद्धात्माका ध्यान, देखे मुने और भोगे हुए भोगों की बाजारूप निदानवन्धादि विक-
ल्पांसे रहित है । ऐसे ध्यानमें ललीन होकर केवली हुए । जब राज छोड़ा और मुनि
हुए सभी केवली हुए । तब भरतेश्वरने अंतर्मुहर्त्नमें केवल ज्ञान प्राप्त किया । इनहिंदे
महाप्रतकी प्राप्ति नहीं हुई । इसपर कोई मूर्ख ऐसा विचारलेवे कि ऐसा उनको हुआ

निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा पश्चात्त्रिविकल्पो जातः । परं किंतु तस्य स्तोककालत्वान्महावितर्क-
सिद्धिर्नास्ति । अथेदं मतं वयमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले । नैवं वक्तव्यं । यद्येकस्यापस्य
कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हि किं सर्वेषां भवतीति भावार्थः । तथा चोक्तं । “पुत्रमभा-
विदजोगो मरणे आराहजो जदि वि कोई । खन्नगनिधि दिहुंतं तं सु पमाणं
सव्वत्थ” ॥ १७९ ॥

एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गप्रतिपादकमहाधिकारमध्ये परमोपशमभावव्याख्यानोपलब्ध-
गत्वेन चतुर्दशसूत्रैः स्थलं समाप्तम् । अधानंतरं निश्चयनयेन पुण्यपापे द्वे समाने इत्यादि-
लक्षणत्वेन चतुर्दशसूत्रपर्यंतं व्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—योसौ विभावस्वभावपरिणामौ
निश्चयनयेन बंधमोक्षहेतुभूतौ न जानाति स एव पुण्यपापद्वयं करोति न चान्य इति
मनसि संप्रभार्यं सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

बंधहं मोक्षस्वहं हेउ णिरु, जो णवि जाणइ कोइ ।

सो पर मोहिं करइ जिय, पुण्णुवि पाउवि दोवि ॥ १८० ॥

बंधस्य मोक्षस्य हेतुः निजः यः नैव जानाति कश्चित् ।

स एव मोहेन करोति जीव पुण्यमपि पापमपि द्वे अपि ॥ १८० ॥

बंधं इत्यादि । बंधहं बंधस्य मोक्षहं मोक्षस्य हेतुः कारणं । कथंभूतं । निज
निजविभावस्वभावहेतुस्वरूपं जो णवि जाणइ कोइ यो नैव जानाति कश्चित् सो पर स

बैने हमको भी होवेगा । ऐसा विचार ठीक नहीं है । यदि किसीएक अंधेको किसी
तरहसे निधिका लाभ हुआ तो क्या सभीको ऐसा होसकता है सबको नहीं होता ।
भरत मरीले भरत ही हुए । इसलिये अन्य भव्य जीवोंको यही योग्य है कि त
संयमका साधन करना ही श्रेष्ठ है । ऐसा ही “पुत्रं” इत्यादि माथासे दूसरी जगद भी
कहा है । अर्थ ऐसा है कि जिसने पहले तो योगका अभ्यास नहीं किया और
मरणके समय जो कमी आराधक हो जावे सो वह बात ऐसे जानना जैसे किसी अंधे
पुरुषको निधिका लाभ हुआ हो । ऐसी बात सब जगद प्रमाण नहीं होसकती ।
कमी कहींपर होने लो होवे ॥ १७९ ॥

इस तरह मोक्ष, मोक्षका फल और मोक्षके मार्गके कहनेवाले दूसरे महाधिकारमें
परम उद्घात भावके व्याख्यानकी मुख्यतामें अनन्त्यतामें औरद दोहा पूर्ण हुए ।

आगे निश्चय नदकर पुण्य पाप दोनों ही समान हैं ऐसा औरद दोहाभोगे कहते
हैं । जो कोई भगवान् परिणामको मोक्षका कारण और प्रभाव परिणामको बंधा
कामन ऐसा निश्चयमें भेद नहीं जानना दे वही पुण्यपापका कर्म होता है अन्य नहीं
है; मने भगवान् वह गुरुत्व कहते हैं,—[यः कश्चित्] जो कोई जीव [बंधन

एव मोहिं मोहेन करइ करोति पुण्णुवि पाउवि पुण्यमपि पापमपि । कतिसंख्योपेते अपि । दोइ द्वे असीति । तथाहि । निजगुद्धात्मानुभूतिरुचिविपरीतं मिथ्यादर्शनं स्वगुह्यम-
प्रतीतिविपरीतं मिथ्याज्ञानं निजगुद्धात्मद्रव्यनिश्चलमिति विपरीतं मिथ्याचारित्रमियेनत्रयं
कारणं, तस्माच्चयाद्विपरीतं भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपं मोक्षस्य कारणमिति योमी न जानाति स
एव पुण्यपापद्वयं निश्चयनयेन हेयमपि मोहवज्रात्पुण्यमुपादेयं करोति पापं देयं करोतीति
भाकार्थः ॥ १८० ॥

अथ साम्यदर्शनज्ञानपारित्रपरिणतमात्मानं योमी मुक्तिकारणं न जानाति स पुण्यपाप-
द्वयं करोतीति दर्शयति;—

दंसणणाणचरित्तमउ, जो णचि अप्पु मुणेइ ।

सिद्धिहिं कारणु भणिवि जिय, सो पर ताइं करेइ ॥ १८१ ॥

दर्शनज्ञानपारित्रमयं यः नैवात्मानं मनुते ।

मोक्षस्य कारणं भणित्वा जीव स एव ते करोति ॥ १८१ ॥

दंसणु णाणु चरित्तु इत्यादि । दंसणणाणचरित्तमउ साम्यदर्शनज्ञानपारित्रमयं
जो णचि अप्पु मुणेइ यः कर्ता नैवात्मानं मनुते जानाति । सिद्धिं न जानाति । मोक्षगर्ह
कारणु भणिवि मोक्षस्य कारणं भणित्वा मत्त्वा जिय दे जीव सो पर ताइं करेइ स एव
पुरुषत्वे पुण्यपापे द्वे करोतीति । तथाहि—निजगुद्धात्मभावनोत्पत्तीनरागसहजानंदस्वरूप-

मोक्षस्य हेतुः] बंध और मोक्षका कारण [निजः] अपनी विभाव और स्वभाव
परिणाम दे ऐसा भेद [नैव जानाति] नहीं जानता है [स एव] बोरी [पुण्य
मपि पापमपि] पुण्य और पाप [द्वे अपि] दोनोंको ही [मोहेन] मोहते [करोति]
कर्ता है । भाकार्थ—निज गुद्धात्माकी अनुभूतिकी रचिसे विपरीत जो मिथ्या-
दर्शन, निज गुद्धात्माके ज्ञानमे विपरीत मिथ्याज्ञान और निजगुद्धात्मद्रव्यमे
निश्चल स्थिरतासे उल्टा जो मिथ्याचारित्र इन तीनोंको बंधका कारण और
इन तीनोंसे रहित भेदाभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षका कारण ऐसा जो नहीं जानता
है । वही मोक्षके वरसे पुण्य पापका कर्ता होता है । पुण्यको उपादेय जानके कर्ता है
पापको देय समझता है ॥ १८० ॥

आगे साम्यदर्शन साम्यज्ञान साम्यरूपपारित्ररूप परिणमता जो अग्नि बोरी
मुक्तिका कारण दे ऐसा जो भेद नहीं जानता है वही पुण्यपाप दोनोंको कर्ता है ऐसा
दिखातेहैं;—[यः] जो [दर्शनज्ञानपारित्रमयं] साम्यदर्शन ज्ञान पारित्रमयी
[आत्मानं] आत्माको [नैव मनुते] नहीं जानता [स एव] वही [हेतुः] है और

यत् जीव पापानि सुन्दराणि ज्ञानिनः तानि भणन्ति ।

जीवानां दुःस्वानि जनित्वा लघु शिवमर्ति यानि कुर्वति ॥ १८३ ॥

वर जिय इत्यादि । वर जिय वरं किनु हे जीव पावइ सुंदरइ पापानि मुंदरा
सर्माचीनानि भणेंति कथयेंति । के । णाणिय ज्ञानिनः तत्त्ववेदिनः । कानि । त
ज्ञानि पूर्वोक्तानि पापानि । कथंभूतानि । जीवइ दुखखइ जणिवि लहु सिवमइ ज
कुणंति जीवानां दुःखानि जनित्वा लउ शीघ्रं निवमनि मुक्तियोग्यमनि यानि कुंरंति

निये धर्मके संयुक्त होता है वह पापका फल भी श्रेष्ठ (प्रशंसा योग्य) है ऐसा दिखाने हैं;—[हे जीव] हे जीव [यानि] जो पापके उदय [जीवानां] जीवोंको [दुःखानि जनिष्या] दुःख देकर [लघु] शीघ्र ही [शिवमर्ति] मोक्षके जाने को उत्तरोत्तरे बुद्धि [कुरति] कर देंगे [तानि पापानि] वे पाप भी [परं सुंदराणि] बहुत अच्छे हैं ऐसा [मानिनः] मानी [भणन्ति] कहते हैं । भावार्थ—कोई जीव पाप करने नरकमें गया बड़ातर महान दुःख भोगे उससे कोई समय किसी जीवके सम्पूर्ण परकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि उस जगद् सध्यत्वकी प्राप्तिके तीन कारण हैं। पहला तो यह है कि तीसरे नरक तक देवता उसे संबोधनेको (बिताउने को) जानते हैं वही बोले जीवके धर्म गुणनेमें सध्यत्व उत्पन्न हो जाये, दूसरा कारण—पूरे भवन स्वयं और तस्मात् नरककी पीडाकरि दुःखी हुआ नरकको महान दुःखका स्थान जानाकर कारण जो हिंस्र झट बागी कुशील परिग्रह और आरगादिक हैं उनको शांत करने करने उद्यम होते । तीसरे नरकतक ये तीन कारण हैं । आगेके भाँये पांच एते भाँये नरकमें देखोका समस्त न होनेमें धर्मश्रवण तो है नहीं लेकिन जालिमारा है, तथा वेदवाक्य दुःखी होकर पापमें भयभीत होना—ये दो ही कारण हैं । इन कारणों के कारण हिंस्र झटके सध्यत्व उत्पन्न हो सकता है । इस नरकमें कोई भय भी पाप करनेमें कीसी स्थितिमें गया और बड़ा जाकर यदि मृत्यु जाये तथा सध्यत्व पारे सो व क्षमति भी बहुत कुछ है । यही श्रीयोगीन्द्रजीवर्यने सूचित किया है जो पाप जीवोंके दुःख मात्र बताते फिर दीव ही मोक्षमार्गमें बुद्धिको लाती है अशुभ भी मारते हुए जो अज्ञानी ईश्वर हिंस्र समय प्रदानदाता देव भी हुआ और देवमें मारें पड़े हैं हुम्न हो रहे देवदेवों का नाम जिस कृष्णका । अज्ञानीके द्वारा पाप भी हुआ है । मैं कहने चाहते हूँ कि हमें इन सब बातों से दूर रहना चाहिए । हमें अपने मन में नरक का भय रखना चाहिए । नरक का भय रखने से ही हमें अपने पापों से दूर रहना चाहिए ।

अयमप्राभिप्रायः । यत्र भेदाभेदरसप्रयात्मकं श्रीधर्मं लभते जीवस्तत्प्राप्तजनितदुःखमपि भेद्यमिति । कस्मादिति चेत् । “आर्तो नरा धर्मपरा भवन्ती”ति वचनान् ॥ १८३ ॥

अथ निदानबंधोपार्जितानि पुण्यानि जीवस्य राग्यादिविभूतिं दत्त्वा नारकादिदुःखं जनयन्तीति हेतोः समीचीनानि न भवन्तीति वययति;—

मं पुणु पुण्णहं भट्ठाहं, णाणिय ताहं भणंति ।

जीवहं रत्तहं देवि लह, दुक्खहं जाहं जणंति ॥ १८४ ॥

मा पुनः पुण्यानि भद्राणि ज्ञानिनः तानि भणंति ।

जीवस्य राग्यानि दत्त्वा लघु दुःखानि यानि जनयति ॥ १८४ ॥

मं पुणु इत्यादि । मं पुणु मा पुनः न पुनः पुण्णहं भट्ठाहं पुण्यानि भद्राणि भवन्तीति णाणिय ताहं भणंति ज्ञानिनः पुरुषात्मानि पुण्यानि कर्मतापत्राणि भणन्ति । यानि किं कुर्वन्ति । जीवहं रत्तहं देवि लह दुक्खहं जाहं जणंति यानि पुण्यकर्माणि जीवस्य राग्यानि दत्त्वा लघु क्षीप्रं दुःखानि जनयन्ति । तथापि । निजमुदात्मभावनोन्मदीनरागपर-मानंदैकरूपसुखानुभवविपरीतेन दृष्टधुनानुभूतभोगाकांक्षारूपविशानबंधपूर्वकज्ञाननपोदाना-दिना यान्युपार्जितानि पुण्यकर्माणि तानि हेयानि । कस्मादिति चेत् । निदानबंधोपार्जित-पुण्येन भवन्तरे राग्यादिविभूती लब्धायां तु भोगात्, त्यक्तं न ज्ञातोति तेन पुण्येन नरकादि-

भोगकर उस दुःखते दरफे दुःखके मूल कारण पापको जानके उस पापसे उद्दाम हो ये प्रशंसा करने योग्य हैं, और पापी जीव प्रशंसाके योग्य नहीं हैं क्योंकि पापकिया दृष्टेया निदनीक है । भेदाभेदरसप्रयत्नरूप श्रीधरीरामदेवके धर्मको जो धारण करते हैं वे भ्रष्ट हैं । यदि सुखी धारण करे तोभी टीक और दुःखी धारण करे तब भी टीक । क्योंकि शास्त्रका वचन है कि कोई महाभाग दुःखी हुए ही धर्ममें लवलीन होने दें ॥ १८३ ॥

आगे निदानबंधसे उपार्जन किये हुए पुण्यकर्म जीवको राग्यादि विभूति देकर नर-कादि दुःख उत्पन्न कराते हैं इसलिये अच्छे नहीं हैं;—[पुनः] फिर [तानि पुण्यानि] ये पुण्य भी [मा भद्राणि] अच्छे नहीं हैं [यानि] जो [जीवस्य] जीवको [राग्या-नि दत्त्वा] राज देकर [लघु] क्षीप्र ही [दुःखानि] नरकादि दुःखोंको [जनयंति] उपजाते हैं [ज्ञानिनः] ऐसा जानी पुरुष [भणंति] कहते हैं । भावार्थ—निज मुदा-त्माकी भावनासे उत्पन्न जो धीतराग परमानंद अतींद्रिय सुखका अनुभव उसमें त्रिरीड जो देखे सुने भोगे इन्द्रियोंके भोग उनकी बाढारूप निदानबंधपूर्वक दान तर आदि-कसे उपार्जन किये जो पुण्यकर्म हैं ये हेय हैं । क्योंकि ये निदानबंधसे उपार्जन किये पुण्यकर्म जीवको दूसरे भवमें राजसंपदा देते हैं । उस राज्य विभूतिको जलनी जीव पाकर विषय भोगोंको छोड़ नहीं सकता उससे नरकादिकके दुःख पना है रावणकी

वार्त्तारिणि । अत्र सम्यक्त्वरहिता जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते । सम्यक्त्वरहिताः पुनः पूर्वभवांतरोपार्जितपापफलं भुञ्जाना अपि पुण्यजीवा भण्यन्ते येन कारणेन तेन कारणेन सम्यक्त्वसहितानां मरणमपि भद्रं । सम्यक्त्वरहितानां च पुण्यमपि भद्रं न भवति । अस्मान् । तेन निदानबंधपुण्येन भवांतरे भोगान् लब्ध्वा पञ्चाभरणकारिकं गच्छन्तीति भावार्थः । तथा श्लोकः । “वरं नरकयामोपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः । न तु सम्यक्त्वेन निवामो दिवि राजते” ॥ १८५ ॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि दृश्यति,—

जे णियदंसणअहिमुहा, सुखखु अणंतु सहंति ।

निं विणु पुण्णु करंतावि दुक्खु अणंतु सहंति ॥ १८६ ॥

ये निजदर्शनाभिमुत्ताः सौख्यमनंतं लभन्ते ।

तेन विना पुण्यं कुर्याणा अपि दुःखमनंतं सहन्ते ॥ १८६ ॥

जे णिय इत्यादि । जे ये केचन णियदंसणअहिमुहा निजदर्शनाभिमुत्ताः ते पुरुषाः सुखगु अणंतु सहन्ति सौख्यमनंतं लभन्ते । अपरे केचन तिं विणु पुण्णु करंतावि

सम्यक्त्व उसके सन्मुख हुआ है जीव जो तू मरण भी पावे तो दोष नहीं और उस सम्यक्त्वके बिना मिथ्यात्व अवस्थामें पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है । जो सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य सहित हैं तो भी पापी ही कहे हैं । तथा जो सम्यक्त्वसहित हैं वे पहले भवमें उपार्जन किये हुए पापके फलसे दुःख दारिद्र्य भोगते हैं सोभी पुण्याधिकारी ही कहे हैं । इसलिये जो सम्यक्त्व सहित हैं उनका मरना भी अच्छा । मरकर ऊपरको जावेंगे । और जो सम्यक्त्व रहित हैं उनका पुण्य कर्म भी प्रशंसा योग्य नहीं है । वे पुण्यके उदयसे क्षुद्र (नीच) देव तथा क्षुद्र मनुष्य होके संसार घनमें भटकेंगे । यदि पूर्वले पुण्यको यहां भोगते हैं तो कुछ फल भोगके नरकनिगोदमें पड़ेंगे । इसलिये मिथ्यादृष्टियोंका पुण्य भी मला नहीं है । निदानबंधपुण्यसे भवांतरमें भोगोंको पाकर पीछे नरकमें जावेंगे । सम्यग्दृष्टि प्रथम मिथ्यात्व अवस्थामें किये हुए पापोंके फलसे दुःख भोगते हैं लेकिन अब सम्यक्त्व मिला है इसलिये सदा सुखी ही होंवेंगे । आपुके अंतमें नरकसे निकलके मनुष्य होकर ऊर्ध्वगति ही पावेंगे, और मिथ्यादृष्टि जो पुण्यके उदयसे देवभी हुए हैं सोभी देवलोकासे आकर एकद्वी होवेंगे । ऐसा दूसरी जगह भी “वरं” इत्यादिश्लोकसे कहा है कि सम्यक्त्व सहित नरकमें रहना भी अच्छा और सम्यक्त्व सहितका स्वर्गमें निवास भी नहीं शोभा देता ॥ १८५ ॥

अथ इसी बातको फिर भी दृढ़ करते हैं;—[ये] जो [निजदर्शनाभिमुत्ताः] सम्यग्दर्शनके सन्मुख हैं वे [अनंतं सुखं] अनंत सुखको [लभन्ते] पाते हैं [तेन विना]

पशुपतिं पर्वधवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति । न च पुनः
सम्पत्त्यादिगुणमहिनं भवनमगरामर्षाद्वारिपुण्यबंधवत् । यदि पुनः सर्वेषां मदं जनयति
तर्हि ते बंधं पुण्यभाजनाः भवतो महाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गता इति भावार्थः ॥
तथा शेषं पितृमनानां निरहंकारत्वं । “मन्यं चापि मतौ भूतं हृदि दया शौर्यं भुजे
रिक्ते स्तब्धार्द्रां मनूनमार्थमिषये मार्गे गतिर्निवृत्तेः । येषां प्रागजनीह तेषां निरहंकाराः
शुभेर्गोपराधिर्यं मंदनि सेतानोपि न गुणान्नेषां तयायुद्धताः ” ॥ १८७ ॥

अथ देवतामगुरुभक्त्या गुरुर्यवृत्त्या पुण्यं भवति न च मोक्ष इति प्रतिपादयति;—

देवहं सत्पहं मुनिवरहं, भक्तिपु पुण्यं हवेह ।

कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः सांतिः भवति ॥ १८८ ॥

देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां भक्त्या पुण्यं भवति ।

कर्मक्षयः पुनः भवति नैव आर्यः सांतिः भवति ॥ १८८ ॥

देवहं इत्यादि । देवहं सत्पहं मुनिवरहं भक्तिपु पुण्यं हवेह देवशास्त्रमुनीनां भक्त्या
पुण्यं भवति कर्मक्षयः पुनः होइ णवि कर्मक्षयः पुनर्गुरुयवृत्त्या नैव भवति । एवं
कोमौ भवति । अज्ञः आर्यः । हि नामा । संति नामा भवेइ भवति कथयति इति ।

मोक्ष पुण्य पापका ही कारण है । जो सम्पत्त्यादि गुण सहित भरत सगर राम पांडवादिक
विषेकी जीव हैं उनको पुण्यबंध अभिमान नहीं उत्पन्न करता परंपराय मोक्षका कारण है ।
ऐसे अज्ञानीयोके पुण्यका फल विभूति गर्वका कारण है ऐसे सम्यग्दृष्टियोंके नहीं है ।
ये सम्यग्दृष्टि पुण्यके पात्र हुए चक्रवर्ती आदिकी विभूति पाकर मद अहंकारादि विक-
ल्पोको छोड़कर मोक्षको गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती यलमद्रपदमें भी निरहंकार
रहे । ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रंथमें श्रीगुणभद्राचार्यने किया है । कि, पहले
समयमें ऐसे सत्पुरुष होगये हैं कि जिनके बचनमें सत्य, शास्त्रमें बुद्धि, मनमें दया,
पराक्रमरूप मुद्राओंमें शूर वीरता, याचकोंमें पूर्ण लक्ष्मीका दान और मोक्षमार्गमें गमन
है ये निरभिमानी हुए, जिनके किसीगुणका अहंकार नहीं हुआ । उनके नाम शास्त्रोंमें
मसिद्ध हैं परंतु अब धड़ा अवस्था है कि इस पंचमकालमें लेशमात्र भी गुण नहीं हैं तोभी
उनके उद्धतपना है यानी गुण लेशमात्र भी नहीं और अभिमानमें बुद्धि रहती है १८७

आगे देव गुरु शास्त्रकी भक्तिसे मुख्यतासे तो पुण्य बंध होता है परंपराय मोक्ष होती
है साक्षात् मोक्ष नहीं ऐसा कहते हैं;—[देवानां शास्त्राणां मुनिवराणां] भी वीतरा-
गदेव, द्वादशाम शास्त्र और दिग्बर साधुओंका [भक्त्या] भक्ति करनेसे [पुण्यं भवति]
मुख्यतासे पुण्य होता है [पुनः] लेऊन [कर्मक्षयः] तत्काल कर्मोंका क्षय [नैव
भवति] नहीं होना ऐसा [आर्यः सांतिः] सांति नाम आर्य अथवा कपटरहित सत-

निर्वाणमिति । तथया । सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्थभावात्परमात्मनः सद्यसाद्विपरीतेन ऐदम्
 दिनारक्तविर्यग्गतिदुःखदानसमर्थेन पापकर्मोदयेन नारक्तविर्यग्गतिमात्रनो भवति जीवः ।
 तस्मादेव शुद्धात्मनो विलम्बेन पुण्योदयेन देवो भवति । तस्मादेव शुद्धात्मनो विरतिरेव
 पुण्यसारद्वयेन मनुष्यो भवति । तस्मैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्थभावस्य निजशुद्धान्तरमम्बु-
 सदानुज्ञानानुज्ञानरूपेण शुद्धोपयोगेन मुक्तो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ तथा शोढं ॥ “वर्तेन
 जलविरिणं गम्भइ धम्मेन देवलोयम्भि । मिस्सेज माणुमत्तं दोण्हंरि राण्ण निज्जानं” ॥ १९ ॥

अथ निम्नप्रतिक्रमनप्रत्याख्यानालोचनस्वरूपे स्थित्या व्यग्रहारप्रतिक्रमनप्रत्याख्याना-
 लोचनं दर्शयतीति विद्वन्नेन कथयति;—

बंदणु णिंदणु पट्टिकमणु, पुण्णहं कारणु जेण ।

करइ करावइ अनुमणइ, एकुपि णाणि ण तेण ॥ १९१ ॥

बंदनं निरनं प्रतिक्रमणं पुण्यस्य कारणं येन ।

करोति कारयति अनुमन्यते एकमपि ज्ञानी न तेन ॥ १९१ ॥

बंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तं ।

एकमेव मुचवा ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रं ॥ १९२ ॥

बंदणु निंदणु पडिकमणु बंदननिंदनप्रतिक्रमणत्रयं णाणिहु एहु ण जुतु ज्ञानना-
दिदं न युक्तं । किं कृत्वा । एहु जि मैट्ठिवि एकमेव मुक्त्वा । एकं कं । णाणमउ
मुद्धउ भाउ पवित्तु ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति । तथाहि । पंचेन्द्रियभोगांशान्धृति-
समस्तविभावरहितः शून्यः केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरमात्मतत्त्वसम्यक्प्रज्ञानज्ञानानुज्ञानरूप-
निर्विकल्परसमाधिसमुत्पन्नसहजानंदपरमसमरसीमाबलरूपमुक्तामृतरसास्वादेन भरितारसो
योसौ ज्ञानमयो भावः स भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनत्रयं तदनु-
कूलं बंदननिंदनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिनां युक्तं न भवतीति वात्सर्य ॥ १९२ ॥

अथ;—

बंदउ निंदउ पडिकमउ, भाउ असुद्धउ जासु ।

पर तसु संजसु अत्थि णयि, जं मणसुद्धि ण तासु ॥ १९३ ॥

बंदतु निंदतु प्रतिक्रामतु भावः अशुद्धो यस्य ।

परं तस्य संयमोऽस्ति नैव यस्मान् मनःशुद्धिर्न तस्य ॥ १९३ ॥

बंदउ इत्यादि । बंदउ निंदउ पडिकमउ बंदननिंदनप्रतिक्रमणं करोतु भाउ अशुद्धउ
जासु भावः परिणामः न शुद्धो यस्य परं नियमेन तसु तस्य पुण्यस्य मंत्रसु अन्धि वरि
मंदमोऽस्ति नैव । कस्मात्प्राप्ति । जं यस्मान् कारणान् मणसुद्धि ण तासु मनःशुद्धि

आगे हमी कथनको हट करते हैं;—[बंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं] बंदना निंदा और
प्रतिक्रमण [इदं] ये तीनों [ज्ञानिनां] पूर्ण ज्ञानियोंको [युक्तं न] ठीक नहीं है
[एकमेव] एक [ज्ञानमयं] ज्ञानमय [शुद्धं पवित्रं भावं] पवित्र शुद्धभावाको
[हत्वा] छोड़कर अर्थात् इसके निवाय ज्ञानीको कोई कार्य करना योग्य नहीं है ।
स्वार्थ—चाहें इन्द्रियोंके भोगोंकी बांटाको आदि लेकर मूर्ख रिभावोंमें रहित जो
केवलज्ञानदि अनंतगुणरूप परमात्मतत्त्व उसमें सम्यक् प्रज्ञान ज्ञान आवाग रूप निरी-
कलमन्त्रिमें उत्पन्न जो परमनंद परममनमर्माभाव जो ही हुआ अमृतरस उत्तम भाव-
दमें पूर्ण जो ज्ञानमयभाव उसे छोड़कर अन्य व्यवहार प्रतिक्रमण प्रत्याख्याना आदिबन्धोंके
अशुद्ध बंदन निंदनादि शुभोपयोग विहिन जाह दे वे पूर्णज्ञानीको करने योग्य नहीं
हैं । परन्तु अज्ञानमें ही वे आगे गये हैं ॥ १९३ ॥

तस्येति । तद्यथा । नित्यानन्दैकरूपस्य शुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षैर्विषयकपायाधीनैः स्यान्नि-
 पूजालाभादिमनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपञ्चोत्पन्नैरपध्यानैर्यस्य चित्तं रीजितं वागितं
 तिष्ठति तस्य द्रव्यरूपं वन्दननिन्दनप्रतिक्रमणारिक्तं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नास्ति इत्यभि-
 प्रायः ॥ १९३ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्यं निम्न-
 यनयेन पुण्यपापद्वयं समानमित्यादि व्याख्यानभूतयत्वेन चतुर्दशमूत्रमष्टं ममानं ।
 अयानंतरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादनमुच्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्मूत्रपर्यंतं व्याख्यानं क-
 रोति । तदन्तरं पंचदशमूत्रपर्यंतं धीनरागद्वेषाद्वेदनादानुभूतयत्वेन व्याख्यानं, अत्र द्रव्यं
 सूत्राष्टकपर्यंतं परिग्रहत्यागमुच्यत्वेन व्याख्यानं, तदन्तरं त्रयोदशमूत्रपर्यंतं चैवदशानादि-
 गुणस्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा ।

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगो संयमादयः सर्वे गुणानिष्ठर्तानि प्रतिपादयन्ति,-

सुद्धं संजमु सीलु तउ, सुद्धं दंसणु णाणु ।

सुद्धं कम्मफलउ ह्यइ, सुद्धं तेण पहाणु ॥ १९४ ॥

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं शानं ।

शुद्धानां कर्मफलमो भवति शुद्धो तेन प्रपानः ॥ १९४ ॥

नहीं होसकता [यद्] क्योंकि [तस्य] उसके [मनःसुद्धिः न] मगरी शुद्धता नहीं
 है । जिसका मन शुद्ध नहीं उसके संयम बढ़ाते होसकता है । भाषार्थ—नित्यानन्द
 एकरूप निजशुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिपक्षी (उल्टे) ओ विषयवशाय इनके आधीन
 आर्त रौद्र खोटे ध्यानोंकर जिसका चित्त रंगा हुआ है उसके द्रव्यरूप जबरहट रंजना
 निदान प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते हैं । ओ वह बाध किया करता है तभी उसके
 भावसंयम नहीं है । सिद्धांतमें उसे असंयमी कहते हैं । कैसे है ओ आर्त रौद्र भगव
 खोटे ध्यान । अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा और लाभादि सेबड़ी मनोरथोंके विवरणोंकी शान्ति
 (धैर्यके) प्रबंधकर उत्पन्न हुए है । जबतक ये विषयों है तबतक बाधनि दा कदा
 करसकती है । कुछ नहीं करसकती ॥ १९१ ॥

इसतरह मोक्ष मोक्षफल मोक्षमार्गादिवा कथन करनेवाले दूसरे महा अधिपति
 निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनों समान हैं इस व्याख्यानकी मुख्यमन्ये धीरद रोना बटे ।
 आगे शुद्धोपयोगके कथनकी मुख्यतासे एकताहीन दोशभोमें व्याख्यान करने हैं । और
 आठरोशभोमें परिग्रहत्यागके व्याख्यानकी उपयगमें करने हैं तथा तदन्तरं त्रयो-
 दश शानादिगुणस्वरूपपर सब जीव समान हैं ऐसा व्याख्यान है ।

अब प्रथम ही रागादि विषयकी निवृत्तिरूप शुद्धोपयोगके व्याख्यान पर हमें

वंदनं निंदनं प्रतिक्रमणं ज्ञानिनां इदं न युक्तं ।

एकमेव मुचवा ज्ञानमयं शुद्धं भावं पवित्रं ॥ १९२ ॥

पंदणु णिंदणु पडिकमणु वंदननिंदनप्रतिक्रमणत्रयं णाणिहु एहु ण जुतु ज्ञानना-
दिदं न युक्तं । किं कृत्वा । एहु जि मेल्लिवि एकमेव मुक्त्वा । एकं कं । णाणमउ
मुद्धउ भाउ पवित्तु ज्ञानमयं शुद्धभावं पवित्रमिति । तथाहि । पंचेंद्रियभोगाकांक्षाप्रवृत्ति-
समस्तविभावरहितः शून्यः केवलज्ञानाद्यनंतगुणपरमात्मतत्त्वसम्यक्प्रज्ञानज्ञानानुष्ठानरूप-
निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसहजानंदपरमसमरसीभावलक्षणमुग्राभूतरसाख्यादेन भरितारम्भो
द्योमौ ज्ञानमयो भावः तं भावं मुक्त्वाऽन्यद्व्यवहारप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनप्रयं तरु-
हृतं वंदननिंदनादिशुभोपयोगविकल्पजालं च ज्ञानिनां युक्तं न भवतीति वात्पर्य ॥ १९२ ॥

अथ,—

पंदउ णिंदउ पडिकमउ, भाउ असुद्धउ जासु ।

पर तरु संजमु अत्थि णयि, जं मणसुद्धि ण तासु ॥ १९३ ॥

पंदणु निंदणु प्रतिक्रामणु भावः अशुद्धो यस्य ।

परं तस्य मयमोक्षि नैव यस्मात् मनःशुद्धिर्न तस्य ॥ १९३ ॥

तस्येति । तद्यथा । नित्यानन्दैकरूपस्वशुद्धात्मानुभूतिप्रतिपक्षैर्विषयकपायाधीनः दयानि-
पूजालाभादिमनोरथशतसहस्रविकल्पजालमालाप्रपंचोत्पन्नैरपध्यानैर्यस्य चित्तं रजितं वासितं
विष्ठति तस्य द्रव्यरूपं बंदननिन्दनप्रतिक्रमणादिकं कुर्वाणस्यापि भावसंयमो नास्ति इत्यभि-
प्रायः ॥ १९३ ॥ एवं मोक्षमोक्षफलमोक्षमार्गादिप्रतिपादकद्वितीयमहाधिकारमध्ये निम्न-
यनयेन पुण्यपापद्वयं समानमित्यादि व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्दशसूत्रस्य लं ममानं ।
अथानंतरं शुद्धोपयोगादिप्रतिपादनमुख्यत्वेनैकाधिकचत्वारिंशत्सूत्रपर्यंतं व्याख्यानं क-
रोति । तदन्तरं पंचदशसूत्रपर्यंतं धीतरागस्य संवेदनज्ञानमुख्यत्वेन व्याख्यानं, अत ऊर्ध्वं
सूत्राष्टकपर्यंतं परिग्रहत्यागमुख्यत्वेन व्याख्यानं, तदन्तरं त्रयोदशसूत्रपर्यंतं केवलज्ञानादि-
गुणस्वरूपेण सर्वे जीवाः समाना इति मुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तद्यथा ।

रागादिविकल्पनिवृत्तिस्वरूपशुद्धोपयोगे संयमादयः सर्वे गुणासिद्धंतीति प्रतिपादयति—

सुद्धं संजमु सीलु तउ, सुद्धं दंसणु णाणु ।

सुद्धं कम्मफलउ हयइ, सुद्धउ तेण पहाणु ॥ १९४ ॥

शुद्धानां संयमः शीलं तपः शुद्धानां दर्शनं ज्ञानं ।

शुद्धानां कर्मसुखी भवति शुद्धो तेन प्रधानः ॥ १९४ ॥

नदी होसकता [यत्] क्योकि [तस्य] उसके [मनःशुद्धिः न] मनसी शुद्धता नहीं
है । जिसका मन शुद्ध नहीं उसके संयम कहासे होसकता है । भाषार्थ—नित्यानन्द
एकरूप निजशुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिपक्षी (उलटे) जो विषयकपाय उनके आधीन
आर्त रौद्र छोटे ध्यानोंकर जिसका चित्त रंगा हुआ है उसके द्रव्यरूप जबद्वार बंदना
निदान प्रतिक्रमणादि क्या कर सकते हैं । जो वह बाध किया करता है तभी उगके
भावसंयम नहीं है । सिद्धांतमें उसे असंयमी कहते हैं । कैसे हैं वो आर्त रौद्र स्वप्न
छोटे ध्यान । अपनी बड़ाई प्रतिष्ठा और लाभादि ऐक्यों मनोरथोंके विकल्पोकी शान्तके
(पंक्ति) प्रपंचकर उत्पन्न हुए हैं । जबतक ये चित्तमें हैं तबतक बाधकिया क्या
करसकती है ! कुछ नहीं करसकती ॥ १९१ ॥

इसतरह मोक्ष मोक्षफल मोक्षमार्गादिबाध कथन करनेवाले दूसरे महा अधिकारने
निश्चयनयसे पुण्य पाप दोनों समान हैं इस व्याख्यानकी मुख्यतामें और दोटा बटे ।
आगे शुद्धोपयोगके कथनकी मुख्यतासे इष्टतादीग दोटाओंमें व्याख्यान करने हैं । और
आठदोटाओंमें परिग्रहत्यागके व्याख्यानकी मुख्यतामें कहते हैं तथा त्रयोदशदोटाओंमें
केवल ज्ञानादिगुणस्वरूपकर सब जीव समान हैं ऐसा व्याख्यान है ।

अब प्रथम ही रागादि विकल्परकी निवृत्तिरूप शुद्धोपयोगमें मध्यदि सब हुए रहने

मुद्धहं इत्यादि । मुद्धहं शुद्धोपयोगिनां संज्ञमु इन्द्रियमुग्रामिन्द्रियनिवृत्तिवलेन पदार्थ-
निकायहिंमानिवृत्तिवलेनात्मना आत्मनि संयमनं नियमनं संयमः स पूर्वोक्तः शुद्धोप-
योगिनामेव । अथयोपेक्षासंयमापहतमंयमौ बीतरागमरगापरनामानौ तथपि तेषामेव मं-
वतः । अथवा सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिमूढमसांपराययथाग्यानभेदेन पंचका
संयमः सोपि लभ्यते तेषामेव । सीलु स्यात्मना कृत्वा स्यात्मनिवृत्तिवर्तेन इति निश्चयप्र-
वतस्य रागादिपरिहारेण परिश्रणं निश्चयशीलं तदपि तेषामेव । तउ द्वादशविधतराग-
वलेन परद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा शुद्धात्मनि प्रनपनं विजयनं तप इति । तदपि तेषामेव ।
मुद्धहं शुद्धोपयोगिनां दंसणु छद्मस्यावस्थायां सशुद्धात्मनि कचिरूपं सम्यग्दर्शनं केवल-
ज्ञानोत्पत्तौ सत्यां तस्यैव फलभूतं अनीहितविपरीताभिनिवेशरहितं परिणामलक्षणं आधिक-
सम्यक्त्वं केवलदर्शनं वा । तेषामेव । णाणु बीतरागस्मवेदनज्ञानं तस्यैव फलभूतं केवल-
ज्ञानं वा मुद्धहं शुद्धोपयोगिनामेव । कम्मवत्सउ परमात्मस्वरूपोपलब्धिलक्षणी द्रव्यमाव-
कर्मक्षयः ह्यहं तेषामेव भवति मुद्धहं शुद्धोपयोगपरिणामस्तदाधारपुरुषो वा तेषा पश्या-
येन कारणेन पूर्वोक्ताः संयमादयो गुणाः शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते तेन कारणेन स एव प्रधान

हैं ऐसा वर्णन करते हैं;—[शुद्धानां] शुद्धोपयोगियोंके ही [संयमः शीलं तपः]
पांच इन्द्री छठे मनको रोकनेरूप संयम, शील और तप [भवति] होते हैं [शुद्धानां]
शुद्धोंके ही [दर्शनं ज्ञानं] सम्यग्दर्शन और बीतरागस्मवेदनज्ञान और [शुद्धानां]
शुद्धोपयोगियोंके ही [कर्मक्षयः] कर्मोंका नाश होता है [तेन] इसलिये [शुद्धः]
शुद्धोपयोग ही [प्रधानः] जगतमें मुख्य है । भावार्थ—शुद्धोपयोगियोंके; पांच इंद्री
छठे मनका रोकना, विषयामिलापकी निवृत्ति और छद्मकायके जीवोंकी हिमामे निवृत्ति
उसके बलसे आत्मामें निश्चल रहना उसका नाम संयम है वह होता है, अथवा उसके
संयम अर्थात् तीनगुणोंमें आरूढ और अपहृत संयम अर्थात् पांच समितिका पाठना;
अथवा स्राग संयम अर्थात् शुद्धोपयोगरूपसंयम और बीतरागसंयम अर्थात् शुद्धोपयोग-
रूप परमसंयम वह उन शुद्ध चेतनोपयोगियोंके ही होना है । शील अर्थात् अपनेसे
अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना यह निश्चयशील, रागादिके त्यागनेसे शुद्धभावकी रक्षा करना
यह भी निश्चय शील है, और देवागना मनुष्यना निर्वचनं तथा काठ पथार चित्राणादि
अचेतन स्त्री-पुंसे चार प्रकारकी स्त्री उनका मन बचनकाय कून कागिन अनुमोदनामे त्याग
करना यह व्यवहार शील ये दोनों शील शुद्धचित्तवालोंके ही होने हैं । तप अर्थात् बारह
तरफका तप उनके बन्धमें भावकर्म द्रव्यकर्म मोक्षमरूप मय बन्धुभोग इच्छा छोड़कर
शुद्धात्मामें मग्न रहना काम कोशादि प्रभुओंके बन्धन न होना, प्रनापस्वर विजयस्वर
जितेंद्री रहना है । यह तप शुद्ध चित्तवालोंके ही होना है । दर्शनेन अर्थात् मापक अव-

वपादेयः इति सात्पर्यं । तथा चोक्तं शुद्धोपयोगफलं । “मुदस्म य सामर्णं भणियं मुदस्म
दंसर्णं णाणं । मुदस्म य णिव्वाणं सो वि य मुदो णमो तस्म ॥” ॥ १९४ ॥

अथ निश्चयेन स्वकीयशुद्धभाव एव धर्म इति कथयति,—

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ, धम्म भणेविणु लेहु ।

चउगइदुक्खहं जो धरइ, जीउ पढंतउ एहु ॥ १९५ ॥

भावो विसुद्ध आत्मीयः धर्म भणित्वा गृहीयाः ।

चतुर्गतिदुःखेभ्यः यो धरति जीवं पतंतमिमं ॥ १९५ ॥

भाउ इत्यादि । भाउ भावः परिणामः । कथभूतः । विसुद्धउ विशेषेण शुद्धो
मिथ्यात्वरागादिरहितः अप्पणउ आत्मीयः धम्म भणेविणु लेहु धर्म भणित्वा मत्वा
प्रगृहीयाः । यो धर्मः किं करोति । चउगइ दुरगहं जो धरइ चतुर्गतिदुःखेभ्यः मक्कासाण
उज्जुय यः कर्ता धरति । कं धरति । जीउ पढंतउ एहु जीवमिमं प्रत्यग्रीभूतं संसारे
पतंतमिति । तथाया । धर्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते । संसारे पतंतं प्राणिनमुज्जुय नरेन्द्रना-
गैन्द्रदेवैन्द्रवंधे मोक्षपदे धरतीति धर्म इति धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव

स्वामे तो शुद्धात्माने रुचिरूप सम्यग्दर्शन और केवली अवस्थामें उस सम्यग्दर्शनका फल-
रूप संशय विमोह विभ्रम रहित निजपरिणामरूप क्षायिकमम्यक्त्व केवलदर्शन यह भी
शुद्धोके ही होता है । ज्ञान अर्थात् बीतरागससवेदनज्ञान और उसका फल केवलज्ञान
यह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होता है और कर्मक्षय अर्थात् द्रव्यकर्म भावकर्म और मोक्ष-
मर्का नाश तथा परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति यह भी शुद्धोपयोगियोंके ही होती है । इसलिये
शुद्धोपयोग परिणाम और उन परिणामोंका धारण करनेवाला पुरुष ही जगतमें प्रधान है ।
क्योंकि संयमादि सर्व गुण शुद्धोपयोगमें ही पाये जाते हैं । इसलिये शुद्धोपयोगके
समान अन्य नहीं है ऐसा सात्पर्य जानना । ऐसा ही कथन अन्य ग्रंथोंमें हर एक जगह
“सुद्ध” इत्यादिसे कहा गया है । उसका भावार्थ यह है कि शुद्धोपयोगीके ही मुनिवद
कहा है और उसीके दर्शन ज्ञान कहे हैं । उसीके निर्वाण है और वही शुद्ध अर्थात्
रागादि रहित है । उसीको हमारा नमस्कार है ॥ १९४ ॥

जागे यह कहते हैं कि निश्चयसे अपना शुद्धभाव ही धर्म है,—[विसुद्धः भावः]
मिथ्यात्वरागादिसे रहित जो शुद्ध परिणाम है वही [आत्मीयः] अपना है और
अशुद्ध परिणाम अपने नहीं है सो शुद्ध भावको ही [धर्म भणित्वा] धर्म भणित्वा
[गृहीयाः] अंगीकार करो । [यः] जो आत्मधर्म [चतुर्गतिदुःखेभ्यः] चारों दुःख-
योंके दुःखोंमें [पतंतं] समारमे पड़े हुए [इमं जीवं] इस जीवको [धरति] धरति
[पतति] मानदत्वानाम् समाना है ॥ भावार्थ—धर्मशब्दका अर्थ—संसारमें

माहाः । तस्य तु मध्ये जीवरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मात्तर्भूता लभ्यन्ते । तथा अहिंसालक्षणो धर्मः सोपि जीवशुद्धभावं विना न संभवति । सागारानगारलक्षणो धर्मः सोपि तथैव । उत्तमश्रमादिदशविधो धर्मः सोपि जीवशुद्धभावमपेक्षते । सट्टष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेभ्यः विदुरित्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि तथैव । रागद्वेषमोहरहितः परिणामो धर्मः सोपि जीवशुद्धभाव एव । वस्तुस्वभावो धर्मः सोपि तथैव । तथा चोक्तं । “धम्मो वस्तुसहायो” इत्यादि । एवं गुणविशिष्टो धर्मश्चतुर्गतिदुःखेषु पतंतं धरतीति धर्मः । अत्राह शिष्यः । पूर्वसूत्रे भणितं शुद्धोपयोगमप्येव संयमादयः सर्वे गुणाः लभ्यन्ते । अत्र तु भगि-
तमात्मनः शुद्धपरिणाम एव धर्मः सूत्रे सर्वे धर्माश्च लभ्यन्ते । को विशेषः । परिहारमाह । तत्र शुद्धोपयोगसंज्ञा मुख्या अत्र तु धर्मेसंज्ञा मुख्यैतावान् विशेषः । तात्पर्यं तदेव । तेन कारणेन सर्वमकारेण शुद्धपरिणाम एव कर्तव्य इति भावार्थः ॥ १९५ ॥

पड़ते हुए प्राणियोंको निकालकर मोक्षपदमें रखे वह धर्म है । वह मोक्षपद देवेन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्रोत्तर बंदने योग्य है । जो आत्माका निज स्वभाव है वही धर्म है उसीमें जिनभावित्र सब धर्म पाये जाते हैं । जो दयास्वरूप धर्म है वह भी जीवके शुद्धभावके बिना नहीं होता, यति व्यापकका धर्म भी शुद्धभावके बिना नहीं होता, उत्तम श्रमादि दशलक्षणधर्म भी शुद्धभाव बिना नहीं होसकता और रत्नत्रयधर्म भी शुद्धभावके बिना नहीं हो सकता । ऐसा ही कथन जगद्गुरु ग्रंथोंमें कहा है “सद्दृष्टि” इत्यादि श्लोकसे । उसका अर्थ यह है कि धर्मके ईश्वर भगवानने सम्प्रदर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंकी धर्म कहा है । जिस धर्मके मे ऊपर कहे गये लक्षण हैं वह रागद्वेष मोह रहित परिणाम धर्म है वह जीवका स्वभाव ही है क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही धर्म है । ऐसा दूसरी जगद्गुरु भी “धम्मो” इत्यादि गाथासे कहा है कि जो आत्मवस्तुका स्वभाव है वह धर्म है उत्तमश्रमादि भावरूप दस प्रकारका धर्म है रत्नत्रय धर्म है और जीवोंकी रक्षा वह धर्म है । यह जिन भावित्र धर्म चतुर्गतिके दुःखोंमें पड़ते हुए जीवकी उद्धारणा है । यही शिष्यने प्रश्न किया कि जो पहले दोहामें जो सुवने शुद्धोपयोगसे सबमादि सब गुण कहे और यही आत्माका शुद्ध परिणाम ही धर्म कहा है उगमें धर्म पाये जाते हैं ही पहले दोहामें और हमने क्या भेद है । उगका समाधान । पहले दोहामें ही शुद्धोपयोग मुख्य कहा था और हम दोहामें धर्म मुख्य कहा है । शुद्धोपयोग ही नाम धर्म है तथा धर्मका ही नाम शुद्धोपयोग है । शुद्धका भेद है अपका भेद नहीं है दोनोंका अन्त्यवैषम्य है । हमारेमें सब तरह शुद्ध परिणाम ही धर्म है वही धर्म है ॥ १९५ ॥

अथ विशुद्धभाव एव मोक्षमार्ग इति दर्शयति;—

सिद्धिर्हि केरा, पंथडा, भाउ विमुद्धउ एकु ।

जो तसु भावहं मुणि चलइ, सो किम होइ विमुद्ध ॥ १९६ ॥

सिद्धेः संबंधी पंथाः भावो विशुद्ध एकः ।

यः तस्माद्भावात् मुनिश्चलति ॥ कथं भवति विमुक्तः ॥ १९६ ॥

सिद्धिर्हि इत्यादि । सिद्धिर्हि केरा सिद्धेरुक्तेः संबंधी पंथडा पंथा मार्गः । कोसौ । भाउ भावः परिणामः । कथंभूतः । विमुद्धउ विशुद्धः एकु एक एवाद्वितीयः । जो तसु भावहं मुणि चलइ यस्तस्माद्भावान्मुनिश्चलति सो किम होइ विमुद्ध न मुनिः कथं मुक्तो भवति ॥ कथमपीति । तथा । योसौ समस्तशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितो जीवस्य शुद्धभावः स एव निश्चयरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः । यन्मग्नान् शुद्धात्मपरिणामान्मुनिश्च्युतो भवति न कथं मोक्षं लभते किं तु नैव । अत्र येन कारणेन निजशुद्धात्मानुभूतिपरिणाम एव मोक्षमार्गत्वेन कारणेन मोक्षार्थिना स एव निरंतरं कर्तव्य इति सात्वयार्थः ॥ १९६ ॥

अथ कापि देशे गच्छ किमप्यनुष्ठानं कुरु तथापि चित्तशुद्धिं विना मोक्षो नास्तीति प्रकटयति;—

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय, जं भावइ करि तं जि ।

केम्यइ मोक्खु न अत्थि पर, चिरहं सुद्धि न जं जि ॥ १९७ ॥

यत्र भाति तत्र याहि जीव यद् भाति कुरु तदेव ।

कथमपि मोक्षः नास्ति परं चित्तस्य शुद्धिर्न यदेव ॥ १९७ ॥

जहिं भावइ इत्यादि । जहिं भावइ तहिं यत्र देशे प्रतिभाति तत्र जाहि गच्छ जिय

भागे शुद्धभाव ही मोक्षका मार्ग है ऐसा दिसलाते हैं;—[सिद्धेः संबंधी] शुद्धिका [पंथाः] मार्ग [एकः विशुद्धः भावः] एक शुद्ध भाव ही है [यः मुनिः] जो मुनि [तस्मात् भावात्] उस शुद्ध भावसे [चलति] चलायमान होजावे [सः] वह [कथं] कैसे [विमुक्तः] मुक्त [भवति] होसकता है निसीनकार नहीं होसकता । भावार्थ—जो समस्त शुभाशुभ संकल्प विकल्पोसे रहित जीवका शुद्ध भाव है वही निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मोक्षका मार्ग है । जो मुनि शुद्धात्मपरिणामसे च्युत होजावे वह किसतरह मोक्षको प्राप्तकता है नहीं प्राप्तकता । मोक्षका मार्ग एक शुद्ध भाव ही है, इसलिये मोक्षके इच्छकको वही भाव हमेशा करना चाहिये ॥ १९६ ॥

आगे यह प्रकट करते हैं कि निसी देशमें जावो चाहे ओ तथ करो लोकी चित्तरी शुद्धिके बिना मोक्ष नहीं है;—[दे जीव] दे जीव [यत्र] जहा [भाति] तेरी इच्छा

दानेन लभ्यते भोगाः परं इंद्रत्वमपि तपसा ।

जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥ १९९ ॥

दाणिं इत्यादि । दाणिं लब्धम् । मोक्ष दानेन लभ्यते पंचेंद्रियभोगाः परं नियमेन इंद्रतत्त्वमपि तपसा लभ्यते जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते । जन्ममरणविवर्जितं पदं स्थानं लब्धम् लभ्यते प्राप्यते । केन । णाणेण वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेति । तथाहि । आहारभयभयसाक्षात्दानेन सम्यक्त्वरहितेन भोगो लभ्यते । सम्यक्त्वरहितेन तु यद्यपि परंपरया निर्वाणं लभ्यते तथापि विविधाम्युदयरूपः पंचेंद्रियभोग एव । सम्यक्त्वरहितेन तपसा तु यद्यपि निर्वाणं लभ्यते तथापि देवेंद्रचक्रवर्त्यादिविभूतिपूर्वकैव । वीतरागस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानेन सविकल्पेन यद्यपि देवेंद्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषो भवति तथापि निर्विकल्पेन मोक्ष एवेति । अत्राह प्रमाकरमट्टः । हे भगवन् यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति ज्ञानमात्रादेव मोक्षः तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भगिनं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते पानकवदे-
कस्यापि मध्ये प्रयमस्ति । तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव । तेन दूषणं भवतीति भावार्थः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार इकतालीस दोहाओंके महासलमें पांच दोहाओंमें शुद्धोपयोगका व्याख्यान किया । आगे पंद्रह दोहाओंमें वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकी मुख्यतासे व्याख्यान करते हैं—
[दानेन] दानसे [परं] नियमकरके [भोगाः] पांच इंद्रियोंके भोग [लभ्यते] प्राप्त होते हैं [अपि] और [तपसा] तपसे [इंद्रत्वं] इंद्रपद मिलता है तथा [ज्ञानेन] वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसे [जन्ममरणविवर्जितं] जन्म जरा मरणसे रहित [पदं] जो मोक्षपद वह [लभ्यते] मिलता है ॥ भावार्थ—आहार भयभय और शास इन चार तरहके दानोंकी यदि सम्यक्त्वरहित करे तो भोगभूमिके मुक्त पाता है तथा सम्यक्त्वरहित दान करे तो परंपराय मोक्ष पाता है । यद्यपि प्रथम अवस्थाने देवेंद्रचक्रवर्ती आदिकी विभूति भी पाता है, तौ भी निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानकर मोक्ष ही है । यहां प्रमाकर मट्टने प्रश्न किया कि हे भगवन् जो ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होती है तो सांख्यादिक भी ऐसा ही कहते हैं कि ज्ञानसे ही मोक्ष है उनको क्यों दूषण देते हो । तब श्रीगुरुने कहा । इस जिनशासनमें वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान कहा गया है तौ वीतराग कहनेमें वीतराग चारित्र भी आ जाता है और सम्यक् पदके कट-
नेसे सम्यक्त्व भी आ जाता है । जैसे एक चूर्णमें अथवा पाकमें अनेक औषधि आ जाती हैं परंतु वस्तु एक ही रह जाती है उभीतराग निर्विकल्पस्वसंवेदन ज्ञानके

अथ तमेवार्थं विद्वद्गुरुणाद्योक्तं इत्यपि,—

देव निरंजनो हं मण्ड, पाणिं मुखरु न भंति ।

पाणविहीणा जीवता, मित्रं संसारं भ्रमंति ॥ २०० ॥

देवः निरंजन एवं भजति ज्ञानेन मोक्षो न भ्रान्तिः ।

ज्ञानविहीना जीवाः चिरं संसारं भ्रमंति ॥ २०० ॥

देव इत्यादि । देव देवः । निविदिष्टः । निरंजनः अनंतज्ञानादिगुणसहितोष्ठा-
द्वारापरहितः हं मण्ड एवं भजति । एवं हि । पाणि मुखरु वीतरागनिर्विकल्पसं-
वेदनरूपेण सम्यग्ज्ञानेन मोक्षो भवति । न भंति न भ्रान्तिः संदेहो नास्ति । पाणविहीणा
जीवता पूर्वोक्तसंवेदनज्ञानेन विहीना जीवाः चिरं संसारं भ्रमंति चिरं बहुतरं फलं
संगतं परिभ्रमंति इति । अत्र वीतरागसंवेदनज्ञानमध्ये यद्यपि सम्यक्सत्तादित्रयमस्ति
तथापि सम्यग्ज्ञानमैव मुख्यम् । विद्वज्ज्ञो मुख्य इति वचनादिति भावार्थः ॥ २०० ॥

अथ पुनरपि तमेवार्थं दृष्टान्तराष्ट्रानि काव्यानि निम्नोक्तिः—

पाणविहीणाहं मोक्षमप्यु, जीव म कस्यपि जोइ ।

बहुतं मलिलविलोहितेन करः बिद्वजो न भवति ॥ २०१ ॥

ज्ञानविहीनस्य मोक्षमप्यु जीव मा कस्यापि भद्राशीः ।

बहुना मलिलविलोहितेन करः बिद्वजो न भवति ॥ २०१ ॥

पाण इत्यादि । पाणविहीणाहं स्यात्तिपूजालाभादिदुष्टभावपरिणतचित्तं मम कोवि न

कहनेमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य-ये तीनों आजाते हैं । सांख्यादिकफे मतमें वीतराग
विशेषण नहीं है और सम्यक् विशेषण नहीं है केवल ज्ञानमात्र ही कहते हैं सो यह
मिथ्याज्ञान है इसलिये दूषण देते हैं । यह ज्ञानना ॥ १९९ ॥

आगे उसी अर्थको विपक्षीको दूषण देकर दृढ़ करते हैं—[निरंजनः] अनंत
ज्ञानादि गुण सहित और अठारह दोष रहित जो [देवः] सर्वज्ञ वीतरागदेव हैं वे
[एवं] ऐसा [भजति] कहते हैं कि [ज्ञानेन] वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनरूप
सम्यग्ज्ञानसे ही [मोक्षः] मोक्ष है इसमें [न भ्रान्तिः] इसमें संदेह नहीं है । और
[ज्ञानविहीनाः] स्वसंवेदनज्ञानकर रहित जो [जीवाः] जीव हैं वे [चिरं] बहुत
काल तक [संसारं] संसारमें [भ्रमंति] भटकते हैं । भावार्थ—यहां वीतरागसं-
वेदनज्ञानमें यद्यपि सम्यक्त्वादिति तीनों हैं तौभी मुख्यता सम्यग्ज्ञानकी ही है । क्योंकि
धीजिन वचनमें ऐसा कथन किया है कि जिसका कथन किया जाये वह मुख्य होता है
और अन्य गौण होता है । ऐसा जानना ॥ २०० ॥

आगे फिरभी इसी कथनको दृष्टत और दार्ढ्यतमे निश्चय करते हैं—[ज्ञानविही-

विभोगाभाकरणं यन्निदानबंधस्तदेव शक्त्यं तत्प्रभृतिसमस्तमनोरथविकल्पव्यालावलीरहित-
त्वेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजालावबोधो निजबोधः तस्मान्निजबोधाद्भासं यत् पाशु त्रि-
फञ्जु ण तेण दासादिजनितं ज्ञानमपि यत्तेन कार्यं नान्ति । कस्मादिति चेत् । दुःखसहं
कारणं दुःखस्य कारणं ज्ञेयं येन कारणेन तत् पीतरागस्यसंवेदनरहितं ततः जीवहं
जीवस्य होइ भवति क्षणेण क्षणमात्रेण कालेनेति । अत्र यद्यपि दासजनितं ज्ञानं स्वगु-
णात्मपरिज्ञानरहितं तपभरणं च मुख्यदृष्ट्या पुण्यकारणं भवति तथापि मुक्तिकारणं न
भवतीत्यभिप्रायः ॥ २०२ ॥

अथ येन मिथ्यास्वरागादिदृष्टिर्भवति तदाज्ञानं न भवतीति निरूपयति:—

तं गियणाणु जि होइ जयि, जेण पयइइ राउ ।

दिणपरकिरणहं पुरउ जिय, किं विलसइ तमराउ ॥ २०३ ॥

तत् निजज्ञानमेव भवति नापि येन प्रवर्धते रागः ।

दिनकरकिरणानां पुरतः जीव किं विलसति तमोरागः ॥ २०३ ॥

ज्ञानसे [पासे] घादर (रहित) [ज्ञानमपि] दासबर्गेरः का ज्ञान भी है [नेन] उम
ज्ञानसे [कार्यं न] कुछ काम नहीं [येन] क्योंकि [तपः] पीतरागस्यसंवेदनज्ञानरहित
तप [क्षणेण] क्षीम ही [जीवस्य] जीवको [दुःखस्य कारणं] दुःखका कारण
[भवति] होता है । भावार्थ—निदानबंध आदि तीन शक्त्योंको आदि से समस्त विष-
याभिलाषरूप मनोरथोंके विकल्पआलस्यकी अगिरी पशालाओंसे रहित जो निज तत्त्वज्ञान
है उससे रहित बाधपदार्थोंका दासद्वारा ज्ञान है उससे कुछ काम नहीं । कार्य तो एक
निज आत्माके जाननेसे है । यहाँ सिध्दने प्रभ रिया कि निदानबंधरहित आत्मज्ञान
गुमने बतलाया उसमें निदानबंध कैसे बहते हैं । उसका समाधान । जो देगे गुने और
भोगे हुए इन्द्रियोंके भोगोंसे जिसका चित्त रंग रहा है ऐसा अज्ञानी जीव स्वल्पद्वय
सौभाग्यका अभिलाषी बागुदेव चक्रवर्तीवशके भोगोंकी बांटा करे, दान दूना लपधारणादि-
कर भोगोंकी अभिलाषा करे वह निदानबंध है सो बड़ी सत्य (बांटा) है । इस शक्त्यसे
रहित जो आत्मज्ञान उसके बिना छद्मदासादिका ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है । क्योंकि
पीतरागस्यसंवेदनज्ञानरहित तप भी दुःखका कारण है । ज्ञानरहित तपसे जो संसारकी
संपदायें मिलती हैं वे क्षणभंगुर हैं । इसलिये यह निश्चय हुआ कि आत्मज्ञानसे रहित
जो दासका ज्ञान और तपभरणादि हैं उनसे मुक्त्यकाकर पुण्यका बंध होता है । उस
पुण्यके प्रभावसे जगत्की विभूति पाता है वह क्षणभंगुर है । इसलिये अज्ञानियोंका तप
गौर मुन यद्यपि पुण्यका कारण है तभी मोक्षका कारण नहीं है ॥ २०४ ॥

आगे जिससे मिथ्यास्वरागादिदृष्टि की दृष्टि हो वह आत्मज्ञान नहीं है ऐसा निरूप

अथ कर्मफलं भुंजानस्सन् योसौ रागद्वेषं करोति स कर्म वध्नातीति कथयति;—

भुंजंतुवि णियकम्मफलं, मोहइं जो जि करेइ ।

भाउ असुंदरु सुंदरुवि, सो पर कम्मु जणेइ ॥ २०६ ॥

भुंजानोपि निजकर्मफलं मोहेन य एव करोति ।

भावं असुंदरं सुंदरमपि स परं कर्म जनयति ॥ २०६ ॥

भुंजंतुवि इत्यादि । भुंजंतुवि भुंजानोपि । किं । णियकम्मफलं वीतरागपरमाह्लादरूप-
शुद्धात्मानुभूतिविपरीतं निजोपार्जितं शुभाशुभकर्मफलं मोहइं निर्मोहशुद्धात्मप्रतिकूलमोहो-
दयेन जो जि करेइ ए एव पुरुषः करोति । कं । भाउ भावं परिणामं । किं विनिष्टं ।
असुंदरु सुंदरुवि अशुभं शुभमपि सो पर स एव भावः कम्मु जणेइ शुभाशुभं कर्म
जनयति । अयमत्र भावार्थः । उदयागते कर्मणि योसौ स्वस्वभावच्युतः सन् रागद्वेषौ
करोति स एव कर्म वध्नाति ॥ २०६ ॥

अथ उदयागते कर्मानुभवे योसौ रागद्वेषौ न करोति स कर्म न वध्नातीति कथयति,—

भुंजंतुवि णियकम्मफलं, जो तहिं राउ ण जाइ ।

सो णवि बंधइ कम्मु पुणु, संचिउ जेण विलाइ ॥ २०७ ॥

भुंजानोपि निजकर्मफलं यः तत्र रागं न याति ।

स नैव वध्नाति कर्म पुनः संचितं येन विलीयते ॥ २०७ ॥

भुंजंतुवि इत्यादि । भुंजंतुवि भुंजानोपि । किं । णियकम्मफलं निजकर्मफलं निजशु-

क्या जरूरत है उसी तरह जिसका चित्त आत्मामें लग गया उसके दूसरे पदार्थोंकी बांध
नहीं रहती ॥ २०५ ॥

आगे कर्मफलको भोगता हुआ जो राग द्वेष करता है वह कर्मोंको बांधता है;—[य-
एव] जो जीव [निजकर्मफलं] अपने कर्मोंके फलको [भुंजानोपि] भोगता हुआ भी
[मोहेन] मोहसे [असुंदरं सुंदरं अपि] भले और बुरे [भावं] परिणामोंको
[करोति] करता है [सः] वह [परं] केवल [कर्म जनयति] कर्मको उपजाता
(बांधता) है । भावार्थ—वीतराग परम आह्लादरूप शुद्धात्माकी अनुभूतिसे विपरीत जो
अशुद्धरागादिक विभाव उनसे उपार्जन किये गये शुभ अशुभकर्म उनके फलको भोगता
हुआ जो अज्ञानी जीव मोहके उदयसे हर्ष विषाद भाव करता है वह नये कर्मोंका बंध
करता है । सारांश यह है कि जो निजस्वभावसे च्युत हुआ उदयमें आये हुए कर्मोंमें
राग द्वेष करता है वही कर्मोंको बांधता है ॥ २०६ ॥

आगे जो उदयप्राप्त कर्मोंमें राग द्वेष नहीं करता वह कर्मोंको भी नहीं बांधता ऐसा

द्यात्मोपलंभावावेनोपार्जितं पूर्वं यन् शुभाशुभं कर्म तस्य फलं ज्ञो यो जीवः तर्हि तत्र कर्मानुभवप्रस्तावे राउ ण जाइ रागं न गच्छति वीतरागचिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वभाव-
घनोत्पन्नसुखामृतम् । सन् रागद्वेषौ न करोति सो स जीवः णवि बंधइ नैव बध्नाति ।
किं न बध्नाति । कम्म्यु ज्ञानावरणादि कर्म पुणु पुनरपि । येन कर्मबंधाभावपरिणामेन किं
भवति । संचित जेण विलाइ पूर्वमंचितं कर्म येन वीतरागपरिणामेन विलयं विनाशं
गच्छतीति । अग्राह प्रभाकरभट्टः । कर्मोदयफलं भुञ्जानोपि ज्ञानी कर्मणापि न बध्यते
इति सांख्याद्योपि वदन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्विरिति । भगवानाह । ते
निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतरागचरित्रनिरपेक्षा वदन्ति तेन कारणेन तेषां दूषणमिति
तात्पर्यं ॥ २०७ ॥

अथ यावत्कालमनुमात्रमपि रागं न मुंचति तावत्कालं कर्मणा न मुच्यते इति प्रति-
पादयति;—

ज्ञो अणुमिरुपि राउ मणि, जाम ण मिद्धइ परसु ।

सो णवि मुचइ ताम जिय, जाणंतुवि परमसु ॥ २०८ ॥

कहते हैं;—[निजकर्मफल] अपने णवि हुए कर्मोंके फलको [भुञ्जानोपि] भोगता
हुआ भी [तत्र] उस फलके भोगनेमें [यः] जो जीव [रागं] राग द्वेषको [न याति]
नहीं प्राप्त होता [सः] वह [पुनः कर्म] फिर कर्मको [नैव] नहीं [बध्नाति]
बांधता [येन] जिस कर्मबंधाभावपरिणामसे [संचितं] पहले बांधे हुए कर्म भी
[विलीयते] नाश होजाते हैं । भाषार्थ—निजशुद्धात्माके ज्ञानके अभावसे उपाजंन
किये जो शुभ अशुभ कर्म उनके फलको भोगता हुआ भी वीतराग चिदानन्द परमस्वभाव-
रूप शुद्धात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न अतीन्द्रियसुखरूप अमृतसे तृप्तहुआ जो रागी द्वेषी
नहीं होता वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मोंको नहीं बांधता है और मने कर्मोंके बंधका
अभाव होनेसे प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा ही होती है । यह सबरूपमें निर्जरा ही मोक्षका
मूल है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकर भट्टने प्रश्न किया कि हे मयो “कर्मोंके फलको
भोगता हुआ भी ज्ञानसे नहीं बंधता” ऐसा सास्य आदिक भी कहते हैं उनको तुम दोष
क्यों देते हो । उसका समाधान श्रीगुरु कहते हैं—जो हम तो आत्मज्ञान संयुक्त ज्ञानी
जीवोंकी अपेक्षा करते हैं, ये ज्ञानके अभावसे कर्मफल भोगते हुए भी रागद्वेषभाव नहीं
करते । इसलिये उनके नये बंधका अभाव है । और जो मिथ्यारहि ज्ञानभावमें रहकर
पूर्वोपार्जितकर्मफलको भोगते हुए रागी द्वेषी होते हैं उनके अवश्य बंध होता है ।
इस तरह सास्य नहीं कहता वह वीतराग चरित्रसे रहित कथन करता है । इसलिये उन
सास्यादिकोंको दूषण दिया जाता है । यह तात्पर्य जानना ॥ २०७ ॥

यः अणुमात्रमपि रागं मनसि यावत् न मुंचति अत्र ।

स नैव मुच्यते तावत् जीव जानन्नपि परमार्थ ॥ २०८ ॥

जो इत्यादि । जो यः कर्ता अणुमित्तुवि अणुमात्रमपि मूळमपि राउ रागं वीतराग सदानंदैकशुद्धात्मनो विलक्षणं पंचेंद्रियविषयमुक्तामिलापरगं मणि मनमि जाम ण मिळ यावंतं कालं न मुंचति एत्थु अत्र जगति सो णवि मुचइ म जीवो नैव मुच्यते ज्ञानावरणादिकर्मणा ताव तावंतं कालं जिय हे जीव । किं कुर्वन्नपि । जाणंतुवि वीतरागानुष्ठान रहितः सन् शब्दमात्रेण जानन्नपि । कं जानन् । परमत्सु परमार्थशब्दवाच्यनिजशुद्धात्मतत्त्वमिति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मस्वभावमात्रातेपि शुद्धात्मोपलब्धिविलक्षणवीतरागचारित्रभावनां विना मोक्षं न लभत इति ॥ २०८ ॥

अथ निर्विकल्पालभावनाशून्यः शास्त्रं पठन्नपि तपश्चरणं कुर्वन्नपि परमार्थं न वेत्ति कथयति;—

बुज्झइ सत्थइ तउ चरइ, पर परमत्सु ण येइ ।

ताव ण मुंचइ जाम णवि, इहु परमत्सु मुणेइ ॥ २०९ ॥

बुध्यते शास्त्राणि तपः चरति परं परमार्थं न वेत्ति ।

तावत् न मुच्यते यावंतं नैव एनं परमार्थं मनुते ॥ २०९ ॥

बुज्झइ इत्यादि । बुज्झइ बुध्यते । कानि । सत्थइ शास्त्राणि न केवलं शास्त्राणि बुध्यते तउ चरइ तपश्चरति परं परं किंतु परमत्सु ण येइ परमार्थं न वेत्ति न जानाति । कस्मात् वेत्ति । यद्यपि व्यवहारेण परमात्मप्रतिपादकशास्त्रेण ज्ञायते तथापि निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानेन परिच्छिद्यते । यद्यप्यनशानादिद्वादशविधतपश्चरणेन यहिरंगसहकारिकारणमूलेन

आगे जब तक परमाणूमात्र भी रागको नहीं छोड़ता—धारण करता है तब तक कर्मोंसे नहीं छूटता ऐसा कथन करते हैं;—[यः] जो जीव [अणुमात्रं अपि] थोड़ा भी [रागं] राग [मनसि] मनमेंसे [यावत्] जबतक [अत्र] इस संसारमें [न मुंचति] नहीं छोड़ देता है [तावत्] तबतक [जीव] हे जीव [परमार्थं] निजशुद्धात्मतत्त्वको [जानन्नपि] शब्दसे केवल जानता हुआ भी [नैव] नहीं [मुच्यते] मुक्त होता । भावार्थ—जो वीतराग सदा आनंदरूप शुद्धात्मभावसे रहित पंचेंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा रखता है मनमें थोड़ासा भी राग रखता है वह आगमज्ञानसे आत्माको शब्दमात्र जानता हुआ भी वीतराग चारित्रकी भावनाके विना मोक्षको नहीं पाता ॥ २०८ ॥

आगे जो निर्विकल्प आत्मभावनासे शून्य है वह शास्त्रको पढ़ना हुआ भी तथा तपश्चरण करता हुआ भी परमार्थको नहीं जानता है ऐसा कहते हैं;—[शास्त्राणि] शास्त्रोंको [बुध्यते] जानता है [तपः चरति] और तपस्या करना है [परं] लेकिन [परमार्थं]

साध्यते तथापि निश्चयेन निर्विकल्पगुणात्मविभांतिलक्षणवीतरागचारित्रसाध्यो योसौ परमार्थशब्दवाच्यो निजगुणात्मा तत्र निरंतरानुष्ठानाभावान् ताव न मुंचेद् तावतं कालं न मुच्यते । केन । कर्मणा जाम णवि इहु परमत्पु मुणेइ यावतं कालं नैवेनं पूर्वोक्त-लक्षणं परमार्थं मनुते जानाति अद्वत्ते मन्मगनुभवतीति । इदमत्र तात्पर्यं । यथा प्रदीपेन विवक्षितं वस्तु निरीक्ष्य गृहीत्वा च प्रदीपस्त्यज्यते तथा गुणात्मतत्त्वप्रतिपादकशास्त्रेण गुणात्मतत्त्वं ज्ञात्वा गृहीत्वा च प्रदीपस्त्यानीयः शास्त्रविकल्पस्त्याज्यत इति ॥ २०९ ॥

अथ योसौ शास्त्रं पठन्नपि विकल्पं न मुंचति निश्चयेन देहस्य गुणात्मानं न मन्यते स जडो भवतीति प्रतिपादयति;—

सत्पु पढंतुपि होइ जहु, जो ण हणेइ विपत्तु ।

देहि वसंतुपि गिम्मलउ, णपि मण्णइ परमत्तु ॥ २१० ॥

शास्त्रं पठन्नपि भवति जडः यः न हंति विकल्पं ।

देहे वसंतमपि निर्मलं नैव मन्यते परमात्मानं ॥ २१० ॥

परमात्माको [न वेत्ति] नहीं जानता है [यावत्] और जबतक [एवं] पूर्व कहे हुए [परमार्थ] परमात्माको [नैव मनुते] नहीं जानता व अद्वान व अच्छीतरह अनुभव करता है [तावत्] तबतक [न मुच्यते] नहीं छूटता । भाषार्थ—यद्यपि व्यवहार नमसे आत्मा अध्यात्मशास्त्रोंसे जाना जाता है तौमी निश्चयनयने पीनरागस्त्वमेवेदं ज्ञानहीसे जानने योग्य है, यद्यपि बाह्य सहकारी कारण अन्तर्ज्ञानादि बारह प्रकारके तपसे साधा जाता है तौमी निश्चयनयसे निर्विकल्पपीनराग चारित्रहीने आत्माकी सिद्धि है । जिस पीनरागचारित्रका गुणात्मागं विश्राम होना ही लक्षण है । सो निना पीनराग-चारित्रके आंगमज्ञानसे तथा बाह्य तपसे आत्मज्ञानकी सिद्धि नहीं है । जबतक निजगुणात्मतत्त्वके स्वरूपका आचरण नहीं है तबतक कर्मोंसे नहीं छूट सकता । यह निःसं-देह जानना जबतक परमतत्त्वको न जानें न बद्धा करे न अनुभवे तपनक कर्मबंधसे नहीं छूटता । इससे यह निश्चय हुआ कि कर्मबंधसे छूटनेका कारण एक आत्मज्ञान ही है । और शास्त्रका ज्ञान भी आत्मज्ञानकेलिये ही किया जाता है, जैसे दीपकसे बस्तुको देख-कर वस्तुको उठा लेते हैं और दीपकको छोड़ देते हैं उसी तरह गुणात्मतत्त्वके उपदेश करनेवाले जो अध्यात्मशास्त्र उनसे गुणात्मतत्त्वको जानकर उस गुणात्मतत्त्वका अनुभव करना चाहिये और शास्त्रका विकल्पर छोड़ना चाहिये । शास्त्र तो दीपकके समान है तथा आत्मवस्तु रत्न समान है ॥ २०९ ॥

आगे जो शास्त्रको पढ़करके भी विकल्पको नहीं छोड़ता और निश्चयसे गुणात्माको नहीं मानता जो कि गुणात्मदेव देहरूपी देवालेमें मौजूद है उसे न ध्यावना है यह मूर्ख

मत्स्य इत्यादि । सत्सु पटंतुवि शास्त्रं पठन्नपि होइ जडु स जडो भवति । यः किं करोति । जो ण हणेइ विषयसु यः कर्ता शास्त्राभ्यासफलभूतस्य रागादिविकल्परहितस्य निजशुद्धात्मस्वभावस्य प्रतिपन्नभूतं मिथ्यात्वरगादिविकल्पं न हंति । न केवलं विकल्पं न हंति । देहि वसंतुवि देहे वसंतमपि पिण्डमलउ निर्मलं कर्ममलरहितं णवि मण्णइ नैव मन्यते न श्रद्धते । फं । परमसु निजपरमात्मानमिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा त्रिगुण-समाधिं कृत्वा च स्वयं भावनीयं । यदा तु त्रिगुमिगुमसमाधिं कर्तुं नायाति तदा विषय-कषायवंचनार्थं शुद्धात्मभावनास्मरणदृढीकरणार्थं च बहिर्विषये व्यवहारज्ञानवृद्ध्यर्थं च परंपरां कथनीयं किंतु तथापि परप्रतिपादनव्याजेन मुख्यवृत्त्या स्वकीयजीव एव संबोध-नीयः । कथमिति चेत् । इदमनुपपन्नमिदं व्याख्यानं न भवति मदीयमनसि यदि समी-चीनं न प्रतिभाति तर्हि तमेव स्वयं किं न भावयसीति तात्पर्यं ॥ २१० ॥

अथ बोधार्थं शास्त्रं पठन्नपि यस्य त्रिशुद्धात्मप्रतीतिलक्षणो बोधो नास्ति स मूढो भवतीति प्रतिपादयति;—

योहणिमिरं सत्सु किल, लोइ पटिअइ इत्सु ।

नेणवि योहु ण जारु वर, सो किं मूढु ण तत्सु ॥ २११ ॥

बोधनिमित्तेन शास्त्रं किञ्च लोके पठ्यते अत्र ।

तौवैव बोधो न यस्य वरः सो किं मूढो न तस्य ॥ २११ ॥

हे देवा कहते है—[यः] जो जीव [शास्त्रं] शास्त्रको [पठन्नपि] पठना हुआ भी [विकल्पं] विकल्पको [न हंति] नहीं दूर करता (मेटता) वह [जडो भवति] मूर्ख है जो विकल्प नहीं मेटता वह [देहे] शरीरमें [वसंतमपि] रहते हुए भी [निर्मलं परमात्मानं] निर्मल परमात्माको [नैव मन्यते] नहीं भजानमें लाता । भाषार्थ—शास्त्रके अध्ययनका जो फल यह है कि रागादि विकल्पोंको दूर करना और निज शुद्धा-त्मको प्राप्त करना । इसलिये हम व्याख्यानको जानकर तीनगुमिमें अवलोकन हो परम रागा-दिमें आश्रय होकर निजमत्त्वका ध्यान करना । लेकिन अब तक तीन गुमि न हो परममत्त्व न आये (होमके) तब तक विषयवृत्तियोंके दृष्टान्तेकलिये परतीतोंको धर्मो-देश देना उम्में भी पड़ेगा उद्देशके बदलनेमें मुख्यवृत्ति अथवा जीव ही सेवोता । हे देव न्याह है कि परको उपदेश देने अर्थको समझाये । जो मागे दूगोंको लुकाये वह लुका देने करे । हमने मुख्य मत्त्वमें अथवा ही है । परतीतोंको देना ही उद्देश है जो वह जान हो मनमें अच्छी नहीं लगती तो तुमको भी नहीं लगेगा लगनी होगी तुम भी अपने करने दिखाने ॥ २१० ॥

अथ इदं विषयको कहते हुए भी विमल आचरण नहीं है वह मूर्ख है देवा

बोधनिमित्तं विना शास्त्रं लोके पश्यते अत्र तेनैव कारणेन बोधो न भवति । कथंभूतो, बोधो विनाः न किं भूतो न भवति विनु भवत्येव नश्यमिति । तथा । अत्र यद्यपि लोकात्मकात्मक विद्यमानत्वादिव्याप्ति-वादिगणशास्त्रजनितो बोधो भवत्येव तथापि निश्चय-रूपेण परमात्मप्रकाशत्वात्-शास्त्रशास्त्रोक्तो बीजगम्यमवेदनरूपः न एव बोधो मासो न पान्थः । तेनामुबोधेन विना शास्त्रं पश्यतेपि भूतो भवतीति । अत्र यः बोधि परमात्म-बोधजनकमात्रशास्त्रं शास्त्रादि बीजगम्यभावना करोति न मिथ्यातीति । तथा बोधः । “बोधि वेदमपरा बोधोपि न विविक्तवत् निश्चयं । न ह्य विज्ञाति विज्ञानेन विना पट्टि-देतुदि शास्त्रमप्येव” । परं किं नु । “अवगतेष्टा ज्ञेयं तु द्वि-भवि न विज्ञातं विनु । कण-विश्लिष्टं पश्यति विनु परं संवदितं वदतु” । इत्यादि पाठमात्रं गृहीत्वा परेषां वदुनाम्-ज्ञानिनो दूषणा न कर्तव्या । सैवेदुभ्याम्पदं चामरपुननवोपनानां दूषणा न कर्तव्या । वामादिति चेत् । दूषणे कृते यदि परस्परं शास्त्रोक्तोपनिर्भवति तेन ज्ञानप्रभरणारिकं गच्छतीति भावार्थः ॥ २६१ ॥

वचन करने हैं—[अत्र लोक] ११ लोकमें [किन्तु] नियमसे [बोधनिमित्त] ज्ञानके निमित्त [शास्त्र] शास्त्र [पढते] पढ़े जाने हैं [तेनैव] परंतु शास्त्रके पढ़नेसे भी [यस्य] जिसको [यः बोधः न] उद्यमज्ञान नहीं हुआ [सः] वह [किं] क्या [भूतः न] गुरु नहीं है [तस्य] टीका गुरु ही है हमसे संदेह नहीं । भावार्थ—इस लोकमें यद्यपि लोकप्रवृत्तारे में मनीष विविताका कर्ता करि, मापीनकाण्योकी टीका कर्ता गमक, जिसमें बादमें कोई न जीवनमक ऐसा वादित्व, और धोताभोके मनको अनुरागी करनेवाला शास्त्रका वचना होनात्मक दाम्भिक इत्यादि लक्षणोवाला शास्त्रजनित ज्ञान होता है लोभी निश्चयनपणे बीजगम्यमवेदनरूप ही ज्ञान अध्यात्मशास्त्रोंमें प्रशंसा किया गया है । इसलिये स्वसंवेदन ज्ञानके विना शास्त्रके पढ़ते हुए भी गुरु है । और जो कोई परमात्मज्ञानके उत्पन्न करनेवाले छोटे छोटे शास्त्रको भी जानकर बीतराग स्वसंवेदन ज्ञानकी भावना करते हैं वे मुक्त होजाने हैं । ऐसा ही कथन श्रद्धाओंमें हर एक जगह कहा है कि—धर्मगम्यमें लगे हुए जो मोह शत्रुको जीतनेवाले हैं वे थोड़े शास्त्रको ही पढ़कर मुक्त जाते हैं मुक्त हो जाने हैं और धर्मगम्यके विना सब शास्त्रोंको पढ़ते हुए भी मुक्त नहीं होते । यह निश्चय जानना परंतु यह कथन अपेक्षासे है । इस वदनेसे शास्त्र पढ़नेका अभ्यास नहीं छोड़ना, और जो विशेष शास्त्रके पाठी हैं उनको दूषण न देना ॥ जो शास्त्रके अक्षर बना रहा है और आत्मामें चित नहीं लगाया वह ऐसे जानना कि

१ बीज परमात्मपरा बोधमपि हि निश्चयित्वा निश्चयं । न यत्तु निश्चयं विज्ञानेन विना पठितेभ्यः सर्वशास्त्रेषु ॥ २ अक्षराणि पठयन् स्थित आत्मनि न दर्शयितुं । कणविरहितं पलाय्यो यथा परं गच्छतीति वदुनर ॥

रणं तन्निर्वाणस्यानादिकं च तीर्थमिति । अयमत्र भावार्थः । पूर्वोक्तं निश्चयतीर्थं भ्रष्टानप-
रिस्तानानुष्ठानरदिगानामशानिनां दोषतीर्थं मुक्तिकारणं न भवतीति ॥ २१२ ॥

अथ शानिनां तथैवाशानिनां च यतीनामन्तरं दर्शयति;—

णाणिहिं मूढहं मुनिवरहं, अंतरं होइ महंतु ।

देह जि मिहह णाणिपडं, जीवहं भिण्णु मुणंतु ॥ २१३ ॥

शानिनां मूढानां मुनिवराणां अंतरं भवति महत् ।

देहमपि मुंचति शानी जीवाद्भिलं मन्यमानः ॥ २१३ ॥

शानिनां मूढानां च मुनिवराणां अंतरं विज्ञेयो भवति । कथंभूतं । महत् । कस्मादिति
पेन् । देहमपि मुंचति । कोसौ । शानी । किं कुर्वन् सन् । जीवात्सकाशाद्भिलं मन्यमानो
जानन् इति । तथा च । धीतरागस्संवेदनज्ञानी पुत्रकुलप्रादि बहिर्द्रव्यं तापहरे तिष्ठतु
हृदयुद्धैकमभावात् । अमुदात्मस्वरूपात्मकासात् । पृथग्भूतं जानन् स्वकीयदेहमपि त्यजति ।
मूढात्मा पुनः स्वीकरोति इति तात्पर्यम् ॥ २१३ ॥ एवमेकपत्वारिंशत्सूत्रप्रमितगदाखल-
मध्ये पंचदशमूर्ध्वशीतरागस्संवेदनज्ञानमुपत्यजेन द्वितीयमंतरस्थलं समाप्तम् । तदनंतरं त-
थैव महाखलमध्ये दूष्प्राप्तकपर्ययं परिमद्व्यागव्याख्यानमुपत्यजेन तृतीयमंतरस्थलं प्रारभ्यते ।

तीर्थं हैं निश्चयनयसे निजमुद्धाततत्त्वके ध्यानके समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं हैं और
व्यवहारनयसे तीर्थकरपरमदेवादिके गुणस्मरणके कारण गुण्यतासे शुभबंधके कारण ऐसे
जो फैलास सम्भेदक्षिप्तर आदि निर्वाणस्थान हैं वे भी व्यवहारमात्र तीर्थ कहे हैं । जो
तीर्थ तीर्थ प्रति भ्रमण करे और निज तीर्थका जिसके भ्रष्टान परिज्ञान आचरण नहीं है
वह अज्ञानी है । उसके तीर्थ भ्रमनेसे मोक्ष नहीं होसकती ॥ २१२ ॥

आगे शानी और अज्ञानी यतियोंमें बहुत बड़ा भेद दिखताते हैं;—[शानिनां]
सम्बन्धही भावलिंभी [मूढानां] मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंभी [मुनिवराणां] मुनियोंमें [महत्
अंतरं] बड़ा भारी भेद [भवति] है । [शानी] क्योंकि शानीमुनि तो [देहं अपि]
शरीरको भी [जीवाद्भिलं] जीवसे जुदा [मन्यमानः] जानकर [मुंचति] छोड़
देते हैं अर्थात् शरीरका भी ममत्व छोड़ देते हैं तो पुत्र स्त्री आदिका क्या कहना है ये
तो मत्स्यक्षसे जुदे हैं और द्रव्यलिंभी मुनि लिंग (भेष) में आत्मबुद्धिको रस्तता है ।
भावार्थ—धीतरागस्संवेदनज्ञानी महासुनी मनवचनद्वय इन तीनोंसे अपनेको भिल
जानता है द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मादिकसे जिसको गमता नहीं है, पिता माता पुत्र कुल-
प्रादिकी तो बात अलग रही जो अपने आत्मसमावसे निजदेहको ही जुदा जानता है ।
जिसके पर वस्तुमें आत्ममाव नहीं है और मूढात्मा परभावोंको अपने जानता है । यही
शानी और अज्ञानीमें अंतर है । परको अपना मानें वह बंधता है और न मानें वह मुक्त

शिष्याजिकापुस्तकैः, तृसह मूढु निभंतु ।

पयहिं लज्जह णाणियउ, थंयहं देउ मुणंतु ॥ २१५ ॥

शिष्याजिकापुस्तकैः तुप्यति गूढो निर्भीतः ।

एतैः लज्जते ज्ञानी थंधस्य देतुं जानन् ॥ २१५ ॥

शिष्याजिकादीश्वरदानेन पुस्तकप्रस्तुतपुष्पकरणैश्च तुप्यति संतोषं करोति । कोसौ । मूढः । बंधधुनो । निर्भीतः । एतैर्बहिर्द्वैत्यैर्लज्जो करोति । कोसौ । ज्ञानी । किं कुर्वन्नपि । पुण्य-बंधहेतुं जानन्नपि । तथा च । पूर्वमूत्रोपनयनस्य दर्शनज्ञानपारित्रलक्षणं निजगुह्यात्मस्वभाव-मभ्युपगम्यो विशिष्टभेदज्ञानेनाज्ञानं च तथैव धीनरागपारित्रेणाभावयं च गूढात्मा । त्रिकरोति । पुण्यबंधकारणमपि जिनदीक्षादानादि शुभानुष्ठानं पुस्तकाद्युपकरणं वा मुक्ति-कारणं मन्यते । ज्ञानी तु यद्यपि साक्षात्पुण्यबंधकारणं मन्यते परंपरया मुक्तिकारणं च तथापि निश्चयेन मुक्तिकारणं न मन्यते इति तात्पर्यं ॥ २१५ ॥

अथ चतुष्टयकुंडिकाद्युपकरणैर्मोहमुत्पाद्य मुनिवराणां उत्तमे पान्यते इति प्रतिपादयति;—

चटहिं पटहिं कुंडियहिं, चेह्वापेह्लियपहिं ।

मोह जणेयिणु मुणिवरहं, उप्पहिं पाडिय तेहिं ॥ २१६ ॥

चटैः पटैः कुंडिकाभिः शिष्याजिकाभिः ।

मोहं जनयित्वा मुनिवराणां उत्तमे पातितालैः ॥ २१६ ॥

आगे शिष्योक्ता करना पुस्तकादिका संग्रह करना इन बातोंसे अज्ञानी प्रमत्त होता है और ज्ञानीजन इनको बंधके कारण जानता हुआ इनसे रागभाव नहीं करता इनके संग्रहमें लज्जावान् होता है;—[मूढः] अज्ञानीजन [शिष्याजिकापुस्तकैः] चेला चली पुस्तकादिकसे [तुप्यति] हर्षित होता है [निर्भीतः] इसमें कुछ सदेह नहीं है [ज्ञानी] और ज्ञानीजन [एतैः] इन बाधपदार्थोंसे [लज्जते] शरमाता है क्योंकि इन सबोंकी [बंधस्य हेतुं] बंधका कारण [जानन्] जानता है । भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्यरूप जो निजगुह्यात्मा उसको न अज्ञान करता न जानता और न अनुभवकरता जो गूढात्मा वह पुण्यबंधके कारण जिनदीक्षा दानादि शुभ आचरण और पुस्तकादि उपकरण उनको मुक्तिके कारण मानता है, और ज्ञानीजन इनको साक्षात् पुण्यबंधके कारण जानता है परंपरया मुक्तिके कारण मानता है । यद्यपि व्यवहारनयकर बाह्य सामग्रीको धर्मका साधन जानता है तौभी ऐसा मानता है कि निश्चयनयसे ये मुक्तिके कारण नहीं हैं ॥ २१५ ॥

आगे कमंडलु पीछी पुस्तकादि उपकरण और शिष्यादिका सच ये मुनियोंको मोह

अथ केनापि जिनदीक्षां गृहीत्वा शिरोमुञ्चनं कृत्वापि सर्वमंगपरित्यागमर्जितान्मानं
वंचितमिति निरूपयति;—

केनापि अप्पउ वंचियउ, सिद्धमुंचियि छारेण ।

सपल्लयि संग ण परिहरिय, जिणवरलिंगघरेण ॥ २१७ ॥

केनापि आत्मा वंचितः शिरो लुंचित्वा क्षारेण ।

सफला अपि संग न परिहृताः जिनवरलिंगघरेण ॥ २१७ ॥

केनाप्यात्मा वंचितः । किंकृत्वा । शिरोमुञ्चनं कृत्वा । केन । भगवान् । कम्मदिनिषेण् ।
यतः सर्वेपि संग न परिहृताः । कथंभूतेन भूत्वा । जिनवरलिंगघारकेणेति । तन्मया ।
धीतरागनिर्विकल्पनिजानन्दैकरूपसुखरमास्वादिपरिणतपरमात्मभावनात्प्रभावेन तीक्ष्णज्ञानोपक-
रणेन बाह्याभ्यन्तरपरिमहकांक्षारूपप्रभृतिममलमनोव्यकलोलमात्राव्यागारूपं मनोमुञ्चनं पूर्व-
मकृत्वा जिनदीक्षारूपं शिरोमुञ्चनं कृत्वापि केनाप्यात्मानं वंचयन् । कम्मन् । सर्वमंगपरि-
त्यागाभावादिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा स्वशुद्धात्मभावनोपवीतगगनमानन्दपरिमहं

मूत्रादिकी बाधा भी होती है इसलिये शीघ्रता उपकरण कर्मदण्ड और संयमोपकरण पीछी
और ज्ञानोपकरण पुस्तक इनको महज करते हैं सीधी इनमें गमना नहीं है प्रयोजनगत्र
प्रथम अवस्थामें मारते हैं । ऐसा दूसरी जगह “श्येपु” इत्यादिसे कहा है कि, मनोक
स्त्री आदिक वस्तुओंमें जिसने मोह छोड़ दिया है ऐसा महाशुनि संयमके साधन पुस्तक
पीछी कर्मदण्ड आदि उपकरणोंमें क्या मोहको कैने कर सकता है कभी नहीं करगया ।
और कोई बुद्धिमान पुरुष रोगके भयसे अजीर्णको दूर करना चाहे और अजीर्णके दूर
करनेके लिये औषधिका सेवन करे तो क्या मात्रामें अधिक ले सकता है ऐसा कभी नहीं,
मात्राप्रमाण ही लेगा ॥ २१६ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि जिसने जिनदीक्षा धारण कीशोका लोच निरा और भयव
परिमहका त्याग नहीं किया उसने अपना आत्मा ही वंचित निरा;—[केनारि]
जितनिरिने [जिनवरलिंगघरेण] जिनवरका भेष धारण करके [क्षारेण] भगवन्
[शिरः] शिरके केन [लुंचित्वा] लोच किये (उन्माहे) रेहिन [मकला अरि
संगाः] सब परिमह [न परिहृताः] नहीं छोड़े उसने [आत्मा] अपना अपना
[वंचितः] टगलिया । आधार्थ—धीतरागनिर्विकल्पनिजानन्द अर्भदस्व सुखरमा जो
आस्ताद उसरूप परिणमी जो परमात्माकी भावना रही हुआ तीक्ष्ण दृष्ट उनमें बाहरके
और अंतरके परिमहदीर्घा सांघा आदि से समस्त मनोरथ उनमें वन्देनस्वको
त्यागरूप मनवा मुञ्चन वह तो नहीं किया और जिनदीक्षारूप शिरोमुञ्चन केन
सब परिमहका त्याग नहीं किया उनने अपना आत्मा टग । देन करन समझा

कृत्वा ॥ जगत्रये कान्दत्रयेषु मनोवचनकायैः कृतकाग्नानुमनैश्च इष्टधुतानुभूतनिःपरिमह-
शुद्धात्मानुभूतिविपरीतपरिमहकांक्षां त्यजेत्तमिमांशः ॥ २१७ ॥

अथ ये सर्वमंगपरित्यागरूपं जिनलिंगं गृहीत्वापीष्टपरिमहान् गृह्णन्ति ते छर्दि कृत्वा पुन-
रपि गिलन्ति तामिति प्रतिपादयन्ति;—

जे जिणलिंगु घरेवि मुणि, इष्टपरिमह लंति ।

छर्दि करेविणु ते जि जिय, सा पुणु छर्दि गिलन्ति ॥ २१८ ॥

ये जिनलिंगं घृत्वापि मुनय इष्टपरिमहान् लंति ।

छर्दि कृत्वा ते एव जीव तां पुनः छर्दि गिलन्ति ॥ २१८ ॥

ये केचन जिनलिंगं गृहीत्वापि मुनयन्मपोधना इष्टपरिमहान् लंति गृह्णन्ति । ते किं
कुर्वन्ति । छर्दि कृत्वा त एव हे जीव तां पुनश्छर्दि गिलन्तीति । तथापि गृहस्थापेक्षया चेतन-
परिमहः पुत्रफलप्रादिः, सुवर्णादिः पुनरचेतनः, साभरणवनितादि पुनर्मिश्रः । तपोधना-
पेक्षया छात्रादिः सचित्तः पिच्छकर्मण्डलादिः पुनरचित्तः उपकरणसहितशलाघादिवस्तु मिश्रः ।
अथवा मिथ्यात्वरागादिरूपः सचित्तः द्रव्यकर्मनोकर्मरूपः पुनरचित्तः द्रव्यकर्मभावक-
र्मरूपस्तु मिश्रः । धीतरागत्रिगुणसमाधिस्यपुरुषापेक्षया सिद्धरूपः सचित्तः पुत्रलादिपञ्च-
द्रव्यरूपः पुनरचित्तः गुणस्थानमार्गणास्थानजीवस्थानादिपरिणतः संसारी जीवस्तु मिश्रश्चेति ।

निजशुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न धीतराग परम आनंदस्वरूपको अंगीकार करके तीनों-
काल तीनों लोकमें मनवचनकाय कृतकारितमनुमोदनाकर देखे सुने अनुमये जो परि-
मह उनकी बांछा सर्वथा त्यागनी चाहिये । ये परिमह शुद्धात्माकी अनुभूतिसे
विपरीत हैं ॥ २१७ ॥

जागे जो सर्व संगके त्यागरूप जिनमुद्राको ग्रहणकर फिर परिमहको धारण करता है
वह वमनकरके पीछे निगलता है ऐसा कथन करते हैं;—[ये] जो [मुनयः] मुनि
[जिनलिंगं] जिनलिंगको [घृत्वापि] ग्रहणकर [इष्टपरिमहान्] फिरभी इच्छित
परिमहोंको [लंति] ग्रहण करते हैं [जीव] हे जीव [ते एव] वे ही [छर्दि कृत्वा]
वमन करके [पुनः] फिर [तां छर्दि] उस वमनको पीछे [गिलन्ति] निगलते
हैं । भावार्थ—परिमहके तीन भेदोंमें गृहस्थकी अपेक्षा चेतन परिमह पुत्र फलप्रादि,
अचेतन परिमह आभरणादि और मिश्र परिमह आभरण सहित स्त्री पुत्रादि; साधुकी
अपेक्षा सचित्त परिमह शिष्यादि, अचित्त परिमह पीछी कर्मण्डल पुत्रकादि और मिश्र
परिमह पीछी कर्मण्डल पुत्रकादि सहित शिष्यादि अथवा साधुके भावोंकी अपेक्षा सचित्त
परिमह मिथ्यात्वरागादि, अचित्त परिमह द्रव्यकर्म नोकर्म और मिश्रपरिमह द्रव्यकर्म
भावकर्म दोनों मिले हुए । अथवा धीतराग त्रिगुणमें लीन ध्यानी पुरुषकी अपेक्षा सचित्त-

एवंविधवाद्याभ्यन्तरपरिमहरहितं जिनलिंगं गृहीत्वापि ये शुद्धात्मानुभूतिरिष्टभजननिष्ठपरिमहं गृह्णन्ति ते छर्दिताहारप्राहकपुरुषसदृशा भवन्तीति भावार्थः । तथा चोक्तं । “त्यभ्रमा स्त्रीय-
पितृमित्रकलत्रपुत्रान् सत्तोन्नयोद्भवनितादिषु निर्मुमुक्षुः । दोष्यां पयोनिधिममुद्रतनकचक्रं
प्रोत्तीर्य गोष्पदजलेषु निमग्नवान् सः” ॥ २१८ ॥

अयं ये दयातिपूजालाभनिमित्तं शुद्धात्मानं त्यजन्ति ते लोहकीलनिमित्तं देवं देवकुलं च
दहन्तीति कथयति;—

साहदं किञ्चिद्दि कारणिण, जे सिवसंगु चर्यन्ति ।

स्त्रीलालगिगचि तेवि मुनि, देउलु देउ दहन्ति ॥ २१९ ॥

लामस्य कीर्तेः कारणेन ये निवसंगं त्यजन्ति ।

कीलानिमित्तं तेवि मुनयः देवकुलं देवं दहन्ति ॥ २१९ ॥

लामकीर्तिकारणेन ये केचन निवसंगं निवसन्द्वाच्यं निजपरमात्मध्यानं त्यजन्ति ते
मुनयस्त्वपोधनाः । किं कुर्वन्ति । लोहकीलकापार्यं निःसारेन्द्रियगुणनिमित्तं देवनाम्नस्तान्
निजपरमात्मपदार्थं दहन्ति देवकुलमाह्वाच्यं दिव्यपरमादारीकजातिं च दहन्ति ।

परिमहं सिद्धपरमेष्ठीका ध्यान, जवित्त परिमहं पुत्रलादि पांच द्रव्यका विचार और
मित्रपरिमहं गुणज्ञान मार्गजास्यान जीवममासादिरूप संसारी जीवका विचार । इन साह
साहिरके और अंतरके परिमहसे रहित जो जिनलिंग उसे ग्रहण कर जो अश्लील शुद्धा-
त्माकी अनुभूतिसे विपरीत परिमहको ग्रहण करते हैं वे बचन करके बीड आहार करने-
वालोंके समान निदाके योग्य होते हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि जो जीव
अपने माता पिता पुत्र मित्र कलत्र—इनको छोड़कर परके पर और पुत्रादिकमें मोह करने
हैं अर्थात् अपना परिवार छोड़कर सिव्यगाराओंमें राग करते हैं वे भुजाभोगे समुद्रको
सैरके गायके लोहे जलमें डूबते हैं । कैसा है समुद्र, जिनमें जन्तुओंके समुद्र प्रवाह है
ऐसे अथाह समुद्रको तो बाढ़ोंसे तिर जाता है लेकिन गायके लोहेके जलमें डूबना है ।
यह बड़ा अनर्था है । परवा ही संबंध छोड़दिया तो पराये पुत्रोंके क्या राग करना ?
नहीं करना ॥ २१८ ॥

आगे जो अपनी प्रतिदि (बड़ाई) प्रतिष्ठा और पर धरतुका लाम इन लोहकीलके
आत्मध्यानको छोड़ते हैं वे लोहके बीतेकलिये देव तथा देवालयको जलते हैं,—[दे]
जो कोई [लामस्य] लाम [कीर्तेः कारणेन] और कीर्तिके कारण [सिवसंगं]
परमात्माके ध्यानको [त्यजन्ति] छोड़ देते हैं [ते अपि मुनयः] वे ही मुनि [कीला-
निमित्तं] लोहके बीतेकलिये अर्थात् लोहके कारण अथवा लोहके निमित्त
[देवकुलं] मुनिवद योग्य शरीरवासी देवस्थानको तथा [देवं] आन्देवके [दहन्ति]

देहभेदेन भेदो नास्ति तर्हि यथा केचन बर्दत्येक एव जीवस्तन्मत्वमायातं । भगवानाह ।
हृत्संघटनयेन सेनावनारिबन्नात्प्रपेक्षया भेदो नास्ति व्यवहारनयेन पुनर्व्यक्तपेक्षया यने
भिन्नभिन्नरूपयन् सेनायां भिन्नभिन्नदृष्ट्यन्नादिबद्धेदोऽस्तीति भावार्थः ॥ २२२ ॥

अथ त्रिभुवनस्थजीवानां मूढा भेदं कुर्वन्ति शानिनस्तु भिन्नभिन्नमुवर्णानां षोडशवर्णि-
केष्ववस्थानेष्वल्लक्षणान्तरभ्रणेनैकान्यं जानन्तीनि दर्शयति;—

जीवहं तिहुयण संठियहं, मूढा भेउ करंति ।

केवलणाणि पाणि फुडु, सयलुयि एकु मुणंति ॥ २२३ ॥

जीवानां त्रिभुवनसंस्थितानां मूढा भेदं कुर्वन्ति ।

केवलज्ञानेन शानिनः स्फुटं सकलमपि एकं मन्यन्ते ॥ २२३ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं तिहुयण संठियहं श्वेतकृष्णरक्षादिभिन्नभिन्नवर्णवैवेष्टितानां
षोडशवर्णिजानां भिन्नभिन्नमुवर्णानां यथा व्यवहारेण व्यववेष्टनभेदेन भेदः तथा त्रिभुवन-
संस्थितानां जीवानां व्यवहारेण भेदं दृष्ट्वा निम्नवनयेनापि मूढा भेउ करंति मूढात्मानो
भेदं कुर्वन्ति । केवलणाणि वीतरागसदानन्दैकमुराविनाभूतकेवलज्ञानेन पाणि वीतराग-
व्यसंभेदेनशानिनः फुडु स्फुटं निश्चितं सयलुयि समस्तमपि जीवराशिं हकु मुणंति संप्रहृतयेन
समुदायं प्रत्येकं मन्यन्त इति अभिप्रायः ॥ २२३ ॥

प्रकार जातिकी अपेक्षासे जीवोंमें भेद नहीं है सब एक जाति हैं और व्यवहारनयसे
व्यक्तिकी अपेक्षा भिन्न भिन्न है अनन्त जीव हैं एक नहीं है । जैसे यन एक कहा जाता
है और वृक्ष जुदे २ हैं उसी तरह जातिसे जीवोंमें एकता है लेकिन द्रव्य जुदे २ हैं
तथा जैसे सेना एक है परंतु हाथी घोड़े रथ सुभट अनेक हैं उसी तरह जीवोंमें
जानना ॥ २२२ ॥

आगे तीन लोकमें रहनेवाले जीवोंका अज्ञानी भेद करते हैं सबको समान नहीं
जानते और ज्ञानीजन केवलज्ञानलक्षणसे सबको समान जानते हैं । जीवपनेसे कोई कम
बड़ नहीं है कर्मके उदयसे शरीर भेद है परंतु द्रव्यकर सब समान हैं । जैसे सोनेमें
धानभेद है वैसे ही परके संयोगसे भेद मायम होता है तौथी सुवर्णपनेसे राय समान हैं
ऐसा दिखाता है;—[त्रिभुवनसंस्थितानां] तीन भुवनमें रहनेवाले [जीवानां]
जीवोंका [मूढाः] मूर्ख ही [भेद] भेद [कुर्वन्ति] करते हैं और [शानिनः] शानी
जीव [केवलज्ञानेन] केवलज्ञानसे [स्फुटं] मगट [सकलमपि] सब जीवोंको [एकं
मन्यन्ते] समान जानते हैं । भावार्थ—व्यवहारनयकर सोलह्वानके सुवर्ण भिन्न २
वस्त्रमें लपेटें सो बस्त्रके भेदसे भेद है परंतु सुवर्णपनेसे भेद नहीं है, उसी प्रकार तीन
लोकमें तिष्ठे हुए जीवोंका व्यवहारनयसे शरीरके भेदसे भेद है परंतु जीवपनेसे भेद नहीं

बाहेल परिणता न चाकाशम्यचंद्रमाः । अत्र दृष्टान्तमाह । यथा देवदत्तमुग्धोपाधिवशेन नानादर्पणानां पुटत्या एव नानामुग्धाकारेण परिणमन्ति न च देवदत्तगुरं नानारूपेण परिणमन्ति । यदि परिणमन्ति तदा दर्पणसं मुग्धप्रतिबिम्बं चेतनत्वं प्राप्नोति न च तथा, तथैकचंद्रमा अपि नानारूपेण न परिणमतीति । किं च न चैको मल्लनामा कोपि दृश्यते प्रत्यक्षेण यथैकपद्मानारूपेण भविष्यति इत्यभिप्रायः ॥ २२६ ॥

अथ सर्वजीवविषये समदर्शित्वं मुक्तिकारणमिति प्रकटयति;—

— रायदोसवे परिहरेवि, जे सम जीव णियंति ।

ते समभावि परिट्टिया, लहु णिव्याणु लहंति ॥ २२७ ॥

रागद्वेषी परिहृत्य ये समा जीवा निर्गच्छन्ति ।

ते समभावे प्रतिष्ठिताः लघु निर्वाणं लभन्ते ॥ २२७ ॥

राय इत्यादि पदसंज्ञानारूपेण व्याप्यानं क्रियते । रायदोसवे परिहरेवि भीतराग-निजानंदैकस्वरूपस्वशुद्धारमद्रूप्यभावनाविलम्बणी रागद्वेषी परिहृत्य जे ये केषन सम जीव

पटजानिफी अपेक्षा सब पटोंका एकपना है परंतु सब जुदे २ हैं और पुरुषजातिकर सबकी एकता है परंतु सब अलग २ हैं । उसी प्रकार जीवजातिकी अपेक्षासे सब जीवोंका एकपना है तौभी प्रदेशोंके भेदसे सब ही जीव जुदे जुदे हैं । इहां पर कोई परमात्मी प्रश्न करता है कि जैसे एक ही चंद्रमा जलके भरे बहुत पड़ोंमें जुदा जुदा भासता है उसीप्रकार एक ही जीव बहुत दूरियोंमें भिन्न २ भाग रहा है । उसका श्रीगुरु समाधान करते हैं—जो बहुत जलके पड़ोंमें चंद्रमाकी किरणोंकी उपाधिसे जलजातिके पुद्गल ही चंद्रमाके आकार परिणत होगये हैं लेकिन आकाशमें स्थित चंद्रमा तो एक ही है कुछ चंद्रमा तो बहुत स्वरूप नहीं होगया । उसका दृष्टान्त कहते हैं । जैसे कोई देवदत्तनामा पुरुष उसके मुक्तकी उपाधि (निमित्त) से अनेक प्रकारके दर्पणोंसे शोभायमान जो काचका मटल उसमें धे काचरूप पुद्गल ही अनेकमुखके आकार परिणत हुए हैं कुछ देवदत्तका मुख अनेकरूप नहीं परिणत हुआ है, मुख एक ही है । जो कदाचित् देवदत्तका मुख अनेकरूप परिणमन करे तो दर्पणमें तिष्ठते हुए मुखोंके प्रतिबिम्ब चेतन हो जायें । परंतु चेतन नहीं होते, जड़ ही रहते हैं । उसीप्रकार एक चंद्रमा भी अनेकरूप नहीं परिणमता । ये जलरूप पुद्गल ही चंद्रमाके आकार परिणत हो जाते हैं । इसलिये ऐसा निश्चय समझना कि जो कोई ऐसे कहते हैं कि एक ही प्रभू नानारूप दीखता है । यह कहना ठीक नहीं है । जीव जुदे २ हैं ॥ २२६ ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि सब ही जीव द्रव्यसे तो जुदे २ हैं परंतु जातिसे एक हैं और गुणोंकर समान है ऐसी धारणा करना मुक्तिका कारण है;—[ये] जो [रागद्वेषी]

णियंति सर्वसाधारणकेवलज्ञानदर्शनलक्षणैः समाना महताः जीवा निर्गच्छन्ति जानन्ति ते पुरुषाः । कथंभूताः । समभावे परिद्विधा जीविनमरणशामान्यभगुनादुःसादिमन्ताभावनारूपे समभावे प्रतिष्ठिताः मनः लघु णिव्याशु लहन्ति लघु शीघ्रं जानन्ति कथंभावे फाचित्याद्भुतकेवलज्ञानादिगुणास्पदं निर्माणं लभन्ति इति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञाना रागद्वेषत्वत्तया च शुद्धात्मानुभूतिरूपा समभावना कर्तव्येनभिप्रायः ॥ २२७ ॥

अथ सर्वजीवसाधारणं केवलज्ञानदर्शनलक्षणं प्रकाशयति;—

जीवहं दंसणु णाणु जिय, लक्खणु जाणइ जो जि ।

देहविभेदं भेदं तहं, णाणि किं मण्णइ सो जि ॥ २२८ ॥

जीवानां दर्शनं ज्ञानं जीव लक्षणं जानाति य एव ।

देहविभेदेन भेदं तेषां ज्ञानी किं मन्यते समेव ॥ २२८ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां दंसणु णाणु जगत्प्रयकालप्रयवर्तिसमस्तद्रव्यगुणपर्यायानां क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन परिदित्तिसमर्थ विशुद्धदर्शनं ज्ञानं च । जिय ॥ जीव लक्खणु जाणइ जो जि लक्षणं जानाति य एव देह विभेदं भेदं तहं देहविभेदेन भेदं तेषां जीवानां, देहोद्भवविषयसुखरसास्वादविलक्षणशुद्धात्मभावनारहितेन जीवेन यानुपा-

राग और द्वेषको [परिहृत्य] दूर करके [जीवाः समाः] सब जीवोंको समान [निर्गच्छन्ति] जानते हैं [ते] ये साधु [समभावे] समभावमें [प्रतिष्ठिताः] विराजमान [लघु] शीघ्र ही [निर्वाण] मोक्षको [लभन्ते] पाते हैं । भावार्थ—वीतराग निजान्दस्वरूप जो निज आत्मद्रव्य उसकी भावनासे विमुक्त जो राग द्वेष उनको छोड़कर जो महान् पुरुष केवलज्ञान दर्शन लक्षणकर सब ही जीवोंको समान गिनते हैं वे पुरुष समभावमें स्थित शीघ्र ही शिवपुरको पाते हैं । समभावका लक्षण ऐसा है कि जीविन मरण लाभ-भलाभ सुख दुःसादि सबको समान जानें । जो अनंत सिद्ध हुए और होवेंगे यह सब समभाव का प्रभाव है । समभावसे मोक्ष मिलती है । कैसा है यह मोक्षस्थान जो अत्यंत अद्भुत अचिंत्य केवलज्ञानादि अनंत गुणोंका स्थान है । यहां यह व्याख्यान जातकर राग द्वेषको छोड़के शुद्धात्माके अनुभवरूप जो समभाव वे सदा करने चाहिये । यही इस ग्रंथका अभिप्राय है ॥ २२७ ॥

आगे हुए जीवोंमें केवलज्ञान और केवल दर्शन साधारण लक्षण हैं इनके बिना कोई जीव नहीं है । ये गुण शक्तिरूप सब जीवोंमें पाये जाते हैं ऐसा कहते हैं;—[जीवानां] जीवोंके [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन और ज्ञान [लक्षणं] निज लक्षणको [य एव] जो कोई [जानाति] जानना है [हे जीव] हे जीव [स एव ज्ञानी] वही ज्ञानी [देहविभेदेन] देहके भेदसे [तेषां भेदं] उन जीवोंके भेदको [किं मन्यते] क्या मान

जिनानि कर्माणि तदुदयेनोत्पन्नेन देहभेदेन जीवानां भेदं णाणि किमण्डइ धीतरागस्वमंवे-
दनतानी किं मन्यते । नैव । कं । सो जि समेव पूर्वोक्तं देहभेदमिति । अत्र ये केचन
ब्रह्मादिवैवादिनो नागाजीवान् मन्यन्ते तन्मतेन विवक्षितैकजीवस्य जीवितमरणमुखदुः-
खारिके जाते सर्वजीवानां सम्मिश्रेण क्षणे जीवितमरणमुखदुःखारिकं प्राप्नोति । कस्मारिणि
येन् । एकजीवत्वादिति । न च तथा दृश्यते इति भावार्थः ॥ २२८ ॥

अथ जीवानां निश्चयनयेन योसौ देहभेदेन भेदं करोति स जीवानां दर्शनज्ञानचारित्र-
लक्षणं न जानातीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं कथयति;—

देहविभेदं जो फुणइ, जीवहं भेउ विणिचु ।

सो णचि लक्खणु सुणइ तहं, दंसणु णाणु चरित्तु ॥ २२९ ॥

देहविभेदेन यः करोति जीवानां भेदं विचित्रं ।

स नैव लक्षणं मनुते तेषां दर्शनं ज्ञानं चारित्र्यं ॥ २२९ ॥

देह इत्यादि । देह विभेदं देहममत्वमूलभूतानां रचातिपूजादात्मस्वरूपादीनां अपध्या-
नानां विपरीतस्य स्वगुहासध्यानस्याभावे यानि कृतानि कर्माणि तदुदयजनितेन देहभेदेन

सकता है नहीं मानसकता । भावार्थ—तीनलोक गौर तीन काल धरती समस्त द्रव्य
गुण पर्यायोंको एक ही समयमें जानने समर्थ जो केवल दर्शन केवल ज्ञान हैं इन निज
लक्षणोंको जो कोई जानता है वही सिद्ध पद पाता है । जो ज्ञानी अच्छीतरह इन निज
लक्षणोंको जान लेवे वह देहके भेदसे जीवोंका भेद नहीं मानसकता । अर्थात् देहसे
उत्पन्न जो विषयमुख उनके रसके आस्वादसे विमुख शुद्धारवासी भावनासे रहित जो
जीव उसने उपाज्जन किये जो ज्ञानावरणादि कर्म उनके उदयसे उत्पन्न हुए देहादिकके
भेदसे जीवोंका भेद धीतरागस्वसंवेदन ज्ञानी कदापि नहीं मानसकता । देहमें भेद हुआ
तो क्या, गुणसे सब समान हैं और जीव जातिकर एक हैं । यहां पर जो कोई ब्रह्मा-
द्वैतवादी धेदाती नाना जीवोंको नहीं मानते हैं, एक ही जीव मानते हैं, ऐसी बात
अप्रमाण है । उनके मतमें एक ही जीवके माननेसे बड़ा भारी दोष होता है ।
वह इस तरह है कि एक जीवके जीने मरने सुख दुःखादिके होनेपर सब जीवोंके उसी
समय जीवना मरना सुख दुःखादि होने चाहिये, क्योंकि उनके मतमें यन्तु एक है ।
परंतु ऐसा देखनेमें नहीं आता । इसलिये उनका यन्तु एक मानना बुरा है ऐसा
जानो ॥ २२८ ॥

आगे जीवहीको जानते हैं परंतु उसके लक्षण नहीं जानते वह अभिप्राय मनमें
रखकर व्याख्यान करते हैं;—[यः] जो [देहविभेदेन] शरीरोंके भेदसे [जीवानां]

जो कुण्ड यः करोति । कं । जीवहं भेद विचिन्तु जीवानां भेदं विचित्रं नरनारकादि-
देहरूपं सो णवि लक्षणेण मुण्डं तहं स नैव लक्षणं मनुते तेषां जीवानां । किं लक्षणं ।
दंसण णाणु चरित्तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यमिति । अत्र निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य-
लक्षणानां जीवानां ब्राह्मणश्चत्रियवैश्यचाण्डालादिदेहभेदं दृष्ट्वा रागद्वेषी न कर्तव्याविति
तात्पर्यं ॥ २२९ ॥

अथ शरीराणि वादरसूक्ष्माणि विधिवशेन भवंति न च जीवा इति दर्शयति;—

अंगहं सुक्षुमहं वादरहं, विहिंससिं ह्रंति जि वाल ।

जिय पुणु सयलुवि तित्तडा, सच्चत्थवि सयकाल ॥ २३० ॥

अंगानि सूक्ष्माणि वादराणि विधिवशेन भवंति ये बालाः ।

जीवाः पुनः सकला अपि तावन्तः सर्वत्रापि सर्वकाले ॥ २३० ॥

अंगहं इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । अंगहं सुक्षुमहं वादरहं अंगानि
सूक्ष्मवादराणि जीवानां विहिंससिं ह्रंति विधिवशाद्भवन्ति अंगोद्भवपंचत्रियविषयकांक्षा-
मूलभूतानि दृष्टव्यतानुभूतभोगवांछारूपनिदानबंधादीनि यान्यपभ्यानानि तद्विलक्षणा वासी

जीवोंका [विचित्रं] नानारूप [भेदं] भेद [करोति] करता है [सः] वह [तेषां]
उन जीवोंका [दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्र [लक्षणं] लक्षण [नैव
मनुते] नहीं जानता अर्थात् उसको गुणोंकी परीक्षा (पहचान) नहीं है । भावार्थ—
देहके ममत्वके मूल कारण क्याति (अपनी यड़ाई) पूजा और लाभरूप जो आर्तरीत्र-
स्वरूप छोटे ध्यान उनसे रहित निज शुद्धात्माका ध्यान उसके अभावसे इस जीवने
उपार्जन क्रिये जो शुभ अशुभ कर्म उनके उदयसे उत्पन्न जो शरीर है उसके भेदसे
भेद मानता है उसको दर्शनादि गुणोंकी गम्य नहीं है । यद्यपि पापके उदयसे नरक
योनि, पुण्यके उदयसे देवोंका शरीर और शुभाशुभ मिश्रसे नर देह तथा मायाचारसे
पशुका शरीर मिलता है अर्थात् इन शरीरोंके भेदसे जीवोंकी अनेक चेष्टायें देखी जाती
हैं परंतु दर्शन ज्ञान लक्षणसे सब सुस्पष्ट है । उपयोग लक्षणके बिना कोई जीव नहीं है ।
इसलिये ज्ञातीजन्म सबको समान जानते हैं । निश्चयनयमे दर्शन ज्ञान चारित्र जीवोंके
लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण क्षत्री वैश्य शूद्र चाण्डालादि देहके भेद देखकर रागद्वेष
नहीं करना चाहिये । सब जीवोंमें मैत्री भाव करना यही तात्पर्य है ॥ २२९ ॥

आगे सूक्ष्म वादर शरीर जीवोंके कर्मके संबंधमें दोते हैं सो सूक्ष्म वादर म्मात्र
जंगम ये सब शरीरोंके भेद हैं जीव तो चिद्रूप है सब भेदोंमें रहने ? ऐसा दिखाने
है,—[सूक्ष्माणि] सूक्ष्म [वादराणि] और वादर [अंगानि] शरीर [ये] तथा
जी [बालाः] बाल बृद्ध नरणादि अन्याये [विधिवशेन] कर्मांश [भवंति] होती हैं

रश्मिदात्मभावना सद्ब्रह्मत्वेन जीवेन यदुपार्जितं विधिसंशं कर्म तद्वशेन भवंत्येव । न केवल-
मेगानि भवंति जे पाल ये बालवृद्धादिपर्यायाः तेषु विधिवशेनैव । अथवा संशोधनं हे
पाल हे अमान जिय पुणु सयलवि तित्ठहा जीवाः पुनः सर्वेपि सत् प्रमाणा द्रव्यप्रमाणं
प्रत्यनंताः, क्षेत्रापेक्षयापि पुनरैकैकोपि जीवो यद्यपि व्यवहारेण स्वदेहमात्रमथापि निश्चयेन
लोकाकाशप्रमितामेवम्येयप्रदेशप्रमाणः । क । सत्त्वस्थवि सर्वत्र लोके । न केवलं लोके
सर्वकाल सर्वत्र कालत्रये तु । अत्र जीवानां पादरसूक्ष्मादिकं व्यवहारेण कर्मकृतभेदं
हृद्वा विमुक्तदर्शनज्ञानरक्षणपेक्षया निश्चयनयेन भेदो न कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ २३० ॥

अथ जीवानां शत्रुमित्रादिभेदं यः न करोति स निश्चयनयेन जीवलक्षणं जानातीति
प्रतिपादयति;—

सत्त्ववि मित्तुवि अप्पु पक्क, जीव असेसुवि पइ ।

एक्क करेयिणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥ २३१ ॥

शत्रुरपि मित्रमपि आत्मा परः जीवा अशेषा अपि एते ।

एकत्वं कृत्वा यो मनुते स आत्मानं जानाति ॥ २३१ ॥

सत्त्ववि इत्यादि । सत्त्ववि शत्रुरपि मित्तुवि मित्रमपि जीव असेसुवि जीवा अशेषा

[पुनः] और [जीवाः] जीव तो [सकला अपि] सभी [सर्वत्र] सब जगह
[सर्वकाले अपि] और सब कालमें [तापंतः] उतने प्रमाण ही अर्थात् असंख्यात
प्रदेशी ही हैं । भावार्थ—जीवोंके शरीर व बालवृद्धादि अवस्थायें कर्मोंके उदयसे
होती हैं । अर्थात् भंगसे उत्पन्न हुए जो पंचेन्द्रियोंके विषय उनकी बांछा जिनका मूल
कारण है ऐसे देसे मुने भोगे हुए भोगोंकी बांछारूप निदान बंधादि छोटे ध्यान उनसे
विमुख जो शुद्धात्माकी भावना उससे रहित इस जीवने उपार्जन किये शुभाशुभ कर्मोंके
योगसे ये चतुर्गतिके शरीर होते हैं और बालवृद्धादि अवस्थायें होती हैं । ये अवस्थायें
कर्मजनित हैं जीवकी नहीं हैं । हे अजानी जीव यह बात तू निःसंदेह जान । ये सभी
जीव द्रव्यप्रमाणसे धर्मत है, क्षेत्रकी अपेक्षा एक एक जीव यद्यपि व्यवहारनयकर अपने
मिले हुए देहके प्रमाण है तौभी निश्चयनय कर लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है ।
सब लोकमें सब कालमें जीवोंका यही स्वरूप जानना । पादर सूक्ष्मादि भेद कर्म जनित
होना समझकर (देखकर) जीवोंमें भेद मत जानो । विमुक्त ज्ञान दर्शनकी अपेक्षा सब
ही जीव समान है कोई भी जीव दर्शन ज्ञान रहित नहीं है ऐसा जानना ॥ २३० ॥

आगे जो जीवोंके शत्रु मित्रादि भेद नहीं करता है वह निश्चयकर जीवका लक्षण
जानता है ऐसा कहते हैं;—[एवं अशेषा अपि] ये सभी [जीवाः] जीव हैं उनमेंसे
[शत्रुरपि] कोई एक किसीका शत्रु भी है [मित्रं अपि] मित्र भी है [आत्मा]

अथ एह एते प्रत्यक्षीभूताः एकं करेविणु जो मुण्ड एहं कृत्वा यो मनुते शत्रुनिग्र-
जीवितमरणत्याभात्यामादिममताभावनास्वरूपनिगमपरममायायिकं कृत्वा योमा जीरानां
शुद्धमंभनयेनैकत्वं मन्यते सो अप्या जाणेह म वीनगगमह्जानंदैक्यभावं शत्रुनिग्रदि-
विकल्पकमोलमात्तारहितमान्मानं जानातीनि भावार्थः ॥ २३१ ॥

अथ योसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य ममभावो नाम्नीत्यादिदयतिः—

॥ जो ण पि मणह जीव जिय, सयलवि एकसहाय ।

तासु ण थकइ भाउ समु, भवमायरि जो णाय ॥ २३२ ॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकसमायान् ।

तस्य न तिष्ठति भावः समः भवमागरे यः नीः ॥ २३२ ॥

जो णवि इत्यादि । जो णवि मणह यो नैव मन्यते । कान् । जीव जीवान् जिय हे
जीव कतिसंख्योपेतान् । सयलवि ममन्तानपि । कर्मभूतान्न मन्यते । एकसहाय वीतराग-
निर्विकल्पसमाधी स्थित्वा सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणैर्निश्चयेनैकत्वभावात् तामु ण थकइ
भाउ समु तस्य न तिष्ठति ममभावः । कर्मभूतः । भवमायरि जो णाय ममारममुते यो

अपना है और [परः] दूसरा है । ऐसा व्यवहारमें जानकर [यः] जो ज्ञानी [एकत्वं
कृत्वा] निश्चयसे एकपना करके अर्थात् सबमें समदृष्टि रखकर [मनुते] समान
मानता है [सः] वही [आत्मानं] आत्माके स्वरूपको [जानाति] जानता है ।
भावार्थ—इन संसारी जीवोंमें शत्रु आदि अनेक भेद दीखते हैं परंतु जो ज्ञानी सबको
एक दृष्टिसे देखता है समान जानता है । शत्रु मित्र जीवित मरण लाभ अलंभ आदि
सबोंमें समभावरूप जो वीतराग परमसामाधिक चारित्र्य उनके प्रभावसे जो जीवोंको
शुद्ध समझ नयकर एक जानता है सबको समान मानता है वही अपने निज स्वरूपको
जानता है । जो निजस्वरूप, वीतराग सहजानंद एक स्वभाव तथा शत्रु मित्र आदि
विकल्प जालसे रहित है । ऐसे निजस्वरूपको समता भावके बिना नहीं जान सकता ॥ २३१ ॥

आगे जो सब जीवोंको समान नहीं मानता उनके समभाव नहीं होसकते ऐसा
कहते हैं;—[जीव] हे जीव [यः] जो [सकलानपि] सभी [जीवान्] जीवोंको
[एकसमायान्] एक स्वभाववाले [नैव मन्यते] नहीं जानता [तस्य] उस अज्ञानीके
[समः भावः] समभाव [न तिष्ठति] नहीं रहना [यः] जो समभाव [भवमागरे]
ससार समुद्रके तीरेको [नीः] नावके समान है । भावार्थ—जो अज्ञानी सब जीवोंको
समान नहीं मानता अर्थात् वीतरागनिर्विकल्पसमाधिमें स्थित होकर सबको समान दृष्टिसे
नहीं देखता । सकल ज्ञायक परमनिर्मलकेवल ज्ञानादि गुणोंकर निश्चयनयमें सब जीव

भावसारणोपायभूता नौरिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागद्वेषमोहान् मुपगम्य परमो-
परमभावरूपे शुद्धान्मनि स्थानव्यमित्यभिप्रायः ॥ २३२ ॥

अयं जीवानां योमौ भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति;—

जीवहं भेदं जि कम्मकिउ, कम्मवि जीउ ण होइ ।

जेण विभिण्णउ होइ तहं, कात्तु लहेविणु कोइ ॥ २३३ ॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्मैव जीवो न भवति ।

येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥ २३३ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां भेदं जि भेद एव कम्मकिउ निर्भेदशुद्धान्वित-
क्षणो कर्मणा कृतः कम्मवि जीउ ण होइ ज्ञानावरणादि कर्मैव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं
जीवस्वरूपं न भवति । कम्मात्तु भवतीति चेत् । जेण विभिण्णउ होइ तहं येन कारणेन
विभिन्नो भवति तेभ्यः कर्मभ्यः । किं कृत्वा । कात्तु लहेविणु कोइ पीतरागपरमात्मानुभू-
तिसहकारिकारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति । अयमत्र भावार्थः । दंकोत्कीर्णसायकैकशु-
द्धजीवस्वभावाद्द्विलक्षणं मनोज्ञानमनोसखीपुरुषादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपभ्यानं न कर्त-
व्यमिति ॥ २३३ ॥

एकसे हैं ऐसी जिसके भेदा नहीं हैं उसके समभाव नहीं उत्पन्न होसकता । ऐसा
निस्संदेह जानो । कैसा है समभाव, जो संसार समुद्रसे तारनेकेलिये जहाज समान
है । यहां ऐसा व्याख्यान जानकर राग द्वेष मोहको तजकर परमज्ञात भावरूप शुद्धान्-
मामें लीन होना योग्य है ॥ २३२ ॥

आगे जीवोंमें जो भेद है वह सब कर्मजनित है ऐसा प्रगट करते हैं।—[जीवानां]
जीवोंमें [भेदः] नर नारकादि भेद [कर्मकृत एव] कर्मोंसे ही किया गया है और
[कर्म एव] कर्म ही [जीवः] जीव [न भवति] नहीं होसकता । [येन] क्योंकि
वह जीव [कमपि] किसी [कालं] समयको [लब्ध्वा] पाकर [तेभ्यः] उन
कर्मोंसे [विभिन्नः] जुदा [भवति] होजाता है । भावार्थ—कर्म शुद्धात्मासे जुदे
हैं, शुद्धात्मा भेदकल्पनासे रहित है । ये शुभाशुभकर्म जीवका स्वरूप नहीं हैं जीवका
स्वरूप तो निर्मल ज्ञान दर्शन समाव है । अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको मूढ
रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोगसे कर्मको बांधता है । सो कर्मका बंध अनादि-
कालका है । इस कर्मबंधसे कोई एक जीव पीतराग परमात्माकी अनुभूतिके सहकारी
कारणरूप जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका समय उसको पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है ।
कर्मोंसे छूटनेका यही उपाय है जो जीवके भवसिति समीप (बोड़ी) रही हो जमी
सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और सम्यक्त्व उत्पन्न होजावे सभी कर्मकर्मकसे छूट सकना है ।

अपि एह एते प्रत्यक्षीभूताः एकु करेविणु जो मुणइ एकत्वं कृत्वा यो मनुते शत्रुमित्र-
जीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनारूपवीतरागपरमसामायिकं कृत्वा योसौ जीवान्
शुद्धसंप्रहृदनयेनैकत्वं मन्यते सो अप्पा जाणेइ म वीतरागसहजानंदैकस्वभावं शत्रुमित्रादि-
विकल्पकहोदमालारहितमात्मानं जानातीति भावार्थः ॥ २३१ ॥

अथ योसौ सर्वजीवान् समानान्न मन्यते तस्य समभावो नाम्नीत्यावेदयति;—

११ जो ण चि मण्णइ जीव जिय, सयलवि एकसहाय ।

तासु ण थक्कइ भाउ समु, भवसापरि जो णाय ॥ २३२ ॥

यो नैव मन्यते जीवान् जीव सकलानपि एकस्वभावान् ।

तस्य न तिष्ठति भावः समः भवसागरे यः नौः ॥ २३२ ॥

जो णचि इत्यादि । जो णचि मण्णइ यो नैव मन्यते । कान् । जीव जीवान् जिय हे
जीव कविसंयोगेत्तान् । सयलवि समन्तानपि । कथंभूतान्न मन्यते । एकसहाय वीतराग-
निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा सकलपिमलक्रेवलशानादिगुणैर्निश्चयेनैकस्वभावान् तासु ण थक्क
भाउ समु तस्य न तिष्ठति समभावः । कथंभूतः । भवसापरि जो णाय संसारममुते यो

मपना दे और [परः] दूसरा दे । ऐसा व्यवहारमें जानकर [यः] जो जाना [एकस्य
कृत्वा] निश्चयसे एकपना करके अर्थात् सबमें समदृष्टि रखकर [मनुते] समान
मानता है [सः] वही [आत्मानं] आत्माके स्वरूपको [जानाति] जानता है ।
भावार्थ—इन संसारी जीवोंमें शत्रु आदि अनेक भेद दीखते हैं परंतु जो शानी सबको
एक दृष्टिमें देखता है समान जानता है । शत्रु मित्र जीविन मरण लाभ अश्रम आदि
सबोंमें समभावरूप जो वीतराग परमसामायिक चारित्र्य उसके प्रभारमें जो जीवोंको
शुद्ध संप्रहृद नयकर एक जानता है सबको समान मानता है वही अपने निज स्वरूपको
जानता है । जो निजस्वरूप, वीतराग सहजानंद एक स्वभाव तथा शत्रु मित्र आदि
विकल्प जायमे रहित है ऐसे निजस्वरूपको अपनी भावके बिना नहीं जान सकता ॥ २३१ ॥

अग्रे जो सब जीवोंको समान नहीं मानता उसके समभाव नहीं होसकने ऐसा
कहते हैं;—[जीव] हे जीव [यः] जो [सकलानपि] सभी [जीवान्] जीवोंको
[एकस्वभावान्] एक भावरूपके [नैव मन्यते] नहीं जानता [मम] इस मत्ताकी
[समः भावः] समान [न तिष्ठति] नहीं रहता [यः] जो समान [भवसागरे]
संसार समुद्रके में रहता [नौः] न बह सकता है । भावार्थ न जानने सब जीवोंको

नावसारणोपायमूला नौरिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा रागाद्वेषमोहान् मुक्त्वा च परमो-
परमभावरूपे शुद्धात्मनि स्थानव्यमित्यभिप्रायः ॥ २३२ ॥

अयं जीवानां भेदः स कर्मकृत इति प्रकाशयति;—

जीवहं भेद जि कम्मकिउ, कम्मवि जीउ ण होइ ।

जेण विभिण्णउ होइ तहं, फालु लहेविणु कोइ ॥ २३३ ॥

जीवानां भेद एव कर्मकृतः कर्मैव जीवो न भवति ।

येन विभिन्नः भवति तेभ्यः कालं लब्ध्वा कमपि ॥ २३३ ॥

जीवहं इत्यादि । जीवहं जीवानां भेद जि भेद एव कम्मकिउ निर्भेदशुद्धात्मविल-
क्षणोक्तं कर्मणा कृतः कम्मवि जीउ ण होइ ज्ञानावरणारि कर्मैव विमुक्तज्ञानदर्शनस्वभावं
जीवस्वरूपं न भवति । कम्म्यान्न भवतीति चेत् । जेण विभिण्णउ होइ तहं येन कारणेन
विभिन्नो भवति तेभ्यः कर्मभ्यः । किंरुत्वा । फालु लहेविणु कोइ धीतरागपरमात्मानुभू-
तिसहकारिकारणभूतं कमपि कालं लब्ध्वेति । अयमत्र भावार्थः । टंकोत्कीर्णक्षायनैकशु-
द्धजीवस्यभावाद्विलक्षणं मनोक्षामनोसस्त्रीपुरुषादिजीवभेदं दृष्ट्वा रागाद्यपभयानं न कर्त-
व्यमिति ॥ २३३ ॥

एकसे हैं ऐसी जिसके अन्तः नहीं है उसके समभाव नहीं उत्पन्न होसकता । ऐसा
निस्संदेह जानो । कैसा है समभाव, जो संसार समुद्रसे तारनेकेलिये जहाज समान
है । यहां ऐसा व्याख्यान जानकर राग द्वेष मोहको तजकर परमात्मात् भावरूप शुद्धा-
त्मानें छीन होना योग्य है ॥ २३२ ॥

आगे जीवोंमें जो भेद है वह सब कर्मजनित है ऐसा प्रगट करते हैं;—[जीवानां]
जीवोंमें [भेदः] नर नारकादि भेद [कर्मकृत एव] कर्मोंसे ही किया गया है और
[कर्म एव] कर्म ही [जीवः] जीव [न भवति] नहीं होसकता । [येन] क्योंकि
यह जीव [कमपि] किसी [कालं] समयको [लब्ध्वा] पाकर [तेभ्यः] उन
कर्मोंसे [विभिन्नः] जुदा [भवति] होजाता है । भावार्थ—कर्म शुद्धात्मासे जुदे
है, शुद्धात्मा भेदकल्पनासे रहित है । ये शुभाशुभकर्म जीवका स्वरूप नहीं हैं जीवका
स्वरूप तो निर्मल ज्ञान दर्शन सभाव है । अनादिकालसे यह जीव अपने स्वरूपको भूज
रहा है, इसलिये रागादि अशुद्धोपयोगसे कर्मको बांधता है । सो कर्मका बंध अनादि-
कालका है । इस कर्मबंधसे कोई एक जीव धीतराग परमात्माकी अनुभूतिके सहकारी
कारणरूप जो सम्यक्सत्त्वकी उत्पत्तिका समय उसको पाकर उन कर्मोंसे जुदा हो जाता है ।
कर्मोंसे छूटनेका यही उपाय है जो जीवके भवन्निति समीप (मोड़ी) रही हो अभी
सम्यक्सत्त्व उत्पन्न होता है और सम्यक्सत्त्व उत्पन्न होजावे सभी कर्मकलंकसे छूट सकता है ।

इत्युच्यते । व्यवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणतपुरुषः सोऽपि कथंचिद्, निश्चो
नास्तीति ॥ २३६ ॥

अथ तदेव परसंसर्गदूषणं दृष्टान्तेन समर्थयति;—

॥ भद्वाहं वि णासंति गुण, जहं संसग्गु सलेहिं ।

यइसाणरु लोहहं मिलिउ, तें पिट्ठियइ घणेहिं ॥ २३७ ॥

भद्रानामपि नश्यन्ति गुणाः येषां संसर्गः सतीः ।

वैधानरो लोहेन मिलितः तेन पित्र्यते घनैः ॥ २३७ ॥

मद्वाहिं ति इत्यादि । भद्वाहंवि भद्रानामपि स्वस्थमात्महितानामपि णासंति गुण
मासंति परमात्मोक्तवर्णितभजगुणाः । येषां किं । जहं संसग्गु येषां संसर्गः । कैः मद् ।
मनेहिं परमात्मवशात्प्रतिपन्नभूतैर्निश्चयनयेन शरीरपुद्गिदोषरूपैः रागाद्वैरादिपरिणतैः
शरीरुद्गेष्वेवहारेण तु मिथ्यात्वरागादिपरिणतपुरुषैः । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह । यइसाणरु
लोहहं मिलिउ वैधानरो लोहमिलितः तें तेन कारणेन पिट्ठियइ घणेहिं निवृत्तद्विषो
क्षयने । कैः । घनेहिं । भद्रानानुद्वयमौग्यविषयको येन दृष्टधुनानुभूतभोगाकाशात्म-

निदानबंधाद्यप्यनपरिणाम एव परमसंगम्यायः । व्यवहारेण ॥ परपरिणतपुरुष
इत्यभिप्रायः ॥ २३७ ॥

अथ मोहपरित्यागं दर्शयति:—

जोह्य मोह परिषयद्दि, मोह न भल्लउ होइ ।

मोहामस्तव सयलु जगु, दुषरु संहतउ जोइ ॥ २३८ ॥

योगिन् मोहं परित्यज मोहो न भद्रो भवति ।

मोहासक्तः सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥ २३८ ॥

जोह्य इत्यारि । जोह्य हे योगिन् मोह परिषयद्दि निर्मोहपरमात्मस्वरूपभाषनाप्रति-
पक्षभूतं मोहं त्यज । कम्मान् । मोह न भल्लउ होइ मोहो भद्रः समीचीनो न भवति ।
तदपि कम्मान् । मोहासक्तउ सयलु जगु मोहामक्तं समस्तं जगत् निर्मोहशुद्धात्मभावना-
रहितं दुषरु संहतउ जोइ अव्याकुलत्वलभणपारमार्थिकमुखविलभणमाकुलत्वोत्पादकं
दुःखं सहमानं पश्येति । अत्रालोकावबुद्धिरंगपुत्रकलत्रादौ पूर्व परित्यक्तेन पुनर्वासनावसेन
स्मरणरूपो मोहो न कर्तव्यः । शुद्धात्मभावनास्वरूपं तपश्चरणं तत्साधकभूतशरीरं तस्यापि
स्थित्यर्थमदानपानादिकं बह्वृक्षमाणं तत्रापि मोहो न कर्तव्यः इति भावार्थः ॥ २३८ ॥

अथ स्थूलसंप्रदायदिर्भूतमाहारमोहविषयनिराकरणसमर्थनार्थं प्रक्षेपकप्रत्यमाह तद्यथा,—

काऊण पागारूपं, घीभस्सं दहमहयसारिच्छं ।

अहिलससि किं न लज्जसि, भिक्खाण भोयणं मिट्ठं ॥ २३९ ॥ (क्षे०)

निदान बंध आदि खोटे परिणामरूपी दुष्टोंकी संगति नहीं करना अथवा अनेक दोषोंकर
सहित रागी द्वेषी जीवोंकी भी संगति कभी नहीं करना, यह तात्पर्य है ॥ २३७ ॥

•• आगे मोहका त्याग करना दिखलाते हैं;—[योगिन्] हे योगी तू [मोहं] मोहको
[परित्यज] विलकुल छोड़ दे क्योंकि [मोहः] मोह [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं
होता है [मोहासक्तः] मोहसे आसक्त [सकलं जगत्] सब जगत्जीवोंको [दुःखं
सहमानं] क्लेश भोगतं हुए [पश्य] देख । भावार्थ—जो आकुलता रहित है वह
दुःखका मूल मोह है । मोही जीवोंको दुःख सहित देखो । वह मोह परमात्मस्वरूपकी
भावनाका प्रतिपक्षी दर्शनमोह चारित्र्यमोहरूप है । इसलिये तू उसको छोड़ । पुत्र स्त्री
आदिकमें तो मोहकी बात दूर रहे यह तो प्रत्यक्षमें त्यागने योग्य ही है । और विषय-
वामनाके बन्ध देह आदिक पर बन्धुओंका रागरूप मोहजाल है वह भी सर्वथा त्यागना
चाहिये । अंतर बाध मोहका त्यागकर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना । शुद्धात्माकी
भावनारूप जो तपश्चरण उसका साधक जो शरीर उसकी स्थितिकेलिये अन्न जलादिक
लिये जाते हैं तौभी विनोष राग न करना, रागरहित नीरस आहार लेना चाहिये ॥ २३८ ॥

अथ लोमकपायदोषं दर्शयति;—

जोइय लोह्ण परिचयहि, लोह्ण ण भल्लउ होइ ।

लोहासत्ताउ सयल्लु जणु, दुक्खु सहंतउ जोइ ॥ २४३ ॥

योगिन् लोभं परित्यज लोमो न मद्रः भवति ।

लोमासक्तं सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥ २४३ ॥

हे योगिन् लोभं परित्यज । कस्मान् । लोमो भद्रो समीचीनो न भवति । लोभामर्शं समस्तं जगत् दुःखं सहमानं पश्येति । तथाहि—लोमकपायविपरीतात् परमात्मस्वभावा-
द्विपरीतं लोभं त्यज हे प्रभाकरमठ । यतः कारणान् निर्लोभपरमात्मभावानारहिता जीवा
दुःखमुपमुञ्जानास्तिष्ठन्तीति तात्पर्यं ॥ २४३ ॥

अधामुमेय लोमकपायदोषं दृष्टान्तेन समर्थयति;—

तलि अहिरणि वरि घणवटणु, संटस्सयल्लुंचोइ ।

लोह्हं लग्गिचि हुपघह्हं, पिक्खु पटंतउ तोइ ॥ २४४ ॥

तले अधिकरणे उपरि घनपातनं संडसकलुंचनं ।

लोहं लगित्वा हुतवहं पश्य पिट्ठं श्रोतनं ॥ २४४ ॥

तले अधमनभागेऽधिकरणसंज्ञोपकरणं उपरिनमभागे घनपातपातनं तथैव संडमकलु-
ंचनोपकरणेन लुंचनमाकर्षणं । केन । लोहपिंडनिमित्तेन । कम्प । हुतभुजोऽग्नेः श्रोतनं
संज्ञं पश्यति । अयमत्र भावार्थः । यथा लोहपिंडसंस्पर्शादग्निरक्षानिलोकपूज्यः प्रमिदोः

आगे लोमकपायका दोष कहते हैं—[योगिन्] हे योगी नृ [लोभ] लोभको
[परित्यज] छोड़ [लोभः] ये लोभ [मद्रो न भवति] भट्टा नहीं है क्योंकि
[लोभामर्शं] लोभमें लगे हुए [सकलं जगत्] इस संपूर्ण जगत्को [दुःखं सहमानं]
दुःख सहते हुए [पश्य] देख । भावार्थ—लोमकपायसे रहित जो परमात्मस्वभाव उमगे
निपटीत जो हम मय परमवक्ता लोभ, घनधान्यादिका लोभ उमे नृ छोड़ । क्योंकि लोभी
जीव मयभवगे हुए भागने दे ऐसा नृ देख रहा है ॥ २४३ ॥

आगे लोमकपायके दोषको दृष्टान्तेन पुष्ट करने हे, —[लोहं लगित्वा] जैसे लोहका
मध्य पक्ष [हुतवहं] अग्नि [तले] नीचे लगे हुए [अधिकरणे उपरि] मद्रान्त
ऊपर [घनपातनं] घनकी चोट [संडसकलुंचनं] मिश्रणीय में घना [पिट्ठं श्रोतनं]
चोट लगान से हुआ इत्यादि लोभको मद्रा दे ऐसा [पश्य] देख । भावार्थ—
लोहका मध्यमे जोड़ दृष्टांत बनाने लोभ दुःख भोगने दे चोट लोहका मध्य न करे

देवता विद्वन्मियां दमते तथा लोभादिकपायपरिणतिकारणभूतेन पंचेंद्रियशरीरसंबन्धेन
निलोभपरमात्मनश्चभावनारहितो जीवो घनपातस्थानीयानि नारकादिदुःस्थानि बहुकालं
गच्छति ॥ २४४ ॥

अथ श्लोदपरित्यागं वक्ष्यति;—

जोह्य जेहू परिचयहि, जेहू ज भद्दउ होइ ।

जेहाससउ सयखु जगु, दुखखु सहंतउ जोइ ॥ २४५ ॥

योगिन् श्लोदं परित्यज श्लोदो न भद्रो भवति ।

श्लोदानक्तं सकलं जगत् दुःखं सहमानं पश्य ॥ २४५ ॥

रागादिश्लोदप्रतिपक्षभूते रीतिगमपरमात्मपदार्थध्याने स्थित्वा शुद्धाज्ञातत्त्वादिपरीनं दे
योगिन् श्लोदं परित्यज । कस्मान् । श्लोदो भद्रः समीचीनो न भवति । तेन श्लोदेनासक्तं
सकलं जगत्त्रिगुणात्मभाजनारहितं विविधशरीरमानगरूपं बहुदुःखं सहमानं पश्येति ।
अत्र भेदाभेदरत्नप्रयासरूपमोक्षमार्गं सुकरं सत्प्रतिपक्षभूते मिथ्यात्वरागादौ श्लोदो न कर्तव्य
इति तात्पर्यं । उक्तं च । “सावदेव सुखी जीवो यावन्न लिखते क्वचित् । श्लोदानुविद्वद्दयं
दुःखमेव पदे पदे” ॥ २४५ ॥

अथ श्लोदोपं दृष्टान्तेन द्रव्यति;—

जलसिंचणु पयणिदलणु, पुणु पुणु पीलणदुखखु ।

‘जेहहं लग्गिगि तिलणिपरु, जंति सहंतउ पिक्खु ॥ २४६ ॥

तरह लोह अर्थात् लोभके कारणसे परमात्मतत्त्वकी भावनासे रहित मिथ्यादृष्टि जीव
घनपातके समान नरकादि दुःखोक्तो बहुतकालतक भोगता है ॥ २४४ ॥

आगे श्लोका त्याग दिसलाते हैं;—[योगिन्] दे योगी रागादिरहितरीतिराग परमा-
त्मपदार्थके ध्यानमें टहरकर ज्ञानका वैरी [श्लोद] श्लोद (प्रेम) को [परित्यज] छोड़
[श्लोदः] क्योंकि श्लोद [भद्रः न भवति] अच्छा नहीं है [श्लोदासक्तं] श्लोदमें लगा-
हुआ [सकलं जगत्] समस्त संसारी जीव [दुःखं सहमानं] अनेक प्रकार शरीर और
मनके दुःख सह रहा है उसको तू [पश्य] देख । ये संसारी जीव श्लोदरहित शुद्धात्म-
तत्त्वकी भावनासे रहित हैं, इसलिये नानाप्रकारके दुःख भोगते हैं । दुःखका मूल एक
देहादिकका श्लोद ही है । भावार्थ—यहां भेदाभेदरत्नप्रयरूप मोक्षके मार्गसे विमुक्त होकर
मिथ्यात्वरागादिमें श्लोद नहीं करना यह सारांश है । क्योंकि ऐसा कहा भी है कि जब
तक यह जीव जगतसे श्लोद न करे तबतक सुखी है और जो श्लोदसहित है जिनका मन
श्लोदसे बंध रहा है उनको हर जगह दुःख ही है ॥ २४५ ॥

सन् तो ततः कारणात् वरि वरं किंतु चिंतहि चित्तय ध्याय । किं तउ त्रि तः
 तपस्तप एव विचित्तय नान्यन् । तपश्चरणचित्तान् किं फलं भवति । पावहि प्राप्तेपि ।
 कं । मोक्षसु पूर्वोक्तलक्षणं मोक्षं । कथंभूतं । ग्रहंतु तीर्थंकरपरमदेवादिमहापुरुषैराश्रितक-
 न्महांतमिति । अत्र बहिर्द्रव्येच्छानिरोधेन वीतरागतात्त्विकानंदपरमात्मरूपे निर्विघ्न-
 समायौ स्थित्वा गृहादिममत्वं त्यक्त्वा च भावना कर्तव्येति तात्पर्यं ॥ २५४ ॥

अथ जीवहिंसादोषं दर्शयति;—

ॐ मारिवि जीयहं लक्खडा, जं जिय पाउ करीसि ।

पुत्तकलत्तहं कारणहं, तं तुहं एक्क सहीसि ॥ २५५ ॥

मारयित्वा जीवानां सन्नाणि यन् जीव पापं करिष्यसि ।

पुत्रफलप्राणां फारणेन तत् त्वं एकः सहिष्यसे ॥ २५५ ॥

मारिवि इत्यादि । मारिवि जीयहं लक्खडा उपादिविकल्परहितस्य स्वस्वमात्रनाश-
 णस्य शुद्धचैतन्यप्राणस्य निश्चयेनाभ्यंतरे कथं कृत्या बहिर्भागे भानेकजीवलभ्यानां देव
 दिमोपकरणेन पुत्तकलत्तहं कारणहं पुत्रफलप्रममत्वनिमित्तोत्पन्नदृष्टानुभूतभोगार्हा-
 भान्यरूपतीक्ष्णभावेन जं जिय पाउ करीसि दे जीव यत्पापं करिष्यसि तं तुहं एक्क
 सहीसि तत्पापफलं त्वं कर्त्ता नरकादिगतिव्येकाकी सन् सहिष्यसे हि । अत्र रागाद्यभावो

करता हुआ [मोक्ष] मोक्ष [न प्राप्तेपि] कभी नहीं पासकता [ततः] इसलिये
 [वरं] उपम [तप एव] तपका ही [चित्तय] चित्तवनकर क्योंकि [तपसा] तपने
 ही [महार्ज मोक्ष] श्रेष्ठ मोक्ष सुनको [प्राप्तेपि] पासकेगा । भावार्थ—तू गृहादि
 परबस्तुओंको चित्तवन करता हुआ कर्मफलक रहित केवलज्ञानादि अनेकगुण सहित मोक्षको
 नहीं पायेगा और मोक्षका मार्ग जो निश्चयव्यवहारसमय उनको भी नहीं पायेगा । इन
 गृहादिके चित्तवनमें भववनमें भ्रमन करेगा । इसलिये इनका चित्तवन भी मत कर
 लेकिन वाग्दण्डकारके तपका चित्तवनकर । इसीमें मोक्ष पायेगा । पर मोक्ष तीर्थंकर
 परमदेवविदेव महापुरुषोंमें आश्रित है इसलिये सबमें उत्कृष्ट है । मोक्षके समान अन्य
 पदार्थ नहीं । यही पदार्थकी इच्छाको मोक्षकर कीन्तु परम आनंदरूप जो परमात्म-
 न्स्वरूप उसके ध्यानमें उत्कृष्ट पर परित्यागदिच्छा मनः । छोड़ एक केवन निजमन-
 की इच्छा करना यह तात्पर्य है । आत्मभावनाक निश्चय अन्य कुछ भी करने योग्य
 नहीं है ॥ २५४ ॥

निश्चयेनाहिंसा भण्यते । कस्मान् । निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणस्य रक्षाकारणत्वात्, रागादुत्पत्तिस्तु निश्चयहिंसा । तदपि कस्मात् । निश्चयशुद्धप्राणस्य हिंसाकारणम् । इति शान्दा रागादिपरिणामरूपा निश्चयहिंसा त्याग्येति भावार्थः । तथा चोक्तं निश्चयहिंसावृत्त्यर्थम् । “रागादीण मणुष्या अहिंसगच्छेति देसिदं समम् । तेमि देव वपनी हिमेति जिनेदि निरिदं” ॥ २५५ ॥

अथ समेव हिंसादोषं दृढयति;—

॥ मारियि चूरियि जीवडा, जं तुहं दुक्खु करीसि ।

तं तद् पासि अणंतगुणु, अवसद् जीय एहेसि ॥ २५६ ॥

तू [एकः] अकेला [सहिष्णुसे] सदेगा । भावार्थ—हे जीव तू पुत्रादि कुटुंबकेन्द्रिये हिंसा झूठ चोरी कुटील परिग्रहादि अनेक प्रकारके पाप करना है तथा भोगभोगों रागादि विकल्प रहित ज्ञानादि शुद्ध चैतन्य प्राणोंका पात करता है अपने प्राण रागादिभोगोंमें गंते करता है और पापमें अनेक जीवोंकी हिंसाकरके अशुभकर्मोंको उपार्जन करना है उनका फल तू मरकादि गतिमें अकेला सदेगा । कुटुंबके लोक कोई भी तेरे दुःखके घटानेवाले नहीं हैं तू ही सदेगा । श्री जिनशासनमें हिंसा दोषरहकी है । एक आत्मपात दूसरी परपात । उनमेंसे जो मिथ्यात्वरागादिकके निमित्तमें देखे सुने भोगे हुए भोगोंकी बाँटारूप ओ तीक्ष्ण दाय उससे अपने ज्ञानादि प्राणोंको हतना वह निश्चय हिंसा है रागादिककी उत्पत्ति यह निश्चय हिंसा है । क्योंकि इन विभावोंसे निज भाव घाते जाने हैं । ऐसा जानकर रागादि परिणामरूप निश्चयहिंसा त्यागना । यही निश्चयहिंसा आत्म-पात है । और ममादके भोगमें अवियेकी दोषर एवंदी दोरंदी तेरंदी दोरंदी एवंदी जीवोंका पात करना वह परपात है । अब हसने पर जीवका पात बिचारा तब हसके परिणाम गतिमें हुए और भावोंकी गतिमत्ता ही निश्चयहिंसा है इसलिये परमात्मन हिंसा आत्मपातका कारण है । जो हिसक जीव है वह पर जीवोंका पातकर अवका पात करता है । यह स्वदया पर दयाका स्वरूप जानकर हिंसा सर्वथा त्यागना । हिंसके समान अन्य पाप नहीं है । निश्चय हिंसाका स्वरूप सिद्धांतमें दूसरी जगह देना कहा है—ओ रागादिकका अभाव बही शास्त्रमें अहिंसा कही है और रागादिककी उत्पत्ति यही हिंसा है ऐसा कथन जिनशासनमें जिनेश्वरदेवने दिसलया है । अर्थात् ओ रागादिकका अभाव वह स्वदया और ओ ममादरहित विवेकरूप करुणाभाव पर परदया है । यह स्वदया परदया धर्मका मूल कारण है । जो पापी हिसक होता उसके परिणाम निर्मल नहीं होसकते देगा निश्चय है, पर जीव पात तो उसका अणुव अणुव है एवं हसने अब परपात बिचारा तब आत्मपात ही हुआ ॥ २५५ ॥

त्पत्तिस्तु हिंसा भण्यते तत्रापि पापबन्धः । यदि पुनरेकांतेन देहान्नोर्भेद एव तर्हि परकी-
यदेहपाते दुःखं न भवति तथा स्वदेहपातेपि दुःखं न स्यात्तत्र च तथा । निश्चयेन पुनर्जीवि-
गतेपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव । ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता, पापबन्धोपि न
च निश्चयेन इति । सत्यमुक्तं त्वया, व्यवहारेण पापं तथैव नारकादिदुःखमपि व्यवहारे-
णेति । तदिष्टं भवतां चेत्तर्हि हिंसां कुरुत यूयमिति ॥ २५७ ॥

अथ मोक्षमार्गे रतिं कुर्विति शिक्षां ददाति;—

नूवा सयल्लुचि कारिमउ; मुल्लउ मं तुस कंडि-।

सिवपहि णिम्मलि करहि रइ, धरु परियणु लहु छंडि ॥ २५८ ॥

मूढ सकलमपि कृत्रिमं आत्मा मा तुषं कंडय ।

शिवपथे निर्मले, कुरु रतिं गृहं परिजनं लघु त्यज ॥ २५८ ॥

नहीं है वैसे प्राणोंका भी नाश नहीं होसकता । अगर जुदे हैं अर्थात् जीवसे सर्वथा
भिन्न हैं तो इन प्राणोंका नाश नहीं होसकता । इस प्रकारसे जीवहिंसा है ही नहीं तुम
जीवहिंसामें पाप क्यों मानते हो । उसका समाधान । जो ये इंद्रिय बल आयु आत्मा-
च्छास प्राण जीवसे किसी नयकर अभिन्न हैं भिन्न नहीं हैं किसी नयसे भिन्न हैं । ये
दोनों नय प्रमाणीक हैं । अब अभेद कहते हैं तो सुनो । अपने प्राणोंके होनेपर जो
व्यवहार नयकर दुःखकी उत्पत्ति वह हिंसा है उसीसे पापका बंध होता है । और जो इन
प्राणोंको सर्वथा जुदे ही मानें देह और आत्माका सर्वथा भेद ही जानें तो जैसे परके
शरीरका पात होनेपर दुःख नहीं होता है वैसे अपने देहके पातमें भी दुःख न होना
चाहिये इसलिये व्यवहारनयकर जीवका और देहका एकरव दीखता है परंतु निश्चयसे
एकरव नहीं है । यदि निश्चयसे एकरवना होवे तो देहके विनाश होनेसे जीवका
विनाश हो जावे सो जीव अविनाशी है । जीव इस देहको छोड़कर परभवको जाता
है सब देह नहीं जाती है । इसलिये जीव और देहमें भेद भी है । यद्यपि निश्चय-
नयकर भेद है तभी व्यवहारनयकर प्राणोंके चले जानेसे जीव दुःखी होता है तो
जीवको दुःखी करना मही हिंसा है और हिंसासे पापका बंध होता है । निश्चय-
नयकर जीवका पात नहीं होता यह तूने कहा वह सत्य है परंतु व्यवहारनयकर प्राणवि-
योगरूप हिंसा है ही और व्यवहारनयकर ही पाप है और पापका फल नरकादिकके
दुःख हैं ये भी व्यवहारनयकर ही हैं । यदि तुम नरकके दुःख अच्छे लगते हैं तो
हिंसा कर और नरकका भय है तो हिंसा मत कर । ऐसे व्याख्यानसे अज्ञानी जीवोंका
संशय भेदा ॥ २५७ ॥

मूढा इति । मूढा मयलुपि कारिमउ दे मूढजीव शुद्धात्मानं विहायान्यत् पंचेंद्रि-
यविषयरूपं स्वमलमपि कृत्रिमं विनश्वरं भुङ्गुतं मं तुम कंठि धांतो भूत्वा तुपकंडनं मां
तुम एवं विनश्वरं शाखा सिवपदि पिम्मलि शिवशब्दवाच्यविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो
शुभात्मा तस्य प्राण्युपायः पंथा निजशुद्धात्मगम्यकृमद्वान्तानुष्ठानरूपः स च रागादि-
रदिगन्धेन निर्मलः करदि रू इत्यंभूते मोक्षे मोक्षमार्गे च रतिं प्रीतिं कुरु पर परिपणु
लघु छंति पूर्वोक्तमोक्षमार्गप्रतिपक्षभूतं गृहं परिजनादिकं क्षीयं त्यजेति तात्पर्य ॥ २५८ ॥

अथ पुनरप्यभुधानुपेक्षां प्रतिपादयति:-

जोइय सयलुपि कारिमउ, णिकारिमउ ण कोइ ।

जीयिं जंतिं कुडि ण गय, इहु पडिछंदा जोइ ॥ २५९ ॥

योगिन् सकलमपि कृत्रिमं निःकृत्रिमं न किमपि ।

जीवेन याता देहो न गतः इमं दृष्टांतं पश्य ॥ २५९ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय दे योगिन् सयलुपि कारिमउ टंकोत्कीर्णज्ञापकैकस्वभावाद-
कृत्रिमाद्वीतरागनित्यानंदैकस्वरूपान् परमात्मनः सकारात् यदन्यन्मनोवाकायव्यापाररूपं
तत्तन्मलमपि कृत्रिमं विनश्वरं णिकारिमउ ण कोइ अकृत्रिमं नित्यं पूर्वोक्तपरमात्मसदृशं
संगारे किमपि नास्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाह । जीयिं जंतिं कुडि ण गय शुद्धात्मस्वर-
भावनारहितेन निष्कृत्वास्वविषयकपायामत्तेन यान्युपार्जितानि कर्मोणि तत्कर्मसहितेन जीवेन

आगे श्रीगुरु पद शिक्षा देते हैं कि तू मोक्षमार्गमें प्रीति कर;—[मूढ] हे मूढ जीव
[सकलमपि] शुद्धात्माके सिवाय अन्य सब विषयादिक [कृत्रिमं] विनाशवाले हैं तू
[भ्रात्या] भ्रम (मूल) से [तुषं मा कंडय] भूसेका खंडन मत कर । तू [निर्मले]
परमपवित्र [शिवपथे] मोक्षमार्गमें [रतिं] प्रीति [कुरु] कर [गृहं परिजनं] और
मोक्षमार्गका उद्यमी होके घर परिवार आदिको [लघु] क्षीय ही [त्यज] छोड़ ।
भावार्थ—हे मूढ शुद्धात्मस्वरूपके सिवाय अन्य सब पंचेंद्रियविषयरूप पदार्थ नाशवान् हैं
तू भ्रमसे मूढा हुआ असार भूसेके कूटनेकी तरह कार्य न कर इस सामग्रीको विनाशीक
जानकर क्षीय ही मोक्षमार्गके पातक घर परिवार आदिको छोड़कर मोक्षमार्गका उद्यमी
होके ज्ञानदर्शनस्वभावको रखनेवाले शुद्धात्माकी प्राप्तिका उपाय जो सम्यग्दर्शन सम्य-
ग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप मोक्षका मार्ग उसमें प्रीतिकर । जो मोक्षमार्ग रागादिकसे रहित
होनेकर सदा निर्मल है ॥ २५८ ॥

आगे फिर भी अनित्यानुपेक्षाका व्याख्यान करते हैं,—[योगिन्] हे योगी [सक-
लमपि] सभी [कृत्रिमं] विनश्वर हैं [निःकृत्रिमं] अकृत्रिम [किमपि] कोई भी
वस्तु [न] नहीं है [जीवेन याता] जीवके जानेपर उसके साथ [देहो न गतः]

नो चेत् सर्वसंगपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पपरमममाद्यो ध्यानार्थं । यौवनेति तृष्णा न
कर्तव्या यौवनावस्थायां यौवनोद्रेकजनितविषयगगं त्याग्या विषयप्रतिपन्नमूले वीतरागवि-
धानंदैकस्वभावे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा च निरंतरं भावना कर्तव्येति भाषायैः ॥ २६२ ॥

अथ धर्मतपश्चरणरहितानां मनुष्यजन्म वृथेति प्रतिपादयति;—

धम्मु ण संचित तउ ण किउ, रुक्खं चम्ममएण ।

खम्मिणि जरउदेहियए, णरइ पडिब्बउ तेण ॥ २६३ ॥

धर्मो न संचितः तपो न कृतं वृक्षेण चर्ममयेन ।

खादयित्वा जरोद्रेहिकया नरके पतितव्यं तेन ॥ २६३ ॥

धम्मु इत्यादि । धम्मु ण संचित धर्मसंचयो न कृतः गृहस्थावस्थायां शान्तीलुपूत्रो-
पवासादिरूपसम्पत्तपूर्वको गृहिधर्मो न कृतः । दर्शनिकप्रतिकार्यैकादशश्रावकधर्मरूपो वा
तउ ण किउ तपश्चरणं न कृतं तपोधनेन तु समस्तवर्हिद्रव्येच्छानिरोधं कृत्वा अनशनादि-
द्वादशविधतपश्चरणबलेन निजशुद्धात्मस्थाने स्थित्वा निरंतरं भावना न कृता । केन कृत्वा ।
रुक्खं चम्ममएण वृक्षेण मनुष्यशरीरचर्मनिपृत्तेन । येनैवं न कृतं गृहस्थेन तपोधनेन वा
णरइ पडिब्बउ तेण नरके पतितव्यं तेन । किंकृत्वा । खम्मिणि भक्षयित्वा । कया कर्तुं-
तया । जरउदेहियइ जरोद्रेहिकया । इदमत्र तात्पर्यं । गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयस्वरूपमुपादेयं

इच्छा नहीं करनी । जो किसी दिन प्रत्यास्थानकी चौकड़ीके उदयसे श्रावकके मतमें भी
रहे तो देव पूजा गुरुकी सेवा स्वाध्याय दान शील उपवासादि अणुवतरूप धर्म करे
और जो बड़ी शक्ति होवे तो सब परिग्रहका त्यागकर यतीके मत धारण करके निर्वि-
कल्पपरमसमाधिमें रहे । यतीको तो सर्वथा धनका त्याग और गृहस्थको धनका प्रमाण
करना योग्य है । विवेकी गृहस्थ धनकी तृष्णा न करें । धन यौवन असार है, यौवन
अवस्थामें विषय तृष्णा न करें विषयका राग छोड़कर विषयोंसे परान्मुख जो वीतराग
निजानन्द एक अखंड स्वभावरूप शुद्धात्मा उसमें लीन होकर हमेशा भावना करनी
चाहिये ॥ २६२ ॥

आगे जो धर्मसे रहित हैं और तपश्चरण भी नहीं करते हैं उनका मनुष्य जन्म
वृथा है ऐसा कहते हैं;— [येन] जिसने [चर्ममयेन वृक्षेण] मनुष्यशरीररूपी चर्म-
मई वृक्षको पाकर उससे [धर्मः न कृतः] धर्म नहीं किया [तपो न कृतं] और तप
भी नहीं किया उसका शरीर [जरोद्रेहिकया खादयित्वा] बुढ़ापारूपी दीमक ने
खाया जायगा फिर [तेन] उसको मरणकर [नरके] नरकमें [पतितव्यं]
पड़ेगा । भावार्थ—गृहस्थ अवस्थामें जिसने सम्पत्तपूर्वक दान शील पूजा
पतिमाके भेदरूप

कृत्वा भेदरत्नप्रयासकः आवकधर्मः कर्तव्यः, यत्किना तु निश्चयस्वरूपे स्थित्वा व्यावहारिक-
रत्नप्रयासलेन विशिष्टनपभरणं कर्तव्यं नोचेत् दुर्लभपरंपरया प्राप्तमनुप्यजन्म
निष्फलमिति ॥ २६३ ॥

अथ हे जीव जिनेश्वरपदे परममर्कं कुर्वन्ति निम्नां ददाति;—

अरि जिय जिणपइ भस्ति करि, सुहि सज्जणु अवहेरि ।

तिं चप्पेणवि कज्जु णवि, जो पाटइ संसारि ॥ २६४ ॥

अहो जीव जिनपदे भक्तिं कुरु सुरे सज्जनं अपहर ।

तेन विप्रापि कार्यं नैव यः पातयति संगारे ॥ २६४ ॥

अरि जिय इत्यारि । अरि जिय अहो भव्यजीव जिणपइ भक्ति करि जिनपदे भक्ति
कुरु गुणानुरागवपननिमित्तं जिनेश्वरेण प्रणीतस्त्रीधर्मे रतिं कुरु सुहि मज्जणु अवहेरि
संसारमुखसहकारिकारणभूतं स्वजनं गोत्रमप्यपहर त्यज । कस्मान् । तिं चप्पेणवि तेन
छेदितविप्रापि कज्जु णवि कार्यं नैव । यः किं करोति । जो पाटइ यः पातयति । ॥
संसारि संसारसमुद्रे । तथाच । हे आत्मन् अनारिवाले दुर्लभे धीतरागमर्षस्त्रयीने
रागद्वेषमोहरहिते जीवपरिणामलभने छुटोपयोग्यरूपे निश्चयधर्मे व्यवहारधर्मे यं पुनः
पद्मावश्यवादिलभने गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलभने वा शुभोपयोग्यरूपे रतिं कुरु ।

धर्म नहीं धारण किया तथा मुनि होकर सब पदार्थोंकी हृष्टाशा निरोध कर अनटन
बगैरः बारह प्रकारका तप नहीं किया तपधरणके बन्धने शुद्धात्माके ध्यानमें टहरकर
निरंतर भावना नहीं की मनुष्यके शरीररूप धर्ममयी इसकी वाकर बर्तीका य अ बद्धका
धर्म नहीं किया उनका शरीर ब्रह्मावस्थारूप दीप्तक कीड़े स्वापेमें फिर यह नरकमें
आपेगा । इसलिये गृहस्थको तो यह योग्य है कि निश्चयस्वरूपकी भद्राकर निजत्वका
उपादेय जान व्यवहार रत्नप्रयरूप आवकका धर्म पालना । और बर्तीको यह योग्य है
कि निश्चय रत्नप्रयमें टहरकर व्यवहार रत्नप्रयके बलसे बड़ा तप करगा । अगर बर्तीका
य आवकका धर्म नहीं बना अजुमउ महामन नहीं पाते तो बड़ा दुर्लभ मनुष्यदेवका
पाना निष्फल है उससे कुछ प्रायश्च नहीं ॥ २६५ ॥

आगे श्रीगुरु शिष्यको यह शिक्षा देते हैं कि तू मुनिराजके चरणादिरोकी परममर्क
कर [अहो जीव] हे भव्य जीव तू [जिनपदे] जिनपदमें [भक्ति कुरु] भक्ति कर
और जिनेश्वरके बड़े हुए जिनधर्ममें भीति कर [सुरे] संसार दुमके निन्दितव्य
[स्वजन] जो अपने कुटुंबके जन उनको [परिहर] त्याग अत्यन्त तो बन्ध बला है
[तेन विप्रापि नैव कार्य] उस महाभेदस्थ विप्रापे भी कुछ कार्य नहीं है [यः] जो
[संसारि] संसारसमुद्रे इस जीवको [पातयति] बरक देवे । भावार्थ—हे आत्मन्

इत्थंभूते धर्मे प्रतिकूलो यः तं मनुष्यं स्वगोत्रजमपि त्यज तदनुकूलं परगोत्रजमपि स्वीकुर्विति । अत्रायं भावार्थः । विषयमुखनिमित्तं यथानुरागं करोति जीवस्तथा जिनधर्मं करोति तर्हि संसारे न पततीति । तथा चोक्तं । “विसयहं कारणि सञ्चु जणु जिम अशुराउ करेइ । तिम जिणभासिए धम्मि जइ ण उ संसारि पढेइ” ॥ २६४ ॥

अथ येन चित्तशुद्धिं कृत्वा तपश्चरणं न कृतं तेनात्मानं वंचितमित्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति;—

जेण ण चिण्णउ तपयरणु, णिम्मलु चित्तु करेवि ।

अप्पा वंचिउ तेण पर, माणुसजग्गु लहेयि ॥ २६५ ॥

येन न चीर्णं तपश्चरणं निर्मलं चित्तं कृत्वा ।

आत्मा वंचितः तेन परं मनुष्यजन्म लब्ध्वा ॥ २६५ ॥

जेण इत्यादि । जेण येन जीवेन ण चिण्णउ न चीर्णं न परितं न कृतं । किं । तपयरणु वासाभ्यन्तरतपश्चरणं । किं कृत्वा । णिम्मलु चित्तु करेयि कामक्रोधादिरहितं धीतरागचिदानन्दैकमुत्सामृतममं निर्मलं चित्तं कृत्वा अप्पा वंचिउ तेण आत्मानं वंचितं तेन नियमेन । किं कृत्वा । लहेयि लब्ध्वा । किं । माणुसजग्गु मनुष्यजन्मेति । तथादि । दुर्लभपरंपरारूपेण मनुष्यमये लब्धे तपश्चरणेपि च निर्विकल्पममाधिपत्येन रागादिपरिहारेण चित्तशुद्धिः कर्तव्येति । येन चित्तशुद्धिर्न कृता स आश्रयंचक इति भावार्थः । तथा चोक्तं ।

अनादिकालमे दुर्लभ जो धीतराग सर्वशुद्धा कहा हुआ रागद्वेष मोह रहित शुद्धोपयोग-रूप निश्चयधर्म और शुभोपयोगरूप व्यवहारधर्म उसमें भी छद् आयश्यकरूप यतीका धर्म तथा दान पूजादि श्रावकका धर्म, यह शुभाचाररूप दो प्रकार धर्म उसमें प्रीति कर । इस धर्ममें विमुख जो अपने कुलका मनुष्य उमे छोड़ और इस धर्मके सम्मुख जो पर कुटुंबका भी मनुष्य हो उसमें प्रीति कर । तात्पर्य यह है कि यह जीव जैसे विष-मनुष्यमें प्रीति करता है वैसा जो जिनधर्मसे करे सो संगारमें नहीं भटके । ऐसा दुर्लभ जगद् भी कहा है कि जैसे विषयोंके कारण यह जीव बारंबार प्रेम करता है वैसा जो जिनधर्ममें करे सो संगारमें भ्रमन न करे ॥ २६४ ॥

अग्रे जिनमे चित्तकी शुद्धता करके तपश्चरण नहीं दिया उमने अपना आत्मा टग दिया यह अनिदय मनने समझ व्याख्यात करते हैं;—[येन] जिन जीवने [तपश्चरणं] वासाभ्यन्तर तप [न चीर्णं] नहीं दिया [निर्मलं चित्तं] मक्ष निर्मल चित्त [कृत्वा] करके [तेन] उमने [मनुष्यजन्म] मनुष्यजन्मको [लब्ध्वा] पाकर [परं] वेद [आत्मा वंचितः] अपना आत्मा टग दिया । भावार्थ—मक्षान दुर्लभ इस जगद्में ही पाकर जिनमे विषयकषय मंत्रन दिए और मोहोदि मद्धन धीतराग चिदानन्द

“चित्ते बद्धे बद्धो मुक्ते मुक्तोऽपि णत्थि मंदं हो । अप्पा विमलमहात्तो मग्गिज्झि म
चित्ते” ॥ २६५ ॥

अथ पंचेन्द्रियविजयं दर्शयति;—

ए पंचेन्द्रियकरहटा, जिय मोक्षला म चारि ।

चरित्ति असेसु वि विमययणु, पुणु पाटहिं मंगारि ॥ २६६ ॥

एते पंचेन्द्रियकरहटा जीव सेच्छया मा चारय ।

चरित्वा अशेषं अपि विषयवनं पुनः पानयन्ति संगारे ॥ २६६ ॥

ए इत्यादि । ए एते प्रत्यक्षभूताः पंचेन्द्रियकरहटा अनीन्द्रियगुणान्मात्ररूपान्
रमनः सकाशात् प्रणिपक्षभूताः पंचेन्द्रियकरहटा उद्याः जिय हे गृहजीव मोक्षला म
मग्नद्वारात्मभावनोपवीतसंगपरमानन्दैकरूपगुणपरमात्मरूपे भूत्वा सेच्छया मा
व्यापुह्य । यतः किं नुबंति । पाटहिं पानयन्ति । कं । जीवं । क । संगारं निःसंग
आत्मप्रतिपक्षभूते पंचप्रकारसंगारे पुणु पश्चात् । किं इत्या पूर्वं । अगिणि अगिणा
कृत्वा । किं । विसययणु पंचेन्द्रियविषयवनमित्यभिप्रायः ॥ २६६ ॥

सुतरूपी अमृतकर प्राप्त अपना निर्मल चित्त करके अवधानादि तप न चित्ता बद्ध भा म
हे अपने आत्माका ठगनेवाला है । एचेंद्री पर्यायसे विकल्पत्रय होना दुर्लभ है, चित्त
असेनी पंचेद्री होना, असेनी पंचेन्द्रियसे सेनी होना, सेनी चित्तसे मग्न होना
है । मनुष्यमें भी आर्यक्षेत्र उत्तमगुण दीर्घ आयु सारंग पर्यायवर्ण पर्याय धर्म होना
जन्मपर्यन्त निवाहना ये सब बातें दुर्लभ हैं सबमें दुर्लभ (कठिन) आगमन है कि
कि चित्त शुद्ध होता है । ऐसा महादुर्लभ मनुष्यदेह पाकर तपश्चरण अनीवार
निर्विकल्प समाधिके बलसे रागादिबा त्यागकर परिणाम निर्मल करने चाहिये । कि
चित्तको निर्मल नहीं किया ये आत्माको ठगनेवाले हैं । ऐसा दूसरी जगह भी कह
कि चित्तके बंधनेसे यह जीव कर्मोंसे बंधता है । जिनका चित्त धन धर्म्यादिसे ब
हुआ ये ही कर्मबंधसे बंधते हैं और जिनका चित्त परिश्रमे द्वारा आत्मा (कृष्ण)
अलग हुआ येही मुक्त हुए । इसमें संदेह नहीं है । यह आत्मा निर्मलभक्त है
चित्तके सेते होनेसे मिला होता है ॥ २६५ ॥

आगे पांच इन्द्रियोंका जीतना दिखायते हैं;—[एते] ये पक्ष [पंचेन्द्रियकरहटा]
पांचेन्द्रियरूपी उट है उनको [सेच्छया] अपनी इच्छा में [मा चारय] न च
दे चोरी [अशेषं] संपूर्ण [विषयवनं] विषयवनको [चरित्वा] चरके [पुनः] पुन
चित्ते [संगारे] संगारमें ही [पातयेति] परत देगे । आराध के पर
अनीन्द्रियत्वके आत्मरूप परमात्मा परात्मत्व है इनको हे मग्गिज्झि म
अनीन्द्रियत्वके आत्मरूप परमात्मा परात्मत्व है इनको हे मग्गिज्झि म

अथ ध्यानवैषम्यं कथयति;—

जोइय विसमी जोयगइ, मणु संठवण ण जाइ ।

इंदियविसय जि सुखखडा, तित्थु जि बलि बलि जाइ ॥ २६७ ॥

योगिन् विषमा योगगतिः मनः संस्त्रापयितुं न याति ।

इंद्रियविषयेषु एव सुखानि तत्र एव पुनः पुनः याति ॥ २६७ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् विसमी जोयगइ विषमा योगगतिः । कस्मात् मणु संठवण ण जाइ निजशुद्धासन्न्यतिचपलं मकंदप्रार्थ मनो धर्तुं न याति । तस्मात् कस्मात् । इंदियविसय जि सुखखडा इंद्रियविषयेषु यानि सुखानि बलि बलि तित्थु जि जाइ बीतरागपरमाह्लादसमरसीभावपरमसुखरहितानां अनादिवासनावासितर्षचेंद्रिय विषयगुणग्राहासक्तानां जीवानां पुनः पुनः तत्रैव गच्छतीति भावार्थः ॥ २६७ ॥

अथ शब्दगंत्यापाहं प्रश्नोपकं कथयति;—

सो जोइउ जो जोयगइ, दंसणु णाणु चरित्तु ।

होपयि पंगहं याहिरउ, झायंतउ परमत्तु ॥ २६८ ॥

स योगी यः पालयति दर्शनं ज्ञानं चारित्र्यं ।

गृत्वा पंचम्यः पाद्यः ध्यायन् परमार्थं ॥ २६८ ॥

भावनामे पराङ्मुख होकर इनको स्पष्टद मत्कर अपने वस्त्रमें रत्न, ये गुप्ते संसारमें पटकदेगे हमजिये इनको नियोगमें पीछे छोड़ा । संसारमें रहित जो शुद्ध आत्मा उमगे उमडा जो द्रव्य क्षेत्र काट मर मावरूप पांच प्रकारका संगार उमगे ये वैवेचीकी कंट लच्छंद हुए निययवनको चरक जगतके जीवोको जगजने ही पटकदेगे पड लक्ष्य ज्ञाना ॥ २६६ ॥

अगे ध्यानकी कठिना दिमडाते हैं;—[योगिन्] हे योगी [योगगतिः] एसा नही रहि [विषमा] महाविषम हे क्योंकि [मनः] चित्तकी बंदर पवन होनेगे [संस्त्रापयितुं न याति] निजशुद्धात्माने निगमाको नही प्राप्त होता । क्योंकि [इंद्रियविषयेषु एव] इंद्रियके विषयोंमें ही [सुखानि] सुख मान रहा हे हमजिये [तत्र पुनः पुनः] फिर फिर अर्थात् बार बार [याति] जाता है । भावार्थ—दैन्यग वन जानेंद समारोभावरूप मरिंद्रियगुणमें रहित जो पड लक्ष्य लक्ष्य हे उमडा मन अंगदिकाकी अविषयी वामनमें वन रहा हे हमजिये वैवेचीकी चित्तके चित्तस्थानमें आसक्त हे इन वानके जीवोका मन बारबार निययगुणोंमें जाता हे हे । निययगुणोंमें नही रहता हे हमजिये ध्यानकी गति विषय (कठिन) है ॥ २६७ ॥

सो इत्यादि । सो जोड़ म योगी ध्यानी भण्यते । यः किं करोति । जो जोगवद् यः कर्ता प्रतिपालयति रक्षति । किं । दंसणु णाणु चरित्तु निजशुद्धात्मद्रव्यसम्यक्प्रदान-
ज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयं । किं कृत्वा । होयवि भूत्वा । कथंभूतं । बाहिरउ
वाह्यः । केभ्यः । पंचहं परमेष्टिभावनाप्रतिपक्षभूतेभ्यः पंचमगतिमुगमविनाशकेभ्यः
पंचेंद्रियेभ्यः । किं कुर्वाणः । ज्ञापंतउ ध्यायन् सन् । कं । परमत्पु परमार्थमाप्नुवाभ्यं
विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं परमात्मानमिति तात्पर्यं । योगशब्दमर्थः कथ्यते—‘पुज’
समाधी धातुरिति निष्पन्नेन योगशब्देन चीनरागविर्विस्त्वममाधिरूप्यते । अथवानंतज्ञाना-
दिरूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः स इत्थंभूतो योगो यस्यास्तीति स तु योगी
ध्यानी तपोधन इत्यर्थः ॥ २६८ ॥

अथ पंचेंद्रियमुगमस्त्वानित्यत्वं दर्शयतिः—

विसयमुहहं ये दिवहडा, पुणु दुष्पम्हं परिचाडि ।

सुहडु जीय म याहि तुहं, अप्पण खंधि कुहाडि ॥ २६९ ॥

विषयमुत्तानि द्वे दिवसके पुनः दुःखानां परिपाटी ।

भांत जीव मा वाहय त्वं आत्मनः स्तंभे कुटारं ॥ २६९ ॥

विसय इत्यादि । विसयमुहहं निर्विषयाभित्यादीतरागपरमानंदैक्यभावात् परमात्म-
शुद्धात्मप्रतिफलानि विषयमुत्तानि ये दिवहडा दिनद्वयत्वाधीनि भवन्ति पुणु पुनः पञ्चादि-
नद्वयानन्तरं दुष्पम्हं परिचाडि आत्मसुखवहिर्युगेन विषयास्तप्तेन जीवेन वायुप्राप्तितानि
पापानि तदुदयजनितानां भारवादिदुःखानां परिपाटी प्रत्याहः एवं तात्वा सुहडु जीव

आगे हलसंख्याके बाय जो प्रक्षेपक दोहा है उसको कहते हैं—[स योगी] बही
ध्यानी है [य] जो [पंचभ्यः बाह्यः] पंचेंद्रियोंसे बाहर (अलग) [भूत्वा] होकर
[परमार्थ] निज परमात्माका [ध्यायन्] ध्यान करता हुआ [दर्शने] ज्ञाने वारिष्ये]
दर्शन ज्ञान वारिष्यरूपी रत्नप्रभको [पालयति] पालता है रक्षा करता है । भावार्थ—
जिसके परिणाम निज शुद्धात्मद्रव्यका सम्यक्प्रदान ज्ञान आवरणरूप निश्चयरत्नप्रभके
ही लीन है, जो पंचमगतिरूपी मोक्षके सुखको विनाश करनेवाली और पंचपरमेष्टियोंकी
भावनासे रहित ऐसी पंचेंद्रियोंसे जुदा होगया है वही योगी है । योग शब्दका अर्थ
पेसा है कि अपना मन चेतनमें लगाना वह योग जिसके हो वही योगी है वही
ध्यानी है वही तपोधन है यह निःसंदेह जानना ॥ २६८ ॥

आगे पंचेंद्रियोंके सुखको विनाशीक बनाने हैं—[विषयमुत्तानि] विषयोंके हल
[द्वे दिवसके] दो दिनके हैं [पुनः] फिर बादमें [दुःखानां परिपाटी] ये विरह

हे भ्रातृ जीव म वाहि तुहं मा निक्षिप त्वं । कं । कुहाडि कुठारं । क । अप्पणसंधि
भात्तीयन्कंधे । अत्रेदं वराग्यानें ज्ञात्वा विषयमुपे लक्ष्म्य बीनरागरमात्ममुपे प स्थिता
निरंतरं भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥ २६९ ॥

अध्यात्मभावनार्थं योमौ विद्यमानविषयान् लजति तस्य प्रजंमां करोति;—

संता विसय जु परिहरइ, यलि किज्जउं हउं तासु ।

सो दइयेण जि मुंडियउ, सीसु सट्टिहउ जासु ॥ २७० ॥

सतः विषयान् यः परिहरति वडिं करोमि अहं तस्य ।

॥ देवेन एव मुंडितः शीर्षं सत्पादं यस्य ॥ २७० ॥

संता इत्यादि । संता विषय कडुविषयवत्यान् विषादकरोपमानगतापूर्वनिदय-
तुहं भावनां कर्तव्यं भावनामप्येवौतान् विद्यमानविषयान् जो परिहरइ यः परिहरति
वडिं किज्जउं हउं तासु वडिं पूजां करोमि तस्यादिति । भीषोणीप्रदेशः शरीरगुणा-
दुत्पत्तं प्रकरंति । विद्यमाने विषयगते दृष्टान्ताद् । सो दइयेण जि मुंडियउ ॥ देवेन
मुंडितः । म कः । सीसु सट्टिहउ जासु गिरः सन्नादं यज्येति । अत्र पूर्वकाले देवागमने
एव सट्टिहउं यमोपनिषत् एव भावमिति । पर्ययकेचनज्ञानोपतिं एव भावमतिरागमना-

एषादिब्रह्मनेवराजापिराजमणिमुकुटकिरणबलापचुम्बिनपादारविन्दजिनधर्मरत्नं दृष्ट्वा च परमा-
त्मभावनायं केचन स्थितमानविषयत्यागं कुर्वन्ति तद्भावनारत्नानां दानपूजादिकं च कुर्वन्ति
तत्राभयं गच्छन्ति । इदानीं पुनः । “देवागमपरिहीणे कान्तेनिनयवर्जिते । केवलतोत्पत्तिहीने
सु हृत्पत्रधरोजिते” इति श्लोकव्यतिरेकभ्रमे दुष्प्रमत्ता ये यत्कुर्वन्ति तदाभयमिति
भाषायः ॥ २७० ॥

अथ मनोजये हृते शरीन्द्रियजयः कृणो भवतीति प्रवट्यति;—

पंचरं जायकृ यमि करहृ, जेण होंति यस्सि अण्ण ।

मूल पिणहृद तरुपरहं, अयसहं सुफणिं पण्ण ॥ २७१ ॥

पंचानां नायकं यमं कुरुत येन भवंति वशीनि अन्यानि ।

मूले पिण्डे तरुवरम् अवश्यं शुष्यन्ति पर्णानि ॥ २७१ ॥

अर्थात् जिनके संपदा मौजूद है वे सब त्यागकर पीतरागके मारमको आराधे वे तो
रात्तुरपोंसे मदा ही प्रशंसाके योग्य हैं और जिसके कुछ भी तो सामग्री नहीं है परंतु
तृष्णासे दुःखी होरहा है अर्थात् जिसके विषय तो विषयमान नहीं है तौभी अभिलाषी
है वह मदा निष है । जो चतुर्थकालमें तो इस क्षेत्रमें देवोंका आगमन था उनको
देखकर धर्मकी रूचि होती थी और नानाप्रकारकी शक्तियोंके धारी महामुनियोंका
अतिशय देखकर ज्ञानकी प्राप्ति होती थी तथा अन्य जीवोंको अवधि मनःपर्यय
केवलज्ञानकी उत्पत्ति देखकर सम्बन्धकी सिद्धि होती थी । जिनके वरणादिविदोंको
बड़े २ मुकुटधारी राजा नमस्कार करते हैं ऐसे बड़े २ राजाओंकर सेवनीक भरत
सगर राम पांडवादि अनेक चक्रवर्ति बलभद्र नारायण तथा मंडलीकराजाओंको जिनधर्ममें
लीन देखकर भव्य जीवोंको जिनधर्मकी रूचि उपजती थी तब परमात्मभावनाकेलिये
विषयमान विषयोंका त्याग करते थे । और जबतक गृहस्वप्नेमें रहते थे तबतक
दानपूजादि शुभ क्रियायें करते थे चारप्रकारके सपकी सेवा करते थे । इसलिये पहले
समयमें तो ज्ञानोत्पत्तिके अनेक कारण थे ज्ञान उत्पन्न होनेका अवकाश नहीं था ।
लेकिन अब इस पंचमकालमें इतनी सामग्री नहीं है । ऐसा कहा भी है कि इस
पंचमकालमें देवोंका आगमन तो बंद होगयाहै और कोई अतिशय नहीं देखा जाता ।
यह काल धर्मके अनिश्चयसे रहित है और केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे रहित है तथा
हलधर चक्रवर्ती आदि शालका पुरुषोंसे रहित है ऐसे दुःप्रमत्तकालमें जो भव्य जीव
धर्मको धारण करते हैं मर्त्य श्रवणके मत आचरते हैं यह अवकाश है । ये पुरुष धन्य
हैं सदा प्रशंसा योग्य हैं ॥ २७० ॥

आगे मनके जीतनेसे इंद्रियोंका जय होता है जिसने मनको जीता उसने सन

पंचहं इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । पंचहं पंचज्ञानप्रतिपक्षभूतानां पंचेंद्रियाणां णायकु रागादिविकल्परहितपरमात्मभावनाप्रतिकूलं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपप्रभृतिसमस्तपञ्चानजनितविकल्पजालरूपं मनो नायकं हे मन्त्र्याः वसि करहु विगिष्ट-भेदभावनाकुशबलेन स्वाधीनं कुरुत । येन स्वाधीनेन किं भवति । जेण हुंति वसि अण येन वशीकृतेनान्यानीन्द्रियाणि वशीभवन्ति । दृष्टांतमाह । मूल विणदइ तरुवरहं मूले विनष्टे तरोर्ध्वक्षस्य अवसदं मुकहि एण्ण अवश्यं नियमेन शुष्यन्ति पर्णानि इति । अयमत्र भावार्थः । निजशुद्धात्मतत्त्वभावनार्थं येन केनचित्प्रकारेण मनोजयः कर्तव्यः तस्मिन् कृते जितेंद्रियो भवति । तथा चोक्तं । “येनोपायेन शक्येत सम्रियंतुं चलं मनः । स एवोपाय-नीयोऽत्र न चैव विरमे ततः” ॥ २७१ ॥

अथ हे जीव विषयासक्तः सन् कियंतं कालं गमिष्यसीति संशोधयति—

विसयासत्ताउ जीव तुहुं, किस्सिउ कालु गमीस्सि ।

सिधुसंगमु करि णिचलउ, अवस्सि मुक्खु लहीस्सि ॥ २७२ ॥

विषयासक्तः जीव त्वं कियंतं कालं गमिष्यसि ।

शिपसंगमं कुरु निश्चलं अवश्यं मोक्षं लभसे ॥ २७२ ॥

इन्द्रियोको जीतलिया ऐसा व्याख्यान करते हैं—[पंचानां नायकं] पांच इंद्रियोके स्वामी मनको [वशं कुरुत] तुम वशमें करो [येन] जिस मनके वश होनेसे [अन्यानि वशीनि भवन्ति] अन्य पांच इंद्रियें वशमें हो जाती हैं । जैसे कि [तरुवरस्य] वृक्षकी [मूले विनष्टे] जड़के नाश होजानेसे [पर्णानि] पत्ते [अवश्यं शुष्यन्ति] निश्चयसे सूख जाते हैं । भावार्थ—पांचवों ज्ञान जो केवलज्ञान उससे परान्युस एव रमना प्राण वस्तु श्रोत्र इन पांच इंद्रियोका स्वामी मन है जो कि रागादि विकल्परहित परमात्माकी भावनासे विमुक्त और देहों सुने भोगे हुए भोगोंकी बांछा रूप आर्त रीति छोटे ध्यानोंको आदि लेकर अनेक विकल्पबाधमें मन है । ऐसा यह पंचव्यसनरूपी हस्ती उमको भेद विज्ञानकी भावनारूप अंकुशके बलसे वशमें करो अपने आधीन करो । जिसके वश करनेसे सब इंद्रियें वशमें होसकती हैं जैसे जड़के टूट जानेसे वृक्षके पत्ते धाव ही गूम जाते हैं । हमन्त्रिये निज शुद्धात्मकी भावनाकेलिये जिग जिग तरह मनको जीतना चाहिये । ऐसा ही अन्य जगह भी कहा है कि, जिस उपायसे पंचव्य मन वश होमके वही उपाय मनका स्वीकार करना चाहिये उम उपायमें उदास नहीं होना । जलनमें उदास होकर मन जीतनेका उपाय करना ॥ २७१ ॥

अग्रे ऊँचको दर्शन देने है कि हे जीव नृ विषयोमें जीन होकर अनंतकाय नष्ट

विमल इत्यादि । विषयामण्ड शुद्धात्मभावोत्पत्तिरागपरमानन्दम्भरिपारमार्थिक-
शुभानुभवरहितत्वेन विषयामणो भूत्वा जीव हे अज्ञानजीव तुहं त्वं कित्तिउ काल
गमीमि विपत्तं कालं गमिष्यसि बहिर्मुखभावेन गयसि । तर्हि किं करोमीति प्रत्युत्तरमाह ।
सिधसंगम कुरि शिवशब्दवाच्यो योगी केवलज्ञानदर्शनस्वभावस्थतीयशुद्धात्मा तत्र संगमं
गमयं गुरु । कथंभूतं । निश्चलउ घोरोपमर्गपरीपहप्रस्तावेपि मेरुवस्तिअलं तेन निश्चलात्म-
ध्यानं अवसद मुवरु लहीसि नियमेनानंतज्ञानादिगुणास्पदं मोक्षं लभसे स्वमिति
तापयेम ॥ २७२ ॥

अथ शिवशब्दवाच्यशुद्धात्मसंगमोत्तरां मा कार्पाञ्चमिनि पुनरपि संशोधयति;—

इह सिधसंगमु परिहरिचि, गुरुवड कर्हि वि म जाहि ।

जे सिधसंगमि लीण णचि इफरु संहता वाहि ॥ २७३ ॥

इमं शिवसंगमं परिहृत्य गुरुवर कापि मा गच्छ ।

ये शिवसंगमे लीना नैव दुःखं सहमानाः पश्य ॥ २७३ ॥

इह इत्यादि । इह इमं प्रत्यक्षीभूतं शिवसंगमं शिवसंगमं शिवशब्दवाच्योऽनंतज्ञानादि-
स्वभावः स्वशुद्धात्मा तस्य रागादिरहितं संबंधं परिहरिचि परिहृत्य स्वतया गुरुवड हे
तपोधन कर्हिचि म जाहि शुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूते मिथ्यास्वरगादी कापि गमनं

तो मोक्षका साधन कर ऐसा संशोधन करते हैं;—[जीव] हे अज्ञानी जीव [त्वं] तू
[विषयासक्तः] विषयोभि आसक्त होके [कियंतं कालं] कितना काल [गमिष्यसि]
विषयापेगा [शिवसंगमं] अथ तो शुद्धात्माका अनुभव [निश्चलं] निश्चलरूप [गुरु]
कर, जिससे कि [अवश्यं] अवश्य [मोक्षं] मोक्षको [लभसे] पावेगा । भाषार्थ—
हे अज्ञानी तू शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न वीतराग परम आनंदरूप अनिनाशी सुखके
अनुभवसे रहित हुआ विषयोभि लीन होकर कितने कालतक भटकेंगा । पहले तो
अनंतकाल तक भ्रमा अव भी भ्रमणसे नहीं थका तो बहिर्मुखपरिणामकरके कब तक
भटकेंगा । अथ तो केवलज्ञान दर्शनरूप अपने शुद्धात्माका अनुभवकर निज भावोंका
संबंध कर । घोर उपसर्ग और बार्हस परीसहकी उत्पत्तिमें भी सुमेरुके समान निश्चल जो
आत्मध्यान उसको धारण कर । उसके प्रसादसे निःसंदेह मोक्ष पावेगा । जो मोक्ष
पदार्थ अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंत सुख अनंत वीर्योदि अनंत गुणोंका ठिकाना है
तो विषयके त्यागसे अवश्य मोक्ष पावेगा ॥ २७२ ॥

आगे निजस्वरूपका ससर्ग तू मत छोड़े निजस्वरूप ही उपादेय है ऐसा ही बार २
उपदेश करते हैं;—[गुरुवर] हे तपोधन [शिवसंगं] आत्मकल्याणको [परिहृत्य]
छोडकर [कापि] तू कही भी [मा गच्छ] मत आ [ये] जो कोई अज्ञानी जीव

मा कार्षीः जे सितसंगमु लीण णवि ये केचन विषयकपायाधीननया शिवेश्वरेश्वरे
स्वशुद्धात्मनि लीनास्त्वया न भवन्ति दुक्खु सहंता वाहि व्याकुलत्वलक्षणं दुक्खं
सहमानास्संतः पश्येति । अत्र स्वकीयदेहे निश्चयनयेन तिष्ठति योसौ केवलज्ञानाद्यनंतगु-
णमहितः परमात्मा स एव शिवश्चत्वेन सर्वत्र ज्ञातव्यो नान्यः कोपि शिवनामा
व्याप्येको जगत्कर्तेति भावार्थः ॥ २७३ ॥

अथ सम्यक्संबुद्धेयत्वं दर्शयति;—

कात्तु अणाइ अणाइ जिउ, भवसायरुवि अणंतु ।

जीविं विणिण ण पत्ताइं, जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥ २७४ ॥

कात्तः अनादिः अनादिः जीवः भवसागरोपि अनंतः ।

जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनः स्वामी सम्यक्त्वं ॥ २७४ ॥

कात्तु इत्यादि । कात्तु अणाइ गनकालो अनादिः अणाइ जिउ जीवोऽयनादिः
भवसायरुवि अणंतु भवः संसारस्म एव समुद्रः सोऽयनादिरनंतश्च जीविं विणिण ण
पत्ताइं एवमनादिकाले मिथ्यात्वरागागधीननया निजशुद्धात्मभावनाभ्युतेन जीवेन द्वयं न
लभ्यं । द्वयं किं । जिणु सामिउं सम्मत्तु अनंतज्ञानादिचतुष्टयसहितः क्षुपाद्यष्टादशोप-

[शिवसंगमे] निजभावमें [नैव लीनाः] नहीं लीन होते हैं वे सब [दुःखं]
दुःखको [सहमानाः] सहते हैं ऐसा तू [पश्य] देख । भावार्थ—यह आत्मकल्याण
मन्त्रश्रमे संसार सागरके तैरनेका उपाय है उसको छोड़कर है तपोपन तू शुद्धात्माकी
भावनाके क्षण जो मिथ्यात्वरागादि हैं उनमें कभी गमन मत कर केवल आत्मस्वरूपमें
मग्न रह । जो कोई अज्ञानी विषयकषायके बन्ध होकर शिवमग्न (निजभाव) में
लीन नहीं रहने उनको व्याकुलस्वरूप दुःख भववनमें सहता देख । संसारी जीव सभी
व्याकुल हैं दुःख रूप हैं कोई सुखी नहीं है एक शिवपद ही परम आनंदका धाम
है । जो अपने स्वभावमें निश्चयनयकर ठहरनेवाला केवल ज्ञानादि अनंतगुण महित
परमात्मा उसीका नाम शिव है ऐसा सब जगह जानना । अथवा शिवायका नाम
शिव है अन्य कोई शिव नामका पदार्थ नहीं है, ऐसा कि नैवाधिक वैशेषिकोंने
जगतका कला हलां कोई शिव माना है ऐसा तू मत माने । तू अपने स्वस्वको अपना
केवलज्ञानिको अपना मोक्षपदको शिव समझ । वही ही शिवसागरकी
प्राज्ञा है ॥ २७३ ॥

अथ सम्यक्संबुद्धको दुक्खं दर्शयति,—[कात्तः अनादिः] अनादी अनादि
है [जीवो अनादिः] जीव भी अनन्त है जो [भवसागरादपि] समुद्रमग्न भी
है [जिणु सामिउं सम्मत्तु] अनंतज्ञानादिचतुष्टयसहितः ।

रहितो जिनस्वामी परमाराध्यः । “सिखसंगु सम्मत्तु” इति पात्रांतरे न एव निव-
शब्दवाच्यो न पान्यः पुरुषविशेषः । सम्यक्सत्त्वज्ञेन तु निश्चयेन शुद्धात्मातुभूतिलभनं
वीतरागसम्यक्सत्त्वं व्यवहारेण तु वीतरागमवैशंपरीतसद्ब्रह्मादिभट्टानरूपं मरागमस्यस्त्वं
चेति भावार्थः ॥ २७४ ॥

जिनराज स्वामी और सम्यक्सत्त्व [दे] ये दो [न प्राप्ते] नहीं पाये । भावार्थ—
काल जीव संसार ये तीनों अनादि हैं उगने अनादिकालसे भटकते हुए इन जीवने
मिथ्यात्वरागादिकके बंध होकर शुद्धात्मस्वरूप अपना न देखा न जाना । यह हमारी
जीव अनादिकालसे आत्मज्ञानकी भावनासे रहित है । इस जीवने स्वयं गरक राश्यादि
सब पाये परंतु ये दो बन्धु न मिली एक तो सम्यग्दर्शन न पाया दूसरे श्रीजिनराज
स्वामी न पाया । यह जीव अनादिका मिथ्यादृष्टि है और शुद्ध देवीका उपासक है ।
श्रीजिनराज भगवानकी भक्ति इसके कभी नहीं हुई अन्य देवीका उपासक हुआ
सम्यग्दर्शन नहीं हुआ । यहां कोई प्रश्न करे कि अनादिका मिथ्यादृष्टि होनेसे सम्यक्सत्त्व
नहीं उत्पन्न हुआ यह तो ठीक है परंतु जिनराजस्वामी न पाये देगा नहीं होमकना
क्योंकि “भवि भवि जिण पुञ्जिउ गुरु वंदिउ” ऐसा शास्त्रका वचन है अर्थात् भव भवने
इस जीवने जिनवर पूजे और गुरु वंदे । परंतु गुम कहते हो कि इस जीवने भगवन्में
भ्रमते जिनराजस्वामी नहीं पाये ॥ उसका समाधान ॥ जो भावभक्ति इसके कभी न
हुई भावमत्ति तो सम्यग्दृष्टीके ही होती है और बाह्यौत्थिक भक्ति इसके संस्कारके
प्रयोजनकेलिये हुई यह गिनतीमें नहीं । ऊपरकी सचवात निःसार (धोधी) है भाव
ही कारण होते हैं जो भावभक्ति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती । शारी जीव ही जिनराजके
दास है तो सम्यक्सत्त्व निना भावमत्तिके अभावसे जिनस्वामी नहीं पया इसमें सन्देह
नहीं है । जो जिनवर स्वामीकी पाते तो उसीके समान होने ऊपरकी लोपदिम्बर रूप
भक्ति हुई तो पित्त कामकी, यह जानना । अब श्री जिनदेवका और सम्यग्दर्शनका
स्वरूप गुनो । अनंत ज्ञानादि षण्मुखा सहित और शुभादि अष्टारह दोष रहित है ये
जिनस्वामी हैं ये ही परम आराधने योग्य है तथा शुद्धात्मज्ञानरूप निश्चयमस्यत्त्व
(वीतराग सम्यक्सत्त्व) अथवा वीतराग सर्वशदेवके उपदेशों हुए यह दम्भ सात तत्त्व हैं
पशार्थ और पांच अस्त्रिकाय उनका ध्यानरूप साराग सम्यक्सत्त्व ये निश्चय व्यवहार हो
प्रकारका सम्यक्सत्त्व है । निश्चयका नाम वीतराग है व्यवहारका नाम साराग है । एक ओ
धीये पदका यह अर्थ है और दूसरे ऐसा पाठ है “सिखसंगु सम्मत्तु” इसका अर्थ देने
है कि सिख ओ श्री जिनदेव उनका संगम अर्थात् भावभजन इस प्रकार होती हुआ
और सम्यक्सत्त्व नहीं उत्पन्न हुआ । सम्यक्सत्त्व होने तो परमात्मका श्री परचर होवे ॥ २७५ ॥

अथ शुद्धात्मसंवित्तिमाधकतपश्चरणप्रतिपन्नभूतं गृहवासं दूषयति;—
 घरवासउ मा जाणि जिय, दुक्कियवासउ एहु ।

पासु कयंतें मंडियउ, अविचलु निस्संदेहु ॥ २७५ ॥

गृहवासं मा जानीहि जीव दुष्कृतवास एषः ।
 पाशः कृतातेन मंडितः अविचलः निस्संदेहं ॥ २७५ ॥

पर वासउ इत्यादि । घरवासउ गृहवासं अत्र गृहजन्मेन वाममुद्भवभूता स्त्री प्राप्ता ।
 तथाचोक्तं । “न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते” । मा जाणि जिय हे जीव त्वमात्म-
 हितं मा जानीहि । कथंभूतो गृहवामः । दुक्कियवामउ एहु समस्तदुःकृतानां पापानां
 वामः स्थानमेव पासु कयंतें मंडियउ अमानिजीवबंधनार्थं पामो मंडितः । केन ।
 कृतांतनाम्ना कर्मणा । कथंभूतं । अविचलु शुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिपन्नभूतेन मोहबंधनेना-
 बंधत्वादचलः निस्संदेहु संदेहो न कर्तव्य इति । अयमत्र भावार्थः । विशुद्धज्ञानदर्शनस्व-
 भावपरमात्मपदार्थभावनाप्रतिपन्नभूतैः कपाथेन्द्रियैः व्याकुलीक्रियते मनः मनःशुद्धपभावे
 गृहस्थानां तपोधनवत् शुद्धात्मभावना कर्तुं नापातीनि । तथा चोक्तं । “कपायैरिन्द्रियैर्दुष्टैः
 व्याकुलीक्रियते मनः । यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिभिः” ॥ २७५ ॥

आगे शुद्धात्मज्ञानका साधक जो तपश्चरण उसके सत्रुरूप गृहवामको दोष देते
 हैं;—[जीव] हे जीव तू इसको [गृहवासं] पर वाम [मा जानीहि] मत
 जाने [एषः] यह [दुष्कृतवासः] पापका निवासस्थान है [कृतातेन] यमराजने
 (कालने) अज्ञानी जीवोंको बाधनेकेलिये यह [पाशः मंडितः] अनेक कांशोसे
 मंडित [अविचलं] बहुत मजबूत बंदीस्थान बनाया है हममें [निस्संदेहं] संदेह
 नहीं है । भावार्थ—यहां पर शब्दमे मुख्यरूप स्त्री जानना स्त्री ही परका मूल है
 स्त्री बिना गृह वास नहीं कहलाता । ऐसा ही दूसरे शास्त्रोंमें भी कहा है कि परको
 र मत जानो स्त्री ही पर है जिन पुरुषोंने स्त्रीका त्याग किया उन्होंने परका त्याग
 किया । यह पर मोहके बंधनकर अनि दृष्ट बना हुआ है इसमें संदेह नहीं है । यहां
 पर्यं ऐसा है कि शुद्धात्म ज्ञान दर्शन शुद्ध भावरूप जो परमात्म पदार्थ उसी
 नामे विमुख जो उपपन्न कपाय है उनमें यह मन व्याकुल होता है । इसलिये
 कि शुद्धिके बिना शुद्धस्वक धर्मीका तरह शुद्धा माका ज्ञान नहीं होता । इसकारण
 व्याग करना यथार्थ परक जानना व्याग मन शुद्ध नहीं होता । इसकारण
 भी कहा है कि कपायान्तर एत एत दुष्ट दुःस्थायी मन व्यभिचर होता है इसलिये

अथ गृहममत्वत्यागानंतरं देहममत्वत्यागं दर्शयति,—

३॥ देहवि जित्यु ण अप्पणउ, तहिं अप्पणउ किं अण्णु ।

परकारणि मण गुरुव तुहं, सिवसंगमु अवगण्णु ॥ २७६ ॥

देहोपि यत्र नात्मीयः तत्रात्मीयः किमन्ये ।

परकारणे मा मुय त्वं शिवसंगमं अवगण्य ॥ २७६ ॥

देहवि इत्यादि । देहवि जित्यु ण अप्पणउं देहोपि यत्र नात्मीयः तहिं अप्पणउ किं अण्णु सत्रात्मीयः किमन्ये पदार्थो भवन्ति किं तु नैव । एवं ज्ञात्वा परकारणि परम देहस्य बहिर्भूतस्य जीवन्माभरणोपकरणादिपरिमहनिमित्तेन मण गुरुव तुहं शिवसंगमु अवगण्णु हे तपोधन शिवशब्दवाच्यगुह्यात्मभावनात्यागं मा कारीरिति । तथादि । अमूर्तेन धीतरागस्यभावेन निजगुह्यात्मना सह व्यवहारेण क्षीरमीरबदेकीभूत्वा निष्ठिति योगी देहः सोपि जीवम्यरूपं न भवति इति ज्ञात्वा बहिःपदार्थे ममत्वं त्यक्त्वा गुह्यात्मानुभूतिवशात् धीतरागनिर्विकल्पममाधी भित्त्वा च सर्वनात्ययेण भावना कर्मव्येव्यभिप्रायः ॥ २७६ ॥

अथ तमेवार्थं पुनरपि प्रकारांतरेण प्यार्कं करोति,—

करि सिवसंगमु एकु पर, जहिं पाधिज्जइ सुयणु ।

जोइय अण्णु म पिति तुहं, जेण ण लब्भइ गुररु ॥ २७७ ॥

गुरु शिवसंगमं एकं परं यत्र प्राप्यते सुखं ।

योगिन् अयं मा जितम त्वं येन न लभ्यते मोक्षः ॥ २७७ ॥

करि इत्यादि । करि कुः । कं । सिवसंगमु शिवशब्दवाच्यगुह्यगुह्यभावनिजगु-

ज्ञाने परकी ममता गुह्याकर शरीरका गमत्व गुह्यादे हे—[यत्र] शिव गम्यते [देहोपि] शरीर भी [आत्मीयः न] अपना नहीं है [तत्र] उसमें [अण्ये] अन्य [आत्मीयः किं] कौन अपना होमकता है [त्वं] इसकाण तु [शिवसंगमं] मोक्षका संगम [अवगण्य] छोड़कर [परकारणे] पुत्र स्त्री दत्त आभूषण आदि उपकरणोंमें [मा मुय] गमत्व गत कर । भावार्थ—अगूर्वं धीतराग भवत्प जे निजगुह्यात्मा उससे व्यवहार नयकर दूषणार्थीका तरह यह देह एकमेक हो रहा है ऐसा देह, जीवका स्वरूप नहीं है तो पुत्र बलप्रादि धन धान्यादि अपने निम लग्न हो सकेगे । ऐसा जानकर बाह्यपदार्थोंमें मगना छोड़कर गुह्यात्माकी अनुभूतिवश जे धीतराग निर्विकल्प समाधि उसमें टट्टर कर सब प्रकारसे गुह्योपयोगी भावना करनी चाहिये ॥ २७६ ॥

आगे रही अर्थको फिर भी हमरी तरह प्रगट करने है,—[योगिन्] हे योगी दत्त [त्वं] तु [एकं शिवसंगमं] एक निजगुह्यात्माकी ही गमत्व [परं] ब्रह्म

बालभावनासंमर्गं तदु पर तमेवैकं जहिं पाविजइ मोरगु य मनुष्यं
प्राप्यते । किं । अक्षयानंतमुरं जोइय अणु म चिंति तुहं दे योगिन समानतामर्गं
मा कार्यामर्गं जेण ण लब्धइ येन कारणेन यहिंश्रितया न लभ्यते । सोनै । इति
अव्यावाधनुसादिलक्षणो मोक्ष इति तात्पर्यं ॥ २७७ ॥

अथ भेदाभेदरत्नप्रयभावनारहितं मनुष्यजन्म निम्मारमिति निश्चिनोति;—

यलि किउ माणुसजन्मइ, देखंतहं पर सार ।

जइ उद्वम्भइ तो कुहइ, अइ उज्झइ तो छार ॥ २७८ ॥

यलिः कियते मनुष्यजन्म पश्यतां परं सारं ।

यदि अवष्टभ्यते ततः कुत्सयते अथ दहते तर्हि क्षारः ॥ २७८ ॥

यलि किउ इत्यादि । यलि किउ यलिः कियते मनुष्यजन्मोपरितनमागेतावनारणं किलो
किं । माणुसजन्मइ मनुष्यजन्म । किं विनिष्टं । देखंतहं पर सार यहिंमो गवर्त
रेण पश्यतामेव सारभूतं । कछान् । जइ उद्वम्भइ तो कुहइ यद्यवष्टभ्यते भूमी निजि
ततः कुत्सितरूपेण परिणमति अइ उज्झइ तो छार अथवा दहते तर्हि मल भवति ।
तद्यथा । हस्तिदरीरे दंताभ्रमरीदरीरे केशा इत्यादि सारत्वं तिर्पक् दरीरे दह्यते, मनुष्य-
दरीरे किमपि सारत्वं नास्तीति ज्ञात्वा पुण्यभक्षितेमुद्वेहवत्परलोक्षीजं कृत्वा निम्मारमं
सारं कियते । कथमिति चेन् । यथा पुण्यभक्षितेमुद्वेहं बीते कृते सति विशिष्टेभूतं

[कुह] कर [यत्र] जिसमें कि [सुखं प्राप्येत] अतींद्रिय सुख पावै [अन्यं मा]
अन्य कुछ भी मत [चिंतय] चिंतवन कर [येन] जिससे कि [मोक्षः न लभ्यते]
मोक्ष न मिले । मारार्थ—हे जीव तू शुद्धबुद्ध अलंघ्य स्वभाव निज शुद्धात्मका चिंतन
कर यदि तू निवर्तन करेगा तो अतींद्रिय सुख पायेगा । जो अनंतसुखको प्राप्त हुए
केवल आत्मध्यानसे ही प्राप्त हुए दूसरा कोई उपाय नहीं है । इसलिये हे योगी तू अब
कुछ भी चिंतवन मत कर परके चिंतवनसे अव्यावाध अनंतसुखरूप मोक्षको नहीं पावेगा
इसलिये निज स्वरूपका ही चिंतन कर ॥ २७७ ॥

आगे भेदाभेद रत्नप्रयकी भावनासे रहित जीवका मनुष्यजन्म निष्फल है ऐसा कहने
है;—[मनुष्यजन्म] इस मनुष्यजन्मको [यलिः कियते] पश्यकें ऊपर बार हाथे
जो हि [पश्यतां परं सारं] देखनेमें केवल सार दीखता है [यदि अवष्टभ्यते]
जो इस मनुष्यदेहको भूमिमें गाढ़ दिया जावे [नतः] तो [कुत्सयते] सहकर उध-
रकर पारिजते [अथ] जो [दहते] जगहसे [तर्हि] तो [क्षारः] गम हो
जाता है । मारार्थ—इस मनुष्यदेहको जबदूर नयते बादरमें देखो तो सार प्राप्त

लामो भवति तथा निःसारशरीराधारेण वीतरागमहजानंदैकस्वशुद्धात्मस्वभावमन्यद्ब्रह्म-
नशानानुचरणरूपनिश्चयरत्नप्रयभावनावलेन तत्साधक्यवहाररत्नप्रयभावनान्वलेन स्वर्गोप-
पन्नफलं गृह्यत इति सात्पर्यं ॥ २५८ ॥

अथ देहस्यानुचित्वानित्यत्वादिप्रतिपादनरूपेण व्याख्यानं करोति पट्कलेन तथाहि,—

उच्चलि चोप्पट्टि चिट्ठ करि, देहि सुमिहाहार ।

देहहं सयल गिरत्थ गय, जिमु दुज्जणि उययार ॥ २७९ ॥

उद्धर्तय प्रक्षय चेष्टां कुरु देहि सुमुष्टाहारान् ।

देहस्य सकलं निरर्थं गताः यथा दुर्जने उपकाराः ॥ २७९ ॥

उच्चलि इत्यादि पदरसंभनारूपेण व्याख्यानं कियते । उच्चलि उद्धर्तने कुरु चोप्पट्टि
वैलाविन्नभ्रणं कुरु चिट्ठ करि मंदनरूपां चेष्टां कुरु देहि सुमिहाहार देहि सुमुष्टा-
हारान् । कस्य । देहहं देहस्य सयल गिरत्थ गय सकलमपि विशिष्टादारादयो निरर्थका
गताः । केन दृष्टान्तेन । जिमु दुज्जणि उययार दुर्जने यथोपकारा इति । तदुदा ।
यद्यप्ययं कायः खलस्तथापि किमपि भ्रामादिकं दत्त्वा अभिरेणापि भ्रिं मोक्षमाप्त्यं

होता है यदि विचार करो तो कुछ भी सार नहीं है । तिर्यचोंके शरीरमें तो कुछ गार
भी दीरता है जैसे हाथीके शरीरमें दाँत सार है मुरह गौके शरीरमें बाज सार है
इत्यादि । परंतु मनुष्यदेहमें सार नहीं है पुणमें स्थाये हुए गलेसी तरह मनुष्यदेहको
असार जानकर परलोकका बीज करके सार करना चाहिये । जैसे पुणोंका स्थाया हुआ
ईस किसी कामका नहीं है एक बीजके कामका है सो उसको बोझ असारसे सार किया
जाता है उसी प्रकार मनुष्यदेह किसी कामका नहीं परंतु परलोकका बीजकर अगारको
सार करना चाहिये । इस देहसे परलोक सुधारना ही भेद है । जैसे पुणमें स्थाये गये
ईसको बोनेसे अनेक ईसोंका लाभ होता है वैसे ही इस असार शरीरके आधारसे
पीतराग परमानंद शुद्धात्मस्वभावका सत्यक अज्ञान शून्य आचरणरूप निश्चयारत्नप्रय
भावनाके बलसे मोक्ष प्राप्त भी जाती है और निश्चयरत्नप्रयका साधक ओ अद्वय
रत्नप्रय उसकी भावनाके बलसे स्वर्ग मिलता है तथा परंपरासे मोक्ष होनी है । यह मनु-
ष्यशरीर परलोक सुधारनेकेलिये होवे सभी सार है नहीं तो सर्वका अगार है ॥ २७८ ॥

आगे देहको अशुचि अनित्य आदि दिसानेका छह गाथाओंमें व्याख्यान करने हैं,—
[देहस्य] इस देहका [उद्धर्तय] उबरना करो [प्रक्षय] तेजदिकका मंदन करो
[चेष्टां कुरु] गंगा आदिसे अनेक प्रकार सज्जभो [सुमुष्टाहारान्] अच्छे २ निद
आहार [देहि] दे लेनि [सकलं] ये सब [निरर्थं गताः] सब व्यर्थ हैं [दत्त्वा]
जैसे [दुर्जने] दुर्जनोंका [उपकाराः] उपकार करना इच्छा है । आहार—दे-

दुष्कृतं इत्यादि । दुष्कृतं कारणं बीतरागतात्त्विकानंदरूपान् शुद्धात्ममुग्धाद्विलभनस्य
 नारकादिदुःखस्य कारणं मुणिवि मत्वा । क । मणि मनसि । कं । देहुवि देहमपि एहु
 इमं प्रलम्भीमूतं चयंति देहममत्वं त्यजंति शुद्धात्मनि स्थित्वा जित्पु ण पावहिं यत्र देहे न
 प्राप्नुवंति । किं । परममुहु पंचेंद्रियविषयातीतं शुद्धात्मानुभूतिमंपन्नं परममुगं तित्पु किं
 संत वसंति यत्र देहे संतः सत्पुरुषाः किं वसंति शुद्धात्ममुगसंतोयं मुत्तया तत्र किं रतिं
 कुर्वंति इति भावार्थः ॥ २८४ ॥

अप्यायत्तमुग्गे रतिं कुर्वंति दर्शयति;—

अप्पायत्तउ जं जि सुहु, तेण जि करि संतोसु ।

पर सुहु यद गिनंताहं, हियह ण फिट्ठ सोसु ॥ २८५ ॥

आत्मायत्तं यदेव गुणं तेनेव कुरु संतोषम् ।

परं गुणं वस विनयतां हृदये न नश्यति शोषः ॥ २८५ ॥

अप्पायत्त इत्यादि । अप्पायत्तउ अन्यद्रव्यभिरपेक्षारहितान्माणीनं जं जि सुहु यदेव
 एकात्मगं विनिगमुत्तमं गुणं तेण जि करि संतोसु तेनेव तत्तनुभवेनेव संतोषं कुरु पर

सुदृढ चित्तं ताहं इन्द्रियाधीनं परममुग्रं विनयनं वत्स मित्रं हृदि न सिद्धं सोऽगु
हृदये न नश्यति शोषोन्तर्नाहं इति । अत्राध्यात्मरतिस्वाधीनाविच्छेदविमोघरहिता च,
भोगरतिस्तु पराधीना यद्वेरिषनैरिव समुद्रस्य नदीसहस्रैरिवावृणिकृता च । एवं ज्ञात्वा
भोगमुग्रं त्यक्त्वा “एदस्मि रदो णिषं संतुद्रो होदि णिषमेदस्मि । एदेण होहि निष्को तो
होहदि उत्तमं सुकरं” इति गाथाकथितलक्षणं अध्यात्ममुग्रे भित्त्वा च भावना वर्तयेति
सात्पर्यं । तथा श्लोकः । “निष्कट्टेण व अग्गी सवणममुरो णदीसहस्मेहि । ण इमो जीरो
सको विप्पेदुं कामभोगोहि” ॥ अध्यात्मशब्दस्य व्युत्पत्तिः कियते—मिध्यान्वविषयकपायादि-
षदिर्द्रव्ये निराखणत्वेनात्मन्यनुष्ठानमध्यात्मं ॥ २८५ ॥

अध्यात्मनो ज्ञानस्वभावं दर्शयति;—

अप्पहं णाणु परिचययि, अपणु ण अत्थि सहाउ ।

इव जाणेविणु जोहयहु, परहं म यंचउ राउ ॥ २८६ ॥

आत्मनः ज्ञानं परित्यज्य अन्यो न अस्ति सभावः ।

इवं ज्ञात्वा योगिन् परस्मिन् मा वधान रागम् ॥ २८६ ॥

उसीमें [संतोष] संतोष [कुरु] कर [परं गुरु] इन्द्रियाधीन सुमको [विनयपता]
चितवन करनेवालोंके [हृदये] चितका [शोषः] दाह [न नश्यति] नहीं मिटता ।
भावार्थ—आत्माधीन सुख आत्माके जाननेसे उत्पन्न होता है इसलिये नू आत्माके
अनुभवसे संतोष कर भोगोंकी याँछा करनेसे चित्त शांत नहीं होता । जो अध्यात्मकी
मीति है वह स्वाधीनता है इसमें कोई विषय नहीं है और भोगोंका अनुगम वह पराधी-
नता है । भोगोंकी भोगते कभी वृत्ति नहीं होती । जैसे अग्नि ईंधनसे लुप्त नहीं होती
और सैकड़ों नदियोंमें समुद्र लुप्त नहीं होता उसीतरह इन्द्रियमुखोंसे कभी वृत्ति नहीं
होती एक आत्ममुखसे ही वृत्ति होती है । ऐसा ही समयसारमें कहा है कि हेम (२४)
नू इस आत्मस्वरूपमें ही सदा स्थित हो और सदा इसीमें संतुष्ट हो । इसीमें नू लुप्त
होगा और इसीसे ही तुझे उत्तम सुखकी प्राप्ति होगी । इस कथनमें अध्यात्मसुखमें
टहरकर निजस्वरूपकी भावना करनी चाहिये और कामभोगोंमें कभी वृत्ति नहीं हो
सकती । ऐसा कहा भी है कि जैसे लुप्त काष्ठ आदि ईंधनसे अग्नि लुप्त नहीं होती और
हजारों नदियोंसे लक्षणसमुद्र लुप्त नहीं होता उसीतरह वह ईश्वर काम भोगोंसे लुप्त नहीं
होता । इसलिये विषयमुखोंको छोड़कर अध्यात्मसुखका सेवन करना चाहिये । आत्म-
सुखका समुदाय करते हैं—मिध्यान्वविषय कषाय आदि दाह दाहयेंका अवगंजन
(सदाश) छोड़ना और आत्मामें लड्डीन होना वह अध्यात्म है ॥ २८५ ॥

अप्पहं इत्यादि । अप्पहं शुद्धात्मनः शाणु परिचयविं वीतरागम्यमवेदनज्ञानं त्वत्
अणु ण अत्थि सहाउ अन्यो ज्ञानाद्विघ्नः स्वभावो नास्ति इउ जाणेविणु इदमात्म-
शुद्धात्मज्ञानं स्वभावं ज्ञात्वा जोइयहु योगिन् परहं म वंधउ राउ परग्गिन् शुद्धात्म-
विलक्षणे देहे रागादिकं मा कुन तस्मान् । अत्रात्मनः शुद्धात्मनः शुद्धात्मज्ञानम्वरूपं ज्ञात-
रागादिकं त्यक्त्वा च निरंतरं भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ २८६ ॥

अथ स्यात्प्रोपलंभनिमित्तं चित्तस्थितिकरणरूपेण परमोपदेशं पंचकलेन दर्शयति;—

विसयकसायहि मण सलिल, ण वि डहुलिज्जइ जासु ।

अप्पा णिम्मलु होइ लहु, चढ पधक्खु वि तासु ॥ २८७ ॥

विषयकपायैः मनःसलिलं नैव क्षुभ्यते यस्य ।

आत्मा निर्मलो भवति लघु वत्स प्रत्यक्षोपि तस्य ॥ २८७ ॥

विसय इत्यादि । विसयकसायहिं मण सलिलु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मजलचराक्षीर्णममा-
रसागरे निर्बिषयकपायरूपान् शुद्धात्मवत्त्वान् प्रतिपक्षभूतैर्विषयकपायमहाबातैर्मनःप्रचुर-
सलिलं णवि डहुलिज्जइ नैव क्षुभ्यते जासु यस्य भव्यवरपुंडरीकस्य अप्पा णिम्मलु
होइ लहु आत्मा रत्नविशेषो अनादिकाद्वरूपमहापाताले पतितः मनः रागादिमलपरिहारेण
लघु शीघ्रं निर्मलो भवति चढ वत्स । न केवलं निर्मलो भवति पधक्खुवि शुद्धात्मा परम
इत्युच्यते तस्य परमस्य कला अनुभूतिः परमकला एव दृष्टिः परमकलादृष्टिः तथा परम-

आगे आत्माका ज्ञानस्वभाव दिखलते हैं;—[आत्मनः] आत्माका निजस्वभाव
[ज्ञानं परित्यज्य] वीतरागलसंवेदन ज्ञानके सिवाय [अन्यः स्वभावः] दूसरा स्वभाव
[न अस्ति] नहीं है आत्मा केवलज्ञानस्वभाव है [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर
[योगिन्] हे योगी [परसिन्] पर वस्तुसे [रागं] मोति [मा प्रधान] मत बाधै
मतकर । भावार्थ—पर जो शुद्धात्मासे भिन्न देहादिक उनमें राग मतकर आत्माका
ज्ञानस्वरूप जानकर रागादिक छोड़के निरंतर आत्माकी भावना करनी चाहिये ॥ २८६ ॥

आगे आत्माकी प्राप्तिकेलिये चित्तको स्थिर करना ऐसा परम उपदेश श्रीगुरु दित-
लाते हैं;—[यस्य] जिसका [मनःसलिलं] मनरूपी जल [विषयकपायैः] विषय-
कपायरूप प्रचंडपवनसे [नैव क्षुभ्यते] नहीं चलायमान होता है [तस्य] उसी भव्य
जीवका [आत्मा] आत्मा [वत्स] है वधे [निर्मलो भवति] निर्मल होता है और
[लघु] शीघ्र ही [प्रत्यक्षोपि] प्रत्यक्ष ही जाना है । भावार्थ—ज्ञानावरणादि अष्ट
कर्म रूपी जलचर मगरमच्छादि जन्तुके जीव उनमें भग जो ममारगमाग उममें विषय-
कपायरूप प्रचंड पवन जो कि शुद्धात्मनस्त्वमे मदा पराङ्मुख है उस प्रचंड पवनमें
जिसका चित्त चलायमान नहीं हुआ उसीका आत्मा निर्मल होता है । आत्मा रत्नके

कलादृष्ट्या यावदवलोकनं सूक्ष्मनिरीक्षणं तेन प्रत्यक्षोपि स्वमवेदनमाहोपि भवति । कस्य ।
तासु यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण निर्मलं मनस्तस्येति भावार्थः ॥ २८७ ॥

अथ;—

अप्पा परहं ण मेलयउ, मणु मारिवि सहसत्ति ।

सो वढ जोएं किं करइ, जासु ण एही सत्ति ॥ २८८ ॥

आत्मा परस्य न मेलितः मनो मारयित्वा सहसेति ।

स यत्त योगेन किं करोति यस्य न ईदृशी शक्तिः ॥ २८८ ॥

अप्पा इत्यादि । अप्पा अयं प्रत्यक्षीभूतः सविकल्प आत्मा परहं स्व्यातिपूजात्माभ्रभू-
निममस्तमनोरथरूपविकल्पजालरहितस्य विशुद्धज्ञानदर्शनमभावस्य परमात्मनः ॥ मेल-
यिउ न योजितः । किं कृत्वा । मणु मारिवि मिथ्यास्वविषयकपायादिविकल्परूपमूढ-
परिणतं मनो बीतरागनिर्विकल्पसमाधिप्राप्तेन मारयित्वा सहसति अद्वि वि सो वढ जोएं
किं करइ स पुदपः ब्रह्म योगेन किं करोति । स कः । जासु ण एही मति यम्येदृशी
मनोमारणप्रतिनिर्वासीति तात्पर्यम् ॥ २८८ ॥

समान है अनादिकालका अज्ञानरूपी पातालमें पड़ा है सो रागादिमलके छोड़नेमें क्षीम ही
निर्मल हो जाता है हे वधे आत्मा उन भाव्य जीवोंका निर्मल होता है और प्रत्यक्ष उनको
आत्माका दर्शन होता है । परमकल्या जो आत्माकी अनुमति बड़ी हुई निश्चयशक्ति उमगे
आत्मस्वरूपका अवलोकन होता है । आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान करके ही महण करने योग्य
है । जिसका मन विषयसे खंचल न हो उसीको आत्माका दर्शन होता है ॥ २८७ ॥

आगे वढ कहते हैं कि जिसने क्षीम ही मनको बसकर आत्माको परमात्मासे नहीं
मिलाया जिसमें ऐसी शक्ति नहीं है वढ योगसे क्या करसकता है कुछ भी नहीं करस-
कता;—[सहसा मनो मारयित्वा] जिसने क्षीम ही मनको बसमें बरके [आत्मा]
वढ आत्मा [परस्य न मेलितः] परमात्मासे नहीं मिलाया [ब्रह्म] हे तप्य [यस्य]
जिसकी [ईदृशी] ऐसी [शक्तिः] शक्ति [न] नहीं है [सः] वढ [योगेन]
योगसे [किं करोति] क्या करसकता है । भावार्थः—वढ प्रत्यक्षरूप भगवां जीव
विकल्पसहित है दशा जिसकी उसको समस्त विकल्पजाल रहित निर्मल ज्ञान दर्शन
समाप्त परमात्मासे नहीं मिलाया । मिथ्यास्व विषय कथायादि विकल्पोके समूहपर परि-
णत हुआ जो मन उसको बीतराग निर्विकल्परूपसमाधिरूपसमाधिसे क्षीम ही मारकर
आत्माको परमात्मासे नहीं मिलाया वढ योगी योगसे क्या करसकता है कुछ भी नहीं
करसकता । जिसमें मन मारनेकी शक्ति नहीं है वढ योगी बैसा । योगी तो उने कहते
हैं कि जो पढ़ाई, पूजा (अपनी महिमा) और लाभ आदि सब मनोरथरूप विकल्परूप-

द्वयेनोत्पन्नरागादिविकल्पजालः तडत्ति इदिति तर्हि तत्र बहिर्वोधशून्ये निर्विकल्पसमाधौ मणु मनः 'पूर्वांकरागादिविकल्पाधारभूतं तन्मयं वा अत्यवणहं जाइ असं विनासं गच्छति स्वस्वभावेन तिष्ठति इति । अत्र यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्पसमाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् शेषाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनंतरं क्षणमात्रं नासिकया तदनंतरं कृत्वा रंध्रेण निर्गच्छतीति । न च परकल्पितवायुधारणारूपेण स्वामनाशो प्राह्यः । कस्मादिति चेत् । वायुधारणा तावदीहापूर्विका ईहा च मोहकार्यरूपो विकल्परः । स च मोहकारणं न भवतीति इति न च परकल्पितवायुः । किं च । कुंभक-पूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किं तु अभ्यासवशेन घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देशरोगत्वलघुत्वादिकं न च मुक्तिरिति । यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणाकारकाणामिदानीं नितनपुरुषाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थः ॥ २९३ ॥

[असं भाति] सिर होजाता है । भावार्थ—नासिकासे निकले जो श्वासोच्छ्वास हैं वे अंतर अर्थात् आकाश समान निर्मल मिथ्यात्वविकल्पजालरहित शुद्धभावोंमें विलीन हो जाते हैं अर्थात् तत्त्वस्वरूप परमानंदकर पूर्ण निर्विकल्पसमाधिमें सिर चित्त हो जाता है तब श्वासोच्छ्वासरूप पवन रुक जाती है नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुवारं प्ररूपी दशवें द्वारमें होके निकले तब मोह दृढ़ता है उसी समय मोहके उदयकर उत्पन्न हुए रागादिविकल्पजाल नाश हो जाते हैं बाह्य ज्ञानसे शून्य निर्विकल्पसमाधिमें विकल्पोका आधारभूत जो मन यह अमल हो जाता है अर्थात् निज स्वभावमें मनकी चंचलता नहीं रहती । जब यह जीव रागादि परभावोंसे शून्य निर्विकल्प समाधिमें होता है तब यह श्वासोच्छ्वासरूप पवन नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर स्वयमेव अघाटीक वृत्तिसे तालु-भाके बाएकी अनीके आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्रमें (दशवें द्वारमें) होकर बारीक निकलती है नासाके छेदको छोड़कर तालुरंध्रमें (छेदमें) होकर निकलती है । और पार्श्वजटमवलि वायुधारणारूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि वायुधारणा बाष्ठापूर्वक होनी है और बांछा है वह मोहसे उत्पन्न विकल्परूप है बांछाका कारण मोह है । वह मयमीके वायुका निगोष बाष्ठापूर्वक नहीं होता है व्यापारिक ही होता है । त्रिनशामनमें ऐसा कहा है कि कुंभक (पवनको रोकना) पूरक (पवनको धांधना) रेचक (पवनको निकालना) ये तीन भेद प्राणायामके हैं हमीको वायुधारणा करने दें । यह ध्यानत्र होनी है परंतु अभ्यासके वनमें घड़ी पहर दिवस आदिनक भी होनी दें । हम वायुधारणाका पत्र ऐसा कहा है कि देवकी आगेगा होनी दें देवके मय गेग गिर

अथ;—

मोहं विलिज्य ह मणु मरह, तुहह सासुणिमासु ।

केवलज्ञानाणुवि परिणमह, अंपरि जाहं निवासु ॥ २९४ ॥

मोहो विलीयते मनो म्रियते पुत्र्यति श्वासोच्छ्वासः ।

केवलज्ञानमपि परिणमति अंबरे येषां निवासः ॥ २९४ ॥

मोहं विलिज्य ह इत्यादि । मोहं मोहो ममत्वादिविकल्पजालं विलिज्य ह इत्यर्थं गच्छति मणु मरह इत्यलोकपरलोकाभासभूतिविकल्पजालरूपं मनो म्रियते तुहह म्रियति । कांसा । मासुणिमासु अनीहितवृत्त्या नात्मिकाद्वारं विहाय क्षणमात्रं तादुभिग गच्छति पुनरप्यं-
तरं कृत्वा नात्मिका निर्गच्छति पुनरपि रंभेनेत्युच्छ्वासनिःश्वासलक्षणो वायुः । पुनरपि किं भवति । केवलज्ञानाणुवि परिणमह केवलज्ञानमपि परिणमति समुत्पद्यते । येषां नि । अंपरि जाहं निवासु रागद्वेषमोहरूपविकल्पजालजन्यं अंबरे अंबरभास्वरूपं शुद्धाभास-
रूपज्ञानज्ञानाणुपरणरूपे निर्विकल्पप्रतिगुतिगुणपरमसमाधौ येषां निवास इति । अयमत्र

जाते हैं शरीर हलका हो जाता है परंतु मुक्ति इस वायुधारणासे नहीं होती, क्योंकि वायुधारणा शरीरका धर्म है आत्माका स्वभाव नहीं है । शुद्धोपयोगियोंके सहज ही बिना बलके मन भी रुक जाता है और ध्यान भी स्थिर हो जाते हैं । शुद्धोपयोगियोंके मनके रोकनेकेलिये प्राणावायुका अभ्यास है मनके अचल होनेपर कुछ प्रयोजन नहीं है । जो आत्मस्वरूप है वह केवल चेतनामई ज्ञान दर्शनस्वरूप है तो शुद्धोपयोगी मो व्यक्तमें कतिमीन हैं और शुद्धोपयोगी कुछ एक मनकी प्रवृत्तियोंमें आनंदपनमें अक्षय्य अस्वाको नहीं पाते तबतक मनके बंध करनेकेलिये भी बंध परमेष्टीका प्रधान कारण करते हैं और ओंकारादि मंत्रोंका ध्यान करते हैं । और प्राणावायुका अभ्यास कर मनको रोकके बिंदुमें लगाने हैं जब वह लगगया तब मन और चेतन सब स्थिर हो जाने है । शुद्धोपयोगियोंकी दृष्टि एक शुद्धोपयोगपर है पानंजलिमतर्फी तरह मोक्षी वायुधारणा नहीं है । जो वायुधारणाकर ही मुक्ति होवे तो वायुधारणाके करनेवालोंको इस दुःख-
कालमें मोक्ष क्यों न होवे कभी नहीं होती । मोक्ष तो केवल स्वभावमई है ॥ २९३ ॥

आगे फिर भी परमसमाधिका कथन करते हैं;—[येषां] जिन मुक्तिप्राप्तों [अंबरे] परमसमाधिमें [निवासः] निवास है उबका [मोहः] मोह [विलीयते] लीन हो जाता है [मनः] मन [म्रियते] मर जाता है [श्वासोच्छ्वासः] श्वासोच्छ्वास [पुत्र्यति] रुक जाता है [अपि] और [केवलज्ञानं] केवलज्ञान [परिणमति] उपरान्त होता है । भावार्थ—दर्शनमोह और चरित्रमोह आदि करुण दूषक हर दिवस हो जाता है, हम लोक परलोक आदिवा बाढा आदि विवरण आकाश हर दिवस हो

भावार्थः । अंबरशब्देन शुद्धाकाशं न ग्राह्यं किंतु विषयकषायविरुद्धशून्यः परमसमाधिर्माहाः, वायुशब्देन च कुंभकरेचकपूरकादिरूपो वायुनिरोधो न ग्राह्यः किं तु स्वयमनीहितवृत्त्या निर्विकल्पसमाधिबलेन दशमद्वारमंथेन प्रभरंभ्रसंक्षेपेन सूक्ष्मामिधानरूपेण च तालुरंध्रेण योसौ गच्छति स एव ग्राह्यः तत्र । यदुक्तं केनापि । “भणु मरद पवणु जहि खयह जाइ । मय्त्रंगइ तिहुवणु तहि जे ठाइ मूढा अंतरानु परियाणहि तुटइ मोहजाउ जइ जाणहि” । अत्र पूर्वोक्तलक्षणमेव मनोमरणं ग्राह्यं पवनभ्रयोपि पूर्वोक्तलक्षण एव त्रिभुवनप्रकाशक आत्मा तत्रैव निर्विकल्पसमाधौ तिष्ठतीत्यर्थः । अंतरालशब्देन तु रागादिपरमावशून्यत्वं ग्राह्यं न चाकाशे शाते सति मोहजालं नश्यति न चान्यादृशं परिकल्पितं ग्राह्यमित्यभिप्रायः ॥ २९४ ॥

जाता है और आसोच्छ्वासरूप वायु रुक जाती है आसोच्छ्वास अवांछीकपनेसे नासिकाके द्वारको छोड़कर तालुछिद्रमें होके निकलते हैं तथा कुछ देरके बाद नासिकासे निकलते हैं । इस प्रकार आसोच्छ्वासरूप पवन बस हो जाता है । चाहे जिस द्वारसे निकालो । केवलज्ञान भी शीघ्र ही उन ध्यानी मुनियोंके उत्पन्न होता है कि जिन मुनियोंका राग-द्वेषमोहरूप विकल्पजालसे रहित शुद्धात्माका सम्यक् ब्रह्मज्ञान आचरणरूप निर्विकल्प त्रिगुप्तिर्है परमसमाधिमें निवास है । यहां अंबर नाम आकाशका अर्थ नहीं समझना किंतु समस्तविषयकषायरूप विकल्पजालोंसे शून्य परमसमाधि लेना । और यही वायु शब्दसे कुंभक पूरक रेचकादिरूप बांछापूर्वक वायुनिरोध न लेना किंतु स्वयमेव अवांछीक वृत्तिकर निर्विकल्पसमाधिके बलसे प्रसन्नद्वार नामा सूक्ष्म छिद्र जिसको तालु-येका रंभ्र कहते हैं उसके द्वारा अवांछीक वृत्तिसे पवन निकलता है वह लेना । ध्यानी मुनियोंके पवन रोकनेका यत्न नहीं होता है बिना ही उसके सहज ही पवन रुक जाता है और मन भी अबल हो जाता है ऐसा समाधिका प्रभाव है । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है कि, जो मूढ़ हैं वे तो अंबरका अर्थ आकाशको जानते हैं और जो ज्ञानी जन हैं वे अंबरका अर्थ परमसमाधिरूप निर्विकल्प जानते हैं । सो निर्विकल्प ध्यानमें मन मरजाता है पवनका सहज ही निरोध होता है और सब अंग तीन भुवनके समान हो जाता है । जो परम समाधिको जानै तो मोह टूट जावे । मनके विकल्पोंका मिटना वही मनका मरना है और वही आसका रुकना है जो कि सब द्वारोंमें रुककर दशवें द्वारमेंसे होकर निकले । तीन लोकका प्रधानक आत्माको निर्विकल्प समाधिमें स्थापित करता है । अंतराल शब्दका अर्थ रागादि भावोंमें शून्य दशा लेना आकाशका अर्थ न लेना । आकाशके जाननेमें मोहज्ञान नहीं मिटना आत्मस्वरूपके जाननेमें मोहज्ञान मिटना है । जो पाठेप्रति आदि परमसमयमें शून्यरूप समाधि कही है वह अभिप्राय नहीं लेना, क्योंकि अब विमर्शकी शून्यता हो जावेगी तब वस्तुका ही अभाव हो जाएगा ॥ २९४ ॥

अथ,—

जो आयासई मणु धरइ, लोपालोपपमाणु ।

तुहइ मोहु तडति तसु, पावइ परइ पवाणु ॥ २९५ ॥

यः आकाशे मनो धरति लोकालोकप्रमाणम् ।

बुध्यति मोहो झटिति तस्य प्राप्नोति परस्य प्रमाणम् ॥ २९५ ॥

जो इत्यादि । जो यो ध्याता पुरुषः आयासई मणु धरइ यथा परब्रह्ममन्त्रधर्तित्वे-
नाकाशमन्त्रशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते तथा वीतरागविद्वानेकैक्यमात्रेण भविताकाशोऽपि
निध्यात्वरगादिपरभावरहितत्वाभिर्विकल्पममाधिराकाशमन्त्रशब्दवाच्यं शून्यमित्युच्यते ।
तत्राकाशमन्त्रे निर्विकल्पसमाधौ मनो धरति स्थिरं करोति । कथंभूतं मनः । मीयालोप-
पमाणु लोकालोकप्रमाणं लोकालोकव्याप्तिरूपं अथवा प्रसिद्धलोकालोककाशं व्यपारेण
ज्ञानापेक्षया न च प्रदेशापेक्षया लोकालोकप्रमाणं मनो ज्ञानमं ज्ञानं धरति तुहइ मोहु
तडति तसु बुध्यति नश्यति । मोहो । मोहु मोहः । कथं । झटिति तस्य ध्यानात् ।
न केवलं मोहो नश्यति । पावइ प्राप्नोति । किं । परइ पवाणु परस्य परमात्मस्वरूपस्य
प्रमाणं । कीदृशं तत्प्रमाणमिति चेत् । व्यवहारेण रूपप्रत्यक्षविषये चक्षुरेव सर्वगतः । यदि
पुनर्निश्चयेन सर्वगतो भवति तर्हि चक्षुरो अस्मिन्प्रदेशाद् प्राप्नोति न च तथा, । तथाऽमनोऽपि
परकीयसुखदुःखविषये तन्मयपरिणामत्वेन परकीयसुखदुःखानुभवं प्राप्नोति न च तथा ।

आगे फिर भी निर्विकल्पसमाधिका कथन करते हैं—[यः] जो ध्यानी पुरुष
[आकाशे] निर्विकल्पसमाधिमें [मनः] मन [धरति] स्थिर करता है [तस्य]
उसीका [मोहः] मोह [झटिति] क्षीप [बुध्यति] इष्ट जाना है और हानकरके
[परस्य प्रमाणं] लोकालोकप्रमाण आकाशो [प्राप्नोति] प्राप्त होशाना है । भावार्थ—
आकाश अर्थात् वीतरागविद्वानेकैक्यमात्रेण शुण्क्त्वा और निध्यात्वरगादिपरभावरहि-
तस्वरूप निर्विकल्पसमाधि यहाँ समझना । जैसे आकाशद्वय सब हृद्योंमें भरा हुआ है
परंतु सबमें शून्य अपने स्वरूप है उसीप्रकार बिद्वत् आत्मा शरीरदि सब उपविष्टोंमें
रहित है शून्यरूप है इसलिये आकाश शब्दका अर्थ यहाँ शुद्धात्मस्वरूप लेना । व्यवहार-
गतकर ज्ञान लोकालोकका प्रकाशक है और निश्चयनमकर अपने अस्वरूप प्रकाशक है ।
आरमाशः यथज्ज्ञान लोकालोकको जानना है इसका अर्थ जानना अर्थात् आकाशका अर्थ
कहा जाता है यदधीक अवस्था लोकालोकका अर्थ है । ज्ञानशून्य अवस्था में आकाश
है परंतु परब्रह्मज्ञान मिलने पर अवस्था का अर्थ है । अवस्था का अर्थ है अवस्था
इसलिये यह निश्चय है कि ज्ञानशून्य अवस्था लोकालोकका अर्थ है । अर्थात् आकाश
भी कहते हैं उसमें जो मन लगता है सब अवस्था कहें इससे अर्थ है कि अवस्था

निश्चयेन पुनर्लोकमात्रामंयेयमदेजोति मन् व्यवहारेण पुनः प्राप्नुवन्तोपमंशरविष्मा-
यमाद्विवश्रितभाजनस्थप्रदीपवन् देहमात्र इति आराधये ॥ २९५ ॥

अथ;—

देहि वसंतुवि णवि मुणित्, अप्पा देउ अणंतु ।

अंयरि समरसि मणु घरिवि, स्वामिय णट्टु णिमंतु ॥ २९६ ॥

देहे वसन्नपि नैव मतः आत्मा देवः अनंतः ।

अंबरे समरसे मनः धृत्वा स्वामिन् नष्टो निर्भ्रातः ॥ २९६ ॥

देहि वसंतुवि इत्यादि । देहि वसंतुवि व्यवहारं देहे वसन्नपि णवि मुणित् नैव
ज्ञातः । कोसी । अप्पा निजगुह्यमा । किं विनिष्टः । देउ आराधनायोग्यः केवलप्राणा-
द्यनंतगुणाधारत्वेन देवः परपाराध्यः । पुनरपि किंविनिष्टः । अणंतु अनंतपदार्थपरिच्छि-
त्तिकारणत्वाद्विनश्वरत्वादनंतः । किं कृत्वा । मणु घरिवि मनो धृत्वा । क । अंयरि
अंयरशब्दाभाष्ये पूर्वोक्तलक्षणे रागादिद्युष्ये निर्विकल्पममायी । कथंभूते । समरसि वीतरा-
गतास्विक्रमनोहरानंदस्वदिनि समरसीभावे साध्वे स्वामिय हे स्वामिन् । प्रभाकरभट्टः
पश्चात्तापमनुशयं कुर्वन्नाह । किं भूते । णट्टु णिमंतु इयंतं कालमित्थंभूतं परमान्मोपदेग-

व्यवहारनयकर आत्मा ज्ञानकर सबको जानता है इसलिये सब जगत्में है । जैसे व्यवहार-
नयकर नेत्र रूपीपदार्थको जानता है परंतु उन पदार्थोंमें भिन्न है । जो निश्चयकर सर्वगत
होवे तो परपदार्थोंसे तन्मयी हो जावे जो उनसे तन्मयी होवे तो नेत्रोंको अभिका दाह
होना चाहिये इसकारण तन्मयी नहीं है । उसीप्रकार आत्मा जो पदार्थोंको तन्मयी होके
जाने तो परके सुख दुःखसे तन्मई होनेसे इसको भी दूसरेका सुख दुःख मात्र होना
चाहिये ऐसा होता नहीं है । इसलिये निश्चयसे आत्मा असर्वगत है और व्यवहारनयने
सर्वगत है प्रदेशोंकी अपेक्षा निश्चयसे लोकप्रमाण अमंम्यान् प्रदेशी है और व्यवहारन-
यकर पात्रमें रखे हुए दीपककी तरह देह प्रमाण है जैसा शरीर धारणकर वैसा प्रदेशोंका
संकोच विस्तार हो जाता है ॥ २९५ ॥

आगे फिर भी सिध्य प्रश्न करता है;—[स्वामिन्] हे स्वामी [देहे वसन्नपि]
व्यवहारनयकर देहमें रहता हुआ भी [आत्मा देवः] आराधने योग्य आत्मा [अनंतः]
अनंत गुणोंका आधार [नैव मतः] मेने अज्ञानतामें नहीं जाना । क्या करके ।
[समरसे] समानभावरूप [अंबरे] निर्विकल्प समाधिमें [मनः धृत्वा] मन लगाकर ।
इसलिये अब तक [नष्टो निर्भ्रातः] निम्नदेह नष्ट हुआ । यावाधे—प्रभाकरभट्ट
पठताता हुआ श्री योगीशदेवसे वीनती करता है कि हे स्वामिन् मेने अबतक रागादि
विभावरीहित निर्विकल्पसमाधिमें मन लगाकर आत्म देव नहीं जाना इसीलिये इनने

मलभमानः सन् निर्धर्तो नष्टोऽदमित्यभिप्रायः ॥ २९६ ॥ एवं परमोपदेशप्रयत्नमुत्पन्नेन सूत्रदर्शके गते ।

अथ परमोपदेशभावमहितेन सर्वमंगपरित्यागेन संसारविच्छेदं भवतीति युग्मेन निश्चिनोति;—

सयलपि संगं न मिह्रिया, णपि किउ उवगमभाउ ।

सियपयमग्गुवि मुण्डि णपि, जहिं जोरहिं अणुराउ ॥ २९७ ॥

घोरं न चिण्णउ तयचरणु, जं णियघोहं मागं ।

पुण्णुपि पाउपि दहु णपि, किमु छिज्जइ मंग्गागं ॥ २९८ ॥

सकला अपि संगं न मुक्ताः नैव कृत उपसमभावः ।

सिद्धपदमार्गोपि मतो नैव यत्र योगिनां अनुगमः ॥ २९७ ॥

घोरं न चर्षि तपश्चरणं यन् निजबोधेन गारम् ।

पुण्यमपि पापमपि दग्धं नैव किं छिद्यते मंगारः ॥ २९८ ॥

सयलपि इत्यादि । सयलपि समस्त अपि संग मिह्रियात्वादिनपुनरेवमेवमित्यादि अर्थः । तत्राः क्षेत्रवात्त्वादिबुद्धेदभिप्राया वाग्या अपि गेयाः परिमत्ता न मिह्रिया न मुक्ताः । पुनरपि किं न कृतं । णपि किउ उवगमभाउ ज्ञापितमरणप्रभत्याभ्यासमुदुःखार्तिमयत्वाभावलक्षणो नैव कृतः उपसमभावः । पुनरपि न कृतं । सिद्धपयमग्गुवि मुण्डि कश्चिद्विशिष्टं परमव्यवस्थानं निर्वाणं प्राप्तमर्थं । मार्गं मुनिपदं येन वा सिद्धः परिनिर्वाण इति वचनान् निवृत्तद्वयान्यो योगी भोक्तव्य मार्गोपि न ज्ञातः । यथैभूतो गार्गः । अणुरा-
उमत्तमव्यभञ्जितज्ञानज्ञानानुचरणरूपः । यत्र मार्गे हि । जहिं जोरहिं अणुराउ यत्र निश्चय-
भोक्तव्यार्थं परमयोगिनामनुगमत्वात्पर्यं । न केवलं भोक्तव्यार्थोपि न ज्ञातः । घोरं न चिण्णउ तपश्चरणं घोरं दुर्भेदं परीपटोपमार्गप्रत्ययत्वं नैव चर्षि न कृतं । किं ननु । अतएव इत्यादि-

वाक्यकः संसारमेव मृदवा । निजस्वरूपं मांभिकं विना मे मृदु दुःखः । अथ इत्यादि उपदेशः करो किं ज्ञानमेव भवति मृदु आवे ॥ २९६ ॥ इत्यत्र परमोपदेशः केवलं नैव मुख्यतामेव दग्धं करोति ।

आगे परमोपदेशः भावः सरितः सवः परिमृदवा । त्यागः करोति मंगारं विच्छेदः होन-
है रेगा दो दोटाभोमे निश्चयः करोति है,—[मङ्गला अपि संगं] ननु सङ्गः न
[न मुक्ताः] गरी कोरे [उपसमभावः नैव कृतः] सङ्गः नैव कृतः । [यत्र
योगिनां अनुगमः] कोर जहा कोटीभोमे । मेर है रेगा । निवृत्तमार्गोपि] नैव क-
मी [नैव मतः] गरी जहा [घोरं तपश्चरणं] ननु दुःखं तपः न करोति ।

अविधं तपश्चरणं । यत्कर्तव्यं भूतं । जं णिययोद्धं मारु यत्तपश्चरणं वीरगगनिर्विकल्पममं-
वेदंनलक्षणेन निजबोधेन सारभूतं । पुनश्च किं न कृतं । पुण्युवि पाउवि निश्चयननेन
शुभाशुभनिगलद्वयरहितस्य संसारिजीवस्य व्यवहारेण सुवर्णलोहनिगलद्वयमहत्तं पुण्यपा-
द्वयमपि ददु णवि शुद्धात्मद्रव्यानुमवरूपेण ध्यानाग्निना दग्धं नैव किमु छिज्ज संसार
कथं छिद्यते संसार इति । अत्रेदं व्याख्यातं भान्वा निरंतरं शुद्धात्मद्रव्यभावना कर्तव्येति
वात्पर्यं ॥ २९७ ॥ २९८ ॥

अथ दानपूजापंचपरमंष्ट्रिवंदनाविरूपं परंपरया भुक्तिकारणं श्रावकधर्मं कथयति;—

दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहं, णवि पुत्तिउ जिणणाहु ।

पंच ण वंदिय परमगुरु, किमु होसइ सिवलाहु ॥ २९९ ॥

दानं न दत्तं मुनिवराणां नापि पूजितः जिननामः ।

पंच न वंदिता परमगुरुवः किं भविष्यति शिवनामः ॥ २९९ ॥

किया [यत्] जो कि [निजबोधेन सारं] आत्मज्ञानकर शोभायमान है [पुण्यमपि
पापमपि] और पुण्य तथा पाप ये दोनों [नैव दग्धं] नहीं मल किये तो [संसारः]
संसार [किं छिद्यते] कैसे छूट सकता है । भावार्थ—मिय्यात्त्व (अतत्त्वश्रद्धा) राग
(प्रीतिभाव) दोष (वैरभाव) वेद (स्त्री पुरुष नपुंसक) क्रोध मान माया लोभरूप चार
कषाय और हास्य रति भरति शोक भय भ्रान्ति—ये चौदह अंतरंग परिग्रह, क्षेत्र
(प्रामादिक) बाह्य (गृहादिक) हिरण्य (रुपय्या मौह्य आदि) सुवर्ण (गहने आदि)
धन (हाथी घोड़ा आदि) धान्य (अन्नादि) दासीदास, कुम्भ (वस्त्र तथा सुगंधादिक)
गांड (वर्तन आदि) ये दस तरहके बाहरके परिग्रह, इस प्रकार बाह्य अभ्यंतर परि-
ग्रहके चौबीस भेद हुए इनको नहीं छोड़ा । जीवित मरण सुख दुःख लाभ अलामा-
दिमें समान भाव कभी नहीं किया कल्याणरूप मोक्षका मार्ग सम्बन्धनं ज्ञान चरित्र भी
नहीं जाने । निजस्वरूपका अद्भुत निजस्वरूपका ज्ञान और निजस्वरूपका आचरणरूप
निश्चयरत्नत्रय तथा नव पदार्थोंका अद्भुत नव पदार्थोंका ज्ञान और अशुभक्रियाका त्याग-
रूप व्यवहाररत्नत्रय—ये दोनों ही मोक्षके मार्ग हैं इन दोनोंमेंसे निश्चयरत्नत्रय तो साक्षात्
मोक्षका मार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय परंपराय मोक्षका मार्ग है । ये दोनों भेद कभी
नहीं जाने संसारका ही मार्ग जाना । अनशनादि बारहप्रकारका तप नहीं किया बाईस
परिग्रह नहीं सहन की । तथा पुण्य सुवर्णका वेड़ी पाप लोहेकी वेड़ी मो ये दोनों
बंधन निर्मल आत्मध्यानरूपी अग्निमें भस्म नहीं किये । इन दोनोंके बिना किये
समागका विच्छेद नहीं होता समागमें मुक्त होनेके येही कारण हैं । ऐमा व्याख्यान
जानकर हमेंशा शुद्धात्मस्वरूपका भावना करनी चाहिये ॥ २९७ ॥ २९८ ॥

दातु इत्यादि । दातुं न दिप्पतु आहाराभयभयसायभेदेन चतुर्विधदानं भक्तिपूर्वकं न दानं । वेषा । मुनिवरहं निश्चयत्नवहाररत्नप्रयारापकानां मुनिवरारिचतुर्विधसंप्रसितानां पात्राणां नपि पुञ्जित उत्तमार्थेण गद गदाशक्तपुष्पाद्यविषयपूजया न पूजितः । कोसी । जिनप्राप्तुं देवेन्द्रभरणेन्द्रपूजितः केवलज्ञानाचनंतगुणपरिपूर्णः पूज्यपदस्थितो जितनाथः पंच न पंडित्य पंच न वंदिताः । के. से । परमगुरु त्रिभुवनाधीशपंचपदस्थिता अहंनिद्राः त्रिभुवनेशवंतमोक्षपदाराधकाः आचार्योपाध्यायसाधव्यभेति पंचगुरवः किमु होसइ सिध-
लातु सिधलापदस्थितमोक्षपदस्थितानां तदाराधकानामाचार्योदीनां च यथायोग्यं दानपूजावं-
दनार्थिकं ॥ इत्थं कथं शिवलापदस्थितमोक्षपदस्थितानां तन्मो भविष्यति न कथमपीति । अत्रेदं
व्याख्यानं ज्ञान्ता उपामकाध्ययनशास्त्रकथितमार्गेण विधित्तम्यदातुपात्रलक्षणविधानेन दातव्यं
पूजावंदनार्थिकं च वर्तव्यमिति भावार्थः ॥ २९९ ॥

अथ निश्चयेन विचारितध्यानमेव मुक्तिवारणमिति प्रतिपादयति चतुष्कलेनः—

अहुस्मीन्दिपलोपणिहिं, जोड किं हंपियएहिं ।

एमुह एम्मइ परमगइ, णियंमिं ठियएहिं ॥ ३०० ॥

आगे दानपूजा और पंच परमेष्ठीकी वंदना आदि परंपरा मुक्तिका कारण जो श्राव-
कधर्म उमें कहते हैं;—[दानं] आहारादि दान [मुनिवराणां] मुनीधर आदि पात्रोंको
[न दत्तं] नहीं दिया [जिननाथः] जिनेन्द्र भगवानको भी [नापि पूजितः] नहीं
पूजा [पंच परमगुरवः] अरहंत आदिक पांच परमेष्ठी [न वंदिताः] भी नहीं पूजे
तब [शिवलामः] मोक्षकी प्राप्ति [किं भविष्यति] कैसे हो सकती है । भावार्थ—
आहार औषध शास्त्र और अभयदान—ये चार प्रकारके दान भक्तिपूर्वक पात्रोंको नहीं
दिये अर्थात् निश्चय व्यवहाररत्नत्रयके आराधक जो यती आदि चार प्रकार संप उनको
चार प्रकारका दान भक्तिकर नहीं दिया, और दुःखी भूरे जीवोंको करुणामावसे दान
नहीं दिया । ईश्वर नागेंद्र नरेन्द्र आदिकर पूज्य केवलज्ञानादि अनंतगुणोंकर पूर्ण जिनना-
थकी पूजा नहीं की—जल चंदन अक्षत पुष्प मैवेद्य दीप भूष फलसे पूजा नहीं की और
तीनलोककर वंदने योग्य ऐसे अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठी-
योंकी आराधना नहीं की । सो हे जीव इन कार्योंके बिना तुझे मुक्तिका लाभ कैसे
होगा । क्योंकि मोक्षकी प्राप्तिके ये ही उपाय हैं कि जिन पूजा पंचपरमेष्ठीकी वंदना
और चारसयको चारप्रकार दान इन बिना मुक्ति नहीं हो सकती । ऐसा व्याख्यान
जानकर सानवे उपामकाध्ययन अगमें कही गई जो दान पूजा वंदनार्थिकी त्रिभि वही
करनी योग्य है । शुभविधामें न्यायरर उपाजन किया अच्छा द्रव्य वह दानार्थक अच्छे
गुणोंको धारणकर विभिन्न पात्रको देना, जिनगुरुकी पूजा करना और पंच परमेष्ठीका
वंदना करना, ये ही व्यवहारनयकर कल्याणका उपाय हैं ॥ २९९ ॥

अर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां योगः किं श्रंपिताभ्याम् ।

एवमेव लभ्यते परमगतिः निश्चितं स्थितैः ॥ ३०० ॥

अदुष्मीलित लोचनिर्हि अर्धोन्मीलितलोचनपुटाभ्यां जोउ किं योगो ध्यानं किं भवति अपि तु नैव । न केवलमर्धोन्मीलितलोचनाभ्यां । श्रंपित्यर्हि श्रंपिताभ्यामपि लोचनाभ्यां नैवेति । तर्हि कथं लभ्यते । एमुद् लभ्यते एवमेव लभ्यते लोचनपुटनिर्मोन्मीलितलोचन-
निरपेक्षैः । का लभ्यते । परमगद् केवलज्ञानादिपरमगुणयोगादपरमगतिर्मात्रगतिः । कः लभ्यते । निश्चितं स्थित्यर्हि क्वातिपूजालभप्रभृतिममन्त्रचिन्ताजालरहितैः पुरुषैश्चिन्तारहितैः
स्वशुद्धात्मरूपस्थितैश्चेत्यभिप्रायः ॥ ३०० ॥

अथ;—

जोइय मिलहि चिंत जइ, तो तुइइ संसार ।

चिन्तासत्तउ जिणवरुषि, लहइ ण हंसाचार ॥ ३०१ ॥

योगिन् मुंचसि चिन्तां यदि ततः शुच्यति संसारः ।

चिन्तासक्तो जिनवरोपि लभते न हंसचारं ॥ ३०१ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय हे योगिन् मिलहि मुंचसि । कां । चिन्तारहिनाद्विशुद्धज्ञान-
दर्शनस्य भावात्परमात्मपदार्थाद्विलक्षणं चिन्तां जइ यदि चेत् तो तत्तश्चिन्ताभावान् । किं
भवति । तुइइ नश्यति । स फः । संसार निःसंसारान् शुद्धात्मद्रव्यान् विलक्षणो द्रव्यक्षे-
त्रकालादिभेदभिन्नः पंचप्रकारः संसारः । यतः कारणान् चिन्तासत्तउ जिणवरुषि छद्मस्था-
वस्थायां शुभाशुभाचिन्तासक्तो जिनवरोपि लहइ ण लभते न । कं । हंसाचार मंगयवि-

आगे निश्चयसे चिन्तारहित ध्यान ही मुक्तिका कारण है ऐसा कहते हैं;—[अर्धो-
न्मीलितलोचनाभ्यां] आधे उपड़े हुए नेत्रोंसे अथवा [श्रंपिताभ्यां] बंद हुए
नेत्रोंसे [किं] क्या [योगः] ध्यानकी सिद्धि होती है कभी नहीं । [निश्चितं स्थितैः]
जो चिन्ता रहित एकाग्रमें स्थित हैं उनको [एवमेव] इसीतरह [लभ्यते परमगतिः]
स्वयमेव परमगति (मोक्ष) मिलती है । भावार्थ—क्वाति (बड़ाई) पूजा (अपनी
प्रतिष्ठा) और लाम इनको आदि लेकर समस्त चिन्ताओंसे रहित जो निश्चित पुरुष हैं वे
ही शुद्धात्मस्वरूपमें स्थिरता पाते हैं उनहीके ध्यानकी सिद्धि है और वे ही परमगतिके
पात्र हैं ॥ ३०० ॥

आगे फिर भी चिन्ताका ही त्याग बतलाते हैं;—[योगिन्] हे योगी [यदि]
जो तु [चिन्तां मुंचसि] चिन्ताओंको छोड़ेगा [ततः] तो [संसारः] संसारका भ्रमण
[शुच्यति] छूट जायगा क्योंकि [चिन्तासक्तः] चिन्तामें लगे हुए [जिनवरोपि]
छद्म अवस्थावाले तीर्थकर देव भी [हंसचारं न लभते] परमात्माका आचरणरूप

भ्रमविमोहरितानन्तज्ञानादिनिर्मलगुणयोगेन ह्येव इव ह्येवः परमात्मा तस्य पारं रागादि-
भक्तिं शुद्धाभ्यसिष्यामिति । अत्रेदं व्याख्यानं ज्ञात्वा दृष्टयुक्तानुभूतभोगाकांक्षाप्रभृतिगम-
न्यभिज्ञानं नश्यति चित्तरहिते शुद्धात्मनस्त्वे सर्वतात्पर्येण भावना कर्तव्येति तात्पर्यं ॥

अथ;—

जोइय दुम्मइ कयुण तुह, भवकारणि पयहारि ।

पंचु पपंचहिं जो रहिउ, भो जाणिवि मणु मारि ॥ ३०२ ॥

योगिन् दुर्मतिः का तव भवकारणे व्यवहारे ।

ब्रह्म प्रपंचैवैव रहितं तन् ज्ञात्वा मनो मारय ॥ ३०२ ॥

जोइय इत्यादि । जोइय दे योगिन् दुम्मइ कयुण तुह दुर्मतिः का तवेयं भव-
कारणि व्यवहारि भवदितान् शुभाशुभमनोवचनकावस्थापारूपव्यवहारविलभणाद्य-
व्यशुद्धात्मद्रव्यात्पदविपश्चभूते पंचप्रकारगंसारकारणे व्यवहारे । तर्हि किं करोमीति चेत् ।
पंचु ब्रह्मचर्यवाच्यं च शुद्धात्मानं ज्ञात्वा । कथंभूतं यन् । पंचचहिं जो रहिउ यत्प्रपंच-
रहितं । पञ्चात्किं कुरु । भो जाणिवि तं निजशुद्धात्मानं वीतरागस्वसंयद्वनशानेन ज्ञात्वा ।
पञ्चात्किं कुरु । मणु मारि अनेकमानमनिकल्पजाटरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभवि-
कल्पजाडरूपं मनो मारय विनाशयेति भावार्थः ॥ ३०२ ॥

शुद्ध भावोंको नहीं पाते । भावार्थ—हे योगी निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्मपदा-
र्थसे पराङ्मुख जो चिन्ताजाल उसे छोड़ेगा तभी चिन्ताके अभावसे संसार भ्रमण दूटेगा ।
शुद्धात्म द्रव्यसे विमुक्त जो द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप पांचप्रकारके संसारसे तू मुक्त
होगा । जबतक चिन्तावान है तबतक निर्विकल्प ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ।
दूसरोंकी सो क्या बात है जो तीर्थंकरदेव भी केवल अवस्थाके पहले जबतक कुछ शुभा-
शुभ चिन्ताकर सहित हैं तबतक वे भी रागादिरहित शुद्धोपयोगपरिणामोंको नहीं प्राप्त-
कते । मग्य विमोद विभ्रमरहित अनंत ज्ञानादि निर्मलगुण सहित हंसके समान उज्ज्वल
परमात्माके शुद्ध भाव हैं ये चिन्ताके बिना छोड़े नहीं होते । तीर्थंकर देव भी मुनि
होके निश्चित मत धारण करते हैं तभी परमहंस दशा पाते हैं ऐसा व्याख्यान जानकर
देसे गुने भोगे हुए भोगोंकी बांछा आदि समस्तचिन्ताजालको छोड़कर परम निश्चित हो
शुद्धात्माकी भावना करना योग्य है ॥ ३०१ ॥

आगे श्रीगुरु मुनिमोंको उपदेश देते हैं कि मनको मारकर परमब्रह्मका ध्यान करो;—
[योगिन्] हे योगी [तव का दुर्मतिः] तेरी क्या खोटी बुद्धि है जो तू [भवकारणे
व्यवहारे] संसारके कारण उचमरूप व्यवहार करता है । अब तू [प्रपंचः रहितं]
मायाजालरूप पक्षियोंसे रहित [यन् ब्रह्म] जो शुद्धात्मा है [तत् ज्ञात्वा] उसको

अथ;—

सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं, पंचहिं रूवहिं जंतु ।

चिचु णिवारिवि झाइ तुहुं, अप्पा देउ अणंतु ॥ ३०३ ॥

सर्वैः रागैः पद्भिः रसैः पंचभिः रूपैः गच्छत् ।

चित्तं निवार्य ध्याय त्वं आत्मानं देवमनंतम् ॥ ३०३ ॥

सव्वहिं इत्यादि । झाइ ध्याय चित्तय तुहुं त्वं हे प्रभाकरमह । कं । अप्पा स्वशुद्धा-
त्मानं । कथंभूतं । देउ वीतरागपरमानंदमुखेन दीव्यति क्रीडति इति देवत्वं देवं । पुनरपि
कथंभूतं । अणंतु केवलमानाद्यनंतगुणाधारत्वादनंतमुखास्पदत्वादविनश्वरत्वाच्चानंतसमनंते ।
किं कृत्या पूर्व । चिचु णिवारिवि चित्तं निवार्य व्यावृत्त्य । किं कुर्वन् सन् । जंतु गच्छ-
त्परिणममानं सन् । कैः करणभूतैः । सव्वहिं रायहिं वीतरागात्स्वशुद्धात्मद्रव्याद्विलक्षणैः
सर्वशुभाशुभरागैः । न केवलं रागैः । छहिं रसहिं रसनारहिताद्वीतरागमदानंदैकरमपरि-
णतादात्मनो विपरीतैः शुद्धलवणदधिदुग्धतेलघृणपद्मैः । पुनरपि कैः । पंचहिं रूवहिं
अरूपान् शुद्धात्मतरवात्प्रतिपक्षभूतैः कृष्णीलरक्तश्वेतपीतपंचरूपैरिति तात्पर्यं ॥ ३०३ ॥

अथ येन स्वरूपेण चिंत्यते परमात्मा तेनैव परिणमतीति निश्चिनोति;—

जेण सरूविं झाइयइ, अप्पा एहु अणंतु ।

तेण सरूविं परिणयइ, जिमु फलिहउमणि मंतु ॥ ३०४ ॥

जानकर [मनो मारय] विकल्पजालरूपी मनको मार । भावार्थ—वीतरागस्वसंवेदन-
ज्ञानसे शुद्धात्माको जानकर शुभाशुभविकल्पजालरूप मनको मारो । मनके दिना वध
किये निर्विकल्पध्यानकी सिद्धि नहीं होती । मनके अनेकविकल्पजालोंसे जो शुद्ध आत्मा
उसमें निश्चलता सभी होती है जब कि मनको मारके निर्विकल्प दशाको प्राप्त होवे ।
इसलिये सकल शुभाशुभ व्यवहारको छोड़के शुद्धात्माको जानो ॥ ३०२ ॥

आगे यही कहते हैं कि सब विषयोंको छोड़कर आत्मदेवको ध्यावो;—हे प्रभाकर
मह [त्वं] तू [सर्वैः रागैः] सब शुभाशुभरागोंसे [पद्भिः रसैः] छद्मों रसोंसे
[पंचभिः रूपैः] पांच रूपोंसे [गच्छन् चित्तं] चलायमान चित्तको [निवार्य] रोक-
कर [अनंतं] अनंतगुणवाले [आत्मानं देवं] आत्मदेवका [ध्याय] चितवनकर ।
भावार्थ—वीतराग परम आनंद मुखमें क्रीडा करने वाले केवलज्ञानादि अनंतगुणवाले
अविनाशी शुद्ध आत्माका एकाग्रचित्त होकर ध्यान कर । क्या करके ' वीतराग शुद्धात्म-
द्रव्यसे विमुक्त जो समस्त शुभाशुभराग, निजरमसे विपरीत जो दधि दुग्ध तेल पी
नोंन निमी ये पद्मरम और जो अरूप शुद्धात्मद्रव्यमें भिन्न काने मक्केद हरे पीले लाल

एन स्वरूपेण ध्यायते आत्मा एवः अनंतः ।

तेन स्वरूपेण परिणमति यथा स्फटिकमणिः मंत्रः ॥ ३०४ ॥

ऐण इत्यादि । तेन मरुर्बिं परिणमद् तेन स्वरूपेण परिणमति । कीमती कर्ता । अप्पा आत्मा मरु एव मन्त्रहीभूतः । पुनरपि विविदिष्टः । अर्णतु धीतरागानाकुलत्वलभ्रणानं-
नराणिपरिणतात्तनंतः । तेन येन । ऐण सरुवें झाइयद् येन शुभानुभुगुओपयोगरूपेण
ध्यायते धियते । एतांमाद् । जह पन्निहउमणि मंतु यथा स्फटिकमणिः जवापुष्पागु-
पाधिपरिणतः गाग्हादिमंत्रो वेति । अत्र विदोपन्यास्यानं तु “येन येन स्वरूपेण मुग्यते
येनचाहः । तेन तन्मयतां याति विभक्त्तो मणिर्यथा” इति श्लोकार्थकथितदृष्टान्तेन
ध्यायन्त्यः । इदमत्र तात्पर्यं । अयमात्मा येन येन स्वरूपेण धियते तेन तेन परिणमतीति
ताया शुद्धात्मपदमाश्रयिभिः समन्तरागारिविकल्पममूर्दं त्यक्त्वा शुद्धरूपेणैव ध्यातव्य
इति ॥ ३०४ ॥

पावनरूपे रूप-धर्मों निरंतर बिच जाता है उसको रोककर आत्मदेवकी आरा-
धना कर ॥ ३०३ ॥

आगे आत्माको जिसरूपसे ध्याओ उसीरूप परिणमता है जैसे स्फटिकमणिके नीचे
जैसा डंक दिया जाये वैसा ही रंग भासता है ऐसा कहते हैं;—[एषः] यह मत्पक्षरूप
[अनंतः] अविनाशी [आत्मा] आत्मा [येन स्वरूपेण] जिस स्वरूपसे [ध्यायते]
ध्याया जाता है [तेन स्वरूपेण] उसी स्वरूप [परिणमति] परिणमता है [यथा स्फ-
टिकमणिः मंत्रः] जैसे स्फटिकमणि और गारुडी आदि मंत्र हैं । भावार्थ—यह आत्मा
शुभ अशुभ शुद्ध इन तीन उपयोगरूप परिणमता है । जो अशुभोपयोगका ध्यान करे तो
पापरूप परिणये, शुभोपयोगका ध्यान करे तो पुण्यरूप परिणये और जो शुद्धोपयोगको ध्याये
तो परमशुद्धरूप परिणमन करता है । जैसे स्फटिकमणिके नीचे जैसा डंक लगाओ अर्थात्
इसाम हरा पीला लालमेंसे जैसा लगाओ उसीरूप स्फटिक मणि परिणमता है हरे डंकसे
हरा और लालसे लाल भासता है । उसीतरह जीवद्रव्य जिस उपयोगरूप परिणमता है
उसीरूप भासता है । और गारुडी आदि मंत्रोंमेंसे गारुडीमंत्र गरुडरूप भासता है
जिससे कि सर्प हर जाता है । ऐसा ही कथन अन्य मंत्रोंमें भी कहा है कि जिस २
रूपसे आत्मा परिणमता है उम २ रूपसे आत्मा तन्मयी हो जाता है जैसे स्फटिकमणि
उज्ज्वल है उसके नीचे जैसा डंक लगाओ वैसा ही भासता है । ऐसा जानकर आत्माको
स्वरूप जानना चाहिये । जो शुद्धात्मपदकी प्राप्ति चाहनेवाले हैं उनको यही योग्य है
कि समस्त रागादिक विकल्पांक समूहको छोड़कर आत्माके शुद्धरूपको ध्याये और विका-
रोंपर दृष्टि न रखे ॥ ३०४ ॥

अथ चतुष्पादिकां कथयति;—

एह जु अप्पा सो परमप्पा, कम्मविसेसं जायउ जप्पा ।

जामइ जाणइ अप्पे अप्पा, तामइं सो जि देउ परमप्पा ॥ ३०५ ॥

एष य आत्मा स परमात्मा कर्मविशेषेण जातः जाप्यः ।

यदा जानाति आत्मना आत्मानं तदा स एव परमात्मा ॥ ३०५ ॥

एह जु एष यः प्रत्यक्षीभूतः अप्पा स्वमेवेदप्रत्यक्ष आत्मा । स कर्मभूतः । सो परमप्पा शुद्धनिश्चयेनानंतचतुष्टयस्वरूपः शुभाद्यष्टादशदोषरहितः स निर्दोषपरमात्मा कम्मविसेसं जायउ जप्पा व्यवहारनयेनानादिकर्मबंधनविशेषेण स्वकीयबुद्धिशेषेण जात उत्पन्नः । कर्मभूतो जातः । जाप्यः परार्थीनः जामइ जाणइ यदा काले जानाति । केन कं । अप्पे अप्पा बीतरागनिर्विकल्पस्वमेवेदप्रज्ञानपरिणतेनात्मना निजशुद्धात्मानं तावद् तस्मिन् स्वशुद्धात्मानुभूतिकाले सो जि स एवात्मा देउ निजशुद्धात्मभावनोत्पत्तीरागनु-
खानुभवेन दीव्यति कीडतीति देवः परमात्माप्यः । किं विनिष्टो देवः । परमप्पा शुद्धनि-
श्चयेन मुक्तिगतपरमात्मममानः । अयमत्र भावार्थः । यद्येवंभूतः परमात्मा शक्तिरूपेण देहमध्ये नास्ति तर्हि केवलज्ञानोत्पत्तिकाले कथं व्यक्तिसंविद्यतेति ॥ ३०५ ॥

अथ तमेवार्थं व्यक्तिं करोति;—

जो परमप्पा णाणमउ, सो हउं देउ अणंतु ।

जो हउं सो परमप्पु परु, एहउ भावि णिर्मंतु ॥ ३०६ ॥

यः परमात्मा ज्ञानमयः सः अहं देवः अनंतः ।

यः अहं स परमात्मा परः इत्थं भावय निर्भीतः ॥ ३०६ ॥

आगे चतुष्पदछंदसे आत्माके शुद्ध स्वरूपको कहते हैं;—[एष य आत्मा] यह प्रत्यक्षीभूत स्वसंवेदन ज्ञानकर प्रत्यक्ष जो आत्मा [स परमात्मा] वही शुद्ध निश्चयन-
कर अनंत चतुष्टयस्वरूप शुभादि अष्टादशदोष रहित निर्दोष परमात्मा है वह व्यवहारन-
कर [कर्मविशेषेण] अनादिकर्मबंधके विशेषसे [जाप्यः जातः] परार्थीन हुआ दृ-
ष्टेका जाप करता है परंतु [यदा] जिस समय [आत्मना] बीतराग निर्विकल्प स्व-
मेवेद ज्ञानकर [आत्मानं] अपनेकी [जानाति] जानना है [तदा] उस समय
[स एव] यह आत्मा ही [परमात्मा] परमात्मा देव है । भावार्थ—निज शुद्धा-
त्माकी भावनामें उत्पन्न हुआ जो परम ज्ञानरूप उमके अनुभवमें कीटा कर्ममें देव कहा
जाता है वही आत्माके योग्य है । जो आत्मदेव शुद्ध निश्चयनकर भगवान के समीप
ममान है । ऐसा परमात्मदेव शक्तिरूपमें देहमें है जो देहमें न होने तो कर्मज्ञानके
समय कर्म पगट होवे ॥ ३०६ ॥

जो परमात्मा इत्यादि । जो परमप्या यः कश्चित् प्रसिद्धपरमात्मा सर्वोत्कृष्टानंतज्ञानादि-
रूपा मा गन्धीर्यस्य न भवति परमभ्रमावात्मा च परमात्मा धाणमउ ज्ञानेन निर्वृतो
ज्ञानमयः सो हउं यद्यपि व्यवहारेण कर्मावृत्तस्तिष्ठामि तथापि निश्चयेन स गम्भाहं पूर्वोक्तः
परमात्मा । कथंभूतः । देउ परमाराध्यः । पुनरपि कथंभूतः । अणंतु अनंतमुखादिगुणा-
ग्नदत्वादनंतः । जो हउं सो परमप्यु योऽहं स्वदेहस्यो निश्चयेन परमात्मा स एव तत्सदृश
एव मुक्तिगतपरमात्मा । कथंभूतः । परं परमगुणयोगान् पर उत्कृष्टः एहउ भावि
इत्थंभूतं परमात्मानं भावय दे प्रभाकरभट्ट । कथंभूतः मन । निभंतु भ्रातिरहितः संशय-
रहितः तस्मिन्नि । अत्र स्वदेहेऽपि शुद्धात्मास्तीति निश्चयं कृत्वा मिथ्यात्वाशुपशमबशेन
केवलज्ञानाशुत्पत्तिशीजभूतां कारणनमयसाराख्यामागमभाषया धीतरागसम्यक्तवादिरूपां
शुद्धालोकदेहाव्यक्तिं लब्ध्वा सर्वनात्वयैर्ण भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः ॥ ३०६ ॥

अथागुनेवार्थं दृष्टांतदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति;—

णिम्मलफलिहहं जेम जिय, भिण्णउ परकिपभाउ ।

अप्पसहायहं तेम मुणि, सयलुवि कम्मसहाउ ॥ ३०७ ॥

आगे इसी अर्थको प्रगटनेसे हट करते हैं;—[यः परमात्मा] जो परमात्मा
[ज्ञानमयः] ज्ञानस्वरूप है [स अहं] यह मैं ही हूं जो कि [अनंतः देवः] अविनाशी
देवस्वरूप हूं [य अहं] जो मैं हूं [स परः परमात्मा] वही उत्कृष्ट परमात्मा है
[इत्थं] इस प्रकार [निर्भ्रातः] निस्संदेह [भावय] तू भावना कर । भावार्थ—जो
कोई एक परमात्मा परम प्रसिद्ध सर्वोत्कृष्ट अनंतज्ञानादिरूप लक्ष्मीका निवास है ज्ञानमई
है वैसाही मैं हूं । यद्यपि व्यवहारनयकर मैं कर्मोंसे बंधा हुआ हूं तौभी निश्चयनयकर मेरे
बंध मोक्ष नहीं है, जैसा भगवानका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है । जो आत्मदेव
महानुनियोंकर परम आराधने योग्य है और अनंत सुख आदि गुणोंका निवास है ।
इमसे यह निश्चय हुआ कि जैसा परमात्मा वैसा यह आत्मा और जैसा यह आत्मा है
वैसा ही परमात्मा है । जो परमात्मा है वो मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है । अहं
यह शब्द देहमें स्थित आत्माको कहता है और सो यह शब्द मुक्ति प्राप्त परमात्मामें
लगाना । जो परमात्मा वह मैं हूं और मैं हूं सो परमात्मा—यही ध्यान हमेशा करना ।
वह परमात्मा परमगुणके संबंधसे उत्कृष्ट है । श्रीयोगीन्द्राचार्य प्रभाकरभट्टसे कहते हैं
कि हे प्रभाकर भट्ट तू सब विकल्पोंको छोड़कर केवल परमात्माका ध्यानकर । निस्संदेह
होके इस देहमें शुद्धात्मा है ऐसा निश्चयकर । मिथ्यात्वादि सब विभावोंकी उपशम-
ताके वशसे केवलज्ञानादि उत्पत्तिका जो कारण समयसार (निज आत्मा) उसीकी नि-

निर्मलस्कटिकान् यथा जीव मित्रः परकृतभावः ।

आत्मस्वभावान् तथा मन्यस्व सकलमपि कर्मस्वभावम् ॥ ३०७ ॥

मिण्णउ भिन्नो भवति त्रिय हे जीव जेम यथा । कोसौ कर्ता । परकियमाउ जगउ-
प्यायुपाधिरूपः परकृतभावः । कस्मात्स्वकाशान् । णिम्मलफट्टिहहं निर्मलस्कटिका-
तेम तथा मित्रं मृणि मन्यस्व जानीहि । कं । सयलुवि कम्मसहाउ ममस्समरि भार-
कर्मद्रव्यकर्मनो कर्मस्वभावं । कस्मान् सकाशान् । अप्पसहावहं अनंतज्ञानादिगुणस्वभावान्
परमात्मन इति भावार्थः ॥ ३०७ ॥

अथ तामेव देहात्मनोर्भेदभावनां दृढयति,—

जेम सहारिं णिम्मलउ, फलिहउ तेम सहाउ ।

भंनिण मइलु म मणिण जिय, मइलउ देक्खवि काउ ॥ ३०८ ॥

यथा स्वभावेन निर्मलः स्कटिकः तथा स्वभावः ।

भान्या मलिनं मा मन्यस्व जीव मलिनं दृष्ट्वा कायम् ॥ ३०८ ॥

जेम इत्यादि । जेमु सहारिं णिम्मलउ यथा स्वभावेन निर्मलो भवति । कोसौ ।
फलिहउ स्कटिकमणिः तेम तथा निर्मलो भवति । कोसौ कर्ता । सहाउ विमुक्तज्ञानस्वप्न
परमात्मनः स्वभावः भंनिण मइलु म मणि पुरोक्तमात्मस्वभावं कर्मकारणं भान्या मलिनं
मा मन्यस्व त्रिय हे जीव । किं कृत्वा । मइलउ दिक्खिषि मलिनं दृष्ट्वा । कं । काउ
निर्मलमुल्लुपुट्टे कर्मस्वभावपरमात्मपरार्थोद्भूतज्ञानं कायमित्यादिभावः ॥ ३०८ ॥

स्वभावना करनी चाहिये । कीदृशगममध्यनवादिस्व गुह्य आत्माका एकदेश प्रगटनेको
पाकर सब तरहसे ज्ञानकी भावना करना योग्य है ॥ ३०९ ॥

आगे इसी अर्थको दृष्टान्त दर्शान्तरे पुष्ट करत है;—[जीव] हे जीव [यथा]
जेम [परकृतभावः] नीचेके सब दंड [निर्मलस्कटिकान्] वहा निर्मल स्कटिकम-
णिमे [मित्रः] जुदे है [तथा] उमीनह [आत्मस्वभावान्] आत्मस्वभावमे [मकल-
मरि] स्व [कर्मस्वभावं] शुभाशुभकर्म [मन्यस्व] मित्र जानो । भावार्थ—आत्म-
स्वभाव महानिर्मल है । स्वकर्म द्रव्यकर्म नो कर्म ये सब प्रकट है आत्मा विद्वा है । अर्थात्
इत्यादि शुद्धस्व को विद्वान्तर उभये नू मकल प्रत्यक्ष मित्र मान ॥ ३०९ ॥

आगे देह हीन आत्मा जुदे ३ है वह मर भावना दृढ करने है—[यथा] जेमे
[स्कटिकः] स्कटिकमणि [स्वभावान्] स्वभावमे [निर्मलः] निर्मल है [तथा] उमी-
नह [स्वभावः] आत्मा स्वभाव दृष्टान्तस्वरूप प्रकट है । एते आत्मस्वभाव वहा [जीव] हे
जीव [कायं मलिनं] दृष्ट्वा हीन आत्मा मलिन दृष्ट्वा । एते च [भान्या] भान्या [मलिनं]

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्षादिवक्ष्यदृष्टान्तेन व्यक्तीकरोति चतुष्कलेन,—

रस्ते वत्थं जेम वुह्, देह् ण मण्णह् रत्तु ।

देहिं रस्तिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णह् रत्तु ॥ ३०९ ॥

जिणिं वत्थं जेम वुह्, देह् ण मण्णह् जिण्णु ।

देहिं जिणिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णह् जिण्णु ॥ ३१० ॥

वत्थु पण्हहं जेम वुह्, देह् ण मण्णह् णहु ।

णहं देहिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णह् णहु ॥ ३११ ॥

भिण्णउ वत्थु जि जेम जिप, देहहं मण्णह् णाणि ।

देह्वि भिण्णउ णाणि तहं, अप्पहं मण्णह् जाणि ॥ ३१२ ॥

रक्ते वस्ते यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तं ।

देहे रक्ते ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥ ३०९ ॥

जीर्णे वस्ते यथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णं ।

देहे जीर्णे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥ ३१० ॥

वस्ते मण्ड्रे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।

नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥ ३११ ॥

भिन्नं वस्त्वमेव यथा जीव देहान् मन्यते ज्ञानी ।

देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीदि ॥ ३१२ ॥

यथा कोपि व्यवहारज्ञानी रक्ते वस्ते जीर्णे वस्ते नष्टेपि स्वस्वियवस्थं स्वस्वियं देहं रूपं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा धीतरागनिर्विकल्पस्वयंवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे नष्टेपि सति व्यवहारेण देहत्वमपि धीतरागविदानंदैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयतयेन देहाद्विभक्तं रूपं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः । अथ मण्णह् मन्यते । बोधो । णाणि देहव्यवस्थितं भेद-ज्ञानी । किं मन्यते । भिण्णउ भिन्नं । हिं । वत्थु जि वस्त्वमेव जेम यथा जिप हे जीव ।

मैला [मा मन्यस्य] मत मानं । भावार्थः—यद् वायु शुद्ध शुद्ध परमात्मवशात् नैव नित्यं वायु मैला हे आत्मा निर्मल हे ॥ ३०८ ॥

आगे पूर्वकथित भेदमिज्ञानकी भावना रक्त पीतादि वस्त्रके रङ्गानसे चर दोहाभेदे मगट करते हैं;—[यथा] जैसे [बुधः] कोई बुद्धिमान् पुरुष [रक्ते वस्ते] लाल वस्त्रसे [देहं रक्तं] शरीरको लाल [न मन्यते] नहीं मानता [तथा] उदाहरण [ज्ञानी] धीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानी [देहे रक्ते] शरीरके लाल होनेसे [आत्मानं] आत्माको [रक्तं न मन्यते] लाल नहीं मानता । [यथा बुधः] जैसे कोई बुद्धिमान् [परसे जीर्णे] वस्त्रके जीर्ण (पुराने) होनेपर [देहं जीर्णं] शरीरको

अथ पूर्वोक्तभेदभावनां रक्षादिवशदृष्टांतेन व्यक्तीकरोति धनुष्कलेन,—

रक्तं घर्त्थं जेम बुद्ध, देह ण मण्णइ रत्तु ।

देहिं रत्तिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ ३०९ ॥

जिणिं घर्त्थं जेम बुद्ध, देह ण मण्णइ जिण्णु ।

देहिं जिणिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ ३१० ॥

घत्थु पणद्धं जेम बुद्ध, देह ण मण्णइ णद्ध ।

णद्धं देहिं णाणि तहं, अप्पु ण मण्णइ णद्ध ॥ ३११ ॥

भिण्णउ घत्थु जि जेम जिण, देहं मण्णइ णाणि ।

देहपि भिण्णउ णाणि तहं, अप्पहं मण्णइ जाणि ॥ ३१२ ॥

रक्ते वस्ते यथा बुधः देहं न मन्यते रक्तं ।

देहे रक्ते ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते रक्तम् ॥ ३०९ ॥

जीर्णे वस्ते यथा बुधः देहं न मन्यते जीर्णं ।

देहे जीर्णे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते जीर्णम् ॥ ३१० ॥

वस्ते मण्डे यथा बुधः देहं न मन्यते नष्टम् ।

नष्टे देहे ज्ञानी तथा आत्मानं न मन्यते नष्टम् ॥ ३११ ॥

भिन्नं वस्त्रमेव यथा जीव देहात् मन्यते ज्ञानी ।

देहमपि भिन्नं ज्ञानी तथा आत्मनः मन्यते जानीहि ॥ ३१२ ॥

यथा कोपि व्यवहारज्ञानी रक्ते वस्त्रे जीर्णे वस्त्रे नष्टेपि स्वकीयवस्त्रे स्वकीयं देहं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते तथा धीतरागनिर्विकल्पस्वमवेदनज्ञानी देहे रक्ते जीर्णे नष्टेपि सति व्यवहारेण देहस्वमपि धीतरागविद्वानंदैकपरमात्मानं शुद्धनिश्चयनयेन देहाङ्गिन्नं रक्तं जीर्णं नष्टं न मन्यते इति भावार्थः । अथ मण्णइ मन्यते । कोसौ । णाणि देहवस्त्रविषये भेद-
ज्ञानी । किं मन्यते । भिण्णउ भिन्नं । किं । घत्थु जि वस्त्रमेव जेम यथा जिण दे जीव ।

मैला [मा मन्यस्य] मत मानें । भावार्थ—यह काय शुद्ध बुद्ध परमात्मपदार्थसे भिन्न है काय मैली है आत्मा निर्मल है ॥ ३०८ ॥

आगे पूर्वकथित भेदविज्ञानकी भावना रक्त पीतादि वस्त्रके दृष्टांतसे चार दोहाओंमें प्रगट करते हैं;—[यथा] जैसे [बुधः] कोई बुद्धिमान् पुरुष [रक्ते वस्त्रे] लाल वस्त्रसे [देहं रक्तं] शरीरको लाल [न मन्यते] नहीं मानता [तथा] उसीतरह [ज्ञानी] धीतराग निर्विकल्प स्वमवेदन ज्ञानी [देहे रक्ते] शरीरके लाल होनेसे [आत्मानं] आत्माको [रक्तं न मन्यते] लाल नहीं मानता । [यथा बुधः] जैसे कोई बुद्धिमान् [वस्त्रे जीर्णे] कपड़ेके जीण (पुराने) होनेपर [देहं जीर्णं] शरीरको

पमाप्रमपि शस्यं चेयण करइ अवस्स वेदनां वाषां करोत्यवश्यं नियमेन । अत्र चित्तादि-
तात्परमात्मनः मक्षागाद्विलक्षणा या विषयकषायादिचिन्ता सा न कर्तव्या । षांडादिशस्यनिव
दुःखकारणत्वादिति भावार्थः ॥ ३१८ ॥

हिच;—

मोक्खु म चिन्तहि जोइया, मोक्खु ण चित्तिउ होइ ।

जेण णियद्धउ जीवद्धउ, मोक्खु करेसइ सोइ ॥ ३१९ ॥

मोक्षं मा चिन्तय योगिन् मोक्षो न चित्तितो भवति ।

येन निषद्धो जीवः मोक्षं करिष्यति तदेव ॥ ३१९ ॥

मोक्खु इति । मोक्खु म चिन्तहि मोक्षचिन्तां मा कार्यस्त्वं जोइया हे योगिन् । यथा
कारणात् मोक्खु ण चित्तिउ होइ रागादिष्विज्ञानाद्विरहितः केवलज्ञानागनेन युगध्यानिम-
ग्नितो मोक्षः चित्तितो न भवति । तर्हि कथं भवति । जेण णियद्धउ जीवद्धउ येन मिथ्यावरा-
णादिष्विज्ञानादोषादिभेदेन कर्मणा बद्धो जीवः सोइ तदेव कर्म शुभाशुभरिकल्पमगूह्यदिने
तुल्यमन्तरात् गिनानां परमयोगिनां मोक्खु करेसइ अतन्तज्ञानादिगुणोपलब्धमर्थं मोक्षं

वर्तमानाः । अत्र अर्थात् शक्तिव्यापकत्वात् विषयवैयर्थ्यात्पञ्चानवर्धनार्थं य मोक्ष-
भावे भावनादीवश्यायै च । "पुनश्चरन्तु भवन्तश्चरन्तु बोधित्वाहो मुग्धगमणं समाहिमरणं
स्मिन्पुनरापन्ति होतुं भवन्ति" इत्यादि भावना कर्तव्या तथापि वीतरागनिर्विकल्पपरम-
समाधिकारे न कर्तव्येति भावार्थः ॥ ३१९ ॥

अथ अनुविशतिमुत्प्रमिलमहात्म्यमध्ये परमसमाधिभ्यान्वयानुसृतत्वेन सूत्रपटुमन्तर-
रतिं वक्ष्यते । तथा,—

परमसमाहिमहामरहिं, जं पुहृदि पद्मेयि ।

अप्या पद्मं विमलं महं, भवमलं जंति पदेयि ॥ ३२० ॥

परमसमाधिमाप्स्यति ये मुहंति प्रविश्य ।

आत्मा निष्ठति विमलः तेषां भवमलानि याति पहित्वा ॥ ३२० ॥

जं पुहृदि ये वंचनं पुण्या मया भवंति । क । परमसमाहिमहामरहिं परमस-
माधिमाप्स्यति । विहृत्वा मया भवंति । पद्मेयि प्रविश्य सर्वान्प्रदेशैरवगाह्य अप्या
पद्मं चिदानन्दस्वभावः परमात्मा निष्ठति । कथंभूतः । विमलं द्रव्यकर्मनोक्तकर्ममतिहा-
नारिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायमलरहितः महं तेषां परमसमाधिरतपुरुषाणां
भवमलं जंति भवमलानि गृह्णात्यप्यादिलभ्यते यानि कर्माणि भवमलकारणभूतानि
गच्छन्ति । निहृत्वा । पदेयि शुद्धपरिणामनीरप्रवादेन प्रहितत्वेनेति भावार्थः ॥ ३२० ॥

अथ,—

सयलविषयपहं जो विलड, परमसमाहि भणंति ।

तेण सुहासुहमायडा, मुणि सयलवि मिहंति ॥ ३२१ ॥

गमन हो समाधि गरण हो और त्रिनराजके गुणोंकी संपत्ति मुश्किल हो । यह भावना चौथे
पांचवें छंदे गुणस्नानमें करने योग्य है तो भी ऊपरके गुणस्नानोंमें वीतरागनिर्विकल्प-
समाधिके समय नहीं होती ॥ ३१९ ॥

भाग्य र्वापस दोहाओंके स्वल्पमें परमसमाधिके व्याख्यानकी मुख्यतासे छंद दोहासूत्र
कहेते हैं—[ये] जो कोई महान् पुरुष [परमसमाधिमाप्स्यति] परमसमाधिरूप
संगेवरमें [प्रविश्य] पुनश्चर [मुहंति] मग्न होते हैं उनके सब प्रदेश समाधिरतमें
भीग जाते हैं [आत्मा निष्ठति] उन्हींके चिदानन्द अखंड स्वभाव आत्माका ध्यान सिर
होता है । जो कि आत्मा [विमलः] द्रव्यकर्म आवरण नोक्तकर्म रहित महानिमल है
[तेषां] जो योगी परमसमाधिमें गत हैं उन्हीं पुरुषोंके [भवमलानि] गृह्णात्यप्यादे
विपरीत अनुद्भावक कारण जो कर्म हैं वे सब [विहृत्वा याति] गृह्णात्यप्यादेणामरूप
जो जलका प्रवाह उससे बह जाते हैं । भावार्थ—जहां जलका प्रवाह आवे वहां मल कैसे
रह सकता है कभी नहीं रहता ॥ ३२० ॥

अथ,—

परमसमाधि धरेषु भूति, ते परमं न जंति ।

ने मददुःखं बहुविधं, कालं अर्णतु महति ॥ ३२४ ॥

परमसमाधि धृत्वापि दुःखः ये परमं न याति ।

ने मददुःखं बहुविधानि कालं अनन्तं सहेने ॥ ३२४ ॥

ओ ये केवलं हृदि दुःखः न जंति न गच्छेति । के ब्रह्मसमं । परमं परमसमाधि धरतत्त्वत्वात् निजदेहत्वं केवलं नानाशून्यगुणस्वरूपं परमात्मस्वरूपं । किं हृत्वा पूर्वं । परमसमाधि धरेषु बीजभागाविवक्षितानन्दैकानुभूतिरूपं परमसमाधि धृत्वा ते पूर्वोक्त-दुःखभावनारहितः पुनः महति महति । कालि कर्मतापमानि । भवदुःखं बीजरा-गपरमाहाररूपं परमाधिकशुद्धात्मविषयभूतानि नानाकारिभबदुःखानि । कतिसं-करोवेनानि । बहुविधं शरीरमात्मनोभेदेन बहुविधानि । कियं कालं । कालं अर्णतु अनन्तकालपर्यन्तमिति । अत्रेदं व्याख्यानं शब्दा निजशुद्धात्मनि स्थित्वा रागद्वेषादिमम-कारिभावनागेन भावना कर्मभेदेन तान्त्रयम् ॥ ३२४ ॥

अथ,—

जामु सुदामुदभायटा, जमि मयलपि सुहंति ।

परमसमाधि न तामु मणि, केमुनि एमु भणति ॥ ३२५ ॥

शिरछता, तत्त्वविज्ञान, सकल्पपरिमदका त्याग, मनका वश करना और धार्मिक परीषदका प्रवृत्ति—ये दोष आगमध्यानके कारण हैं ॥ ३२३ ॥

आगे परमसमाधिकी गहिमा कहते हैं—[ये मुनयः] जो कोई मुनि [परमसमाधि] परमसमाधिकी [धृत्वापि] धारण करके भी [परमं] निज देहमें ठहरे हुए केवल-ज्ञानादि अनन्तगुणरूप निज आत्माको [न याति] नहीं जानते हैं [ते] वे शुद्धात्म-भावनामें रहित पुरुष [बहुविधानि] अनेक प्रकारके [भवदुःखानि] नारकादि भवदुःख आधि व्याधिरूप [अनन्तं कालं] अनन्त काल तक [सहंते] भोगते हैं । भावार्थ—मनके दुःखको आधि कहते हैं और मनसंबंधी दुःखोंको व्याधि कहते हैं, इन नानाप्रकारके दुःखोंको अज्ञानी जीव भोगता है । ये दुःख बीजराग परम आहाररूप जो परमाधिक सुख उमसे विमुख हैं । यह जीव अनन्तकाल तक निज स्वरूपके ज्ञान बिना चारों गतिबोधके नानाप्रकारके दुःख भोग रहा है । ऐसा व्याख्यान जानकर निज शुद्धात्ममें स्थिर होके रागद्वेषादि समस्त विभावोंका त्यागकर निज स्वरूपकी ही भावना करनी चाहिये ॥ ३२४ ॥

यावत् शुभाशुभभावाः नैव सकला अपि शुभ्यन्ति ।

परमसमाधिर्न तावत् मनसि केवलिन एवं भणन्ति ॥ ३२५ ॥

जामु इत्यादि । जामु यावत्कालं णवि तुष्टंति नैव नश्यन्ति । के कर्तारः । मुहासु-
हभावडा शुभाशुभविकल्परहितान् परमात्मद्रव्याद्विपरीताः शुभाशुभभावाः परि-
णामाः । कतिसंख्योपेता अपि । सयलवि समस्ता अपि तामु ण तावत्कालं न । कोसौ ।
परमसमाहि शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपः शुद्धोपयोगलक्षणः परमसमाधिः ।
क । मणि रागादिविकल्परहितत्वेन शुद्धचेतसि केवुलि एमु भणन्ति केवलिनो वीतराग-
सर्षक्षा एवं कथयन्तीति भावार्थः ॥ ३२५ ॥ इति चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थल-
मध्ये परमसमाधिप्रतिपादकसूत्रपट्टेन प्रथममंतरस्थलं गतं ।

तदनंतरमर्हत्पदमिति भावमोक्ष इति जीवन्मोक्ष इति केवलज्ञानोत्पत्तिरित्येकोऽर्थः तस्य
चतुर्विधनामामिधेयस्यार्हत्पदस्य प्रतिपादनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यंतं व्याख्यानं करोति ।
तथा;—

सयलविद्यप्पहं तुदाहं, सिधपयमग्गि यसंतु ।

कम्मचउक्कइ विलउ गइ, अप्पा हुइ अरहंतु ॥ ३२६ ॥

सकलविकल्पानां शुभ्यतां शिवपदमार्गे यसन् ।

कर्मचतुष्के विलयं गते आत्मा भवति अर्हन् ॥ ३२६ ॥

हुइ भवति । कोसौ । अप्पा आत्मा । कथंभूतो भवति । अरहंतु अरिमोदनीयं कर्म
तस्य हननात् रजसी ज्ञानदृगावरणे नयोरपि हननात् रहस्यशब्देनोत्तरायस्तदभावाच्च देवेश-
द्विविनिर्मितामतिशयवर्ती पूजामर्हतीत्यर्हन् । कस्मिन् सति । कम्मचउक्कइ विलउ गइ

आगे यह कहते हैं कि जबतक इस जीवके शुभाशुभभाव सब दूर न हों तबतक
परम समाधि नहीं होसकती;—[यावत्] जब तक [सकला अपि] समस्त [शुभा-
शुभभावाः] सकल विकल्परहितसे रहित जो परमात्मा उससे विपरीत शुभाशुभ
परिणाम [नैव शुभ्यन्ति] दूर न हों नहीं मिटें [तावत्] तबतक [मनसि] रागादि-
विकल्परहित शुद्ध चित्तमें [परमसमाधिः न] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप शुद्धोपयोग
जिमका लक्षण है ऐसी परमसमाधि इस जीवके नहीं होसकती [एवं] ऐसा [केवलिनः]
केवली भगवान् [भणन्ति] कहते हैं । भावार्थ—शुभाशुभ विकल्प जब मिटें तभी
परमसमाधि होवे ऐसी जिनेश्वरदेवकी आज्ञा है ॥ ३२५ ॥ इस प्रकार चौबीस दोहाओंके
महास्थलमें परमसमाधिक कथनरूप छह दोहाओंका अनंतरस्थल गया ।

आगे तीन दोहाओंमें अर्हत्पदका व्याख्यान करने हैं, अरहन् पद कहो या भाव-
मोक्ष कहो, अथवा जीवन्मोक्ष कहो या केवलज्ञानकी उत्पत्ति कहो—ये चारों अर्थ एकही
ही गूँघित करते हैं अर्थात् चागे शब्दोंका अर्थ एक है, —[कर्मचतुष्के विलयं गते]

एतद्विषयं विदुषः किञ्च ज्ञेयं भवति । किं पुनश्च ननु पूर्वं । निश्चयमस्मिन् प्रसंगे शिवसत्त्व-
रूपं शक्त्योक्त्यर्थं ननु योगी शब्ददर्शनज्ञानचारित्र्यप्रतिपक्षकल्पान्ते मातृमयिन् वरान्
ननु । केनो भवति । शब्दविषयस्य तुष्टार्थं समस्तविकल्पानां नष्टानां समस्तारागादिवि-
कल्पावच्छेदनादुत्तमं भवतीति भावार्थः ॥ ३२६ ॥

अथ,—

केवलज्ञानं अणवरुड, लोपालोड मुणंतु ।

जियमं परमानंदमड, अप्पा इह अरहंतु ॥ ३२७ ॥

केवलज्ञानेनानवरतं लोपालोकं जानन् ।

नियमेन परमानंदमयः आत्मा भवति अहं ॥ ३२७ ॥

इह भवति । योगी । अप्पा आत्मा । कथंभूतो भवति अरहंतु पूर्वोक्तभूतो अहं ।
किं पुनश्च । लोपालोड मुणंतु समकरणव्यवधानरहितत्वेन कालप्रयत्तिपरं लोकालोकं
वस्तु वागुक्त्यर्थेण मुणन्तु जानन् मन् । केन । केवलज्ञानेन लोकालोकप्रकाशकसकलविम-
लकेवलज्ञानेन । कथं । अणवरुड निरंतरं । निर्विशिष्टो भवति भगवान् । परमानंदमड
योगरागपरमममरगीभावतः अणुतात्त्विकपरमानंदमयः । केन । जियमं निश्चयेनात्र संदेहो
न वर्तय्य इत्यभिप्रायः ॥ ३२७ ॥

शानावरणी दर्शनावरणी मोहनी और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके नाश होनेसे
[आत्मा] यह जीव [अहं भवति] अहंत होता है अर्थात् जब घातियाकर्म विलय
हो जाते हैं तब अरहंतपद पाता है देवैत्रादिकर पूजाके योग्य हो वह अरहंत है क्योंकि
पूजायोग्यको ही अहंत कहते हैं । पहले तो महामुनि हुआ [शिवपदमार्गे वसन्]
मोक्षपदके मार्गरूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यमें ठहरता हुआ [सकलविकल्पानां] समस्त
रागादिविकल्पोका [तुष्टार्थ] नाश करता है अर्थात् जब समस्तारागादि विकल्पोका
नाश हो जाये तब निर्विकल्प ध्यानके प्रसादसे केवलज्ञान होता है । केवलज्ञानीका नाम
अहंत है चाहे उसे जीवमुक्त कहो । जब अरहंत हुआ तब माथ मोक्ष हुई पीछे चार
अघातियाओंको नाशकर सिद्ध हो जाता है । सिद्धको विदेहमोक्ष कहते हैं । यही मोक्ष
होनेका उपाय है ॥ ३२६ ॥

अथ केवलज्ञानकी ही महिमा कहते हैं:—[केवलज्ञानेन]

लोकं] लोक अलोकको [अनवरतं] निरंतर [जानन्]

निश्चयसे [परमानंदमयः] परम आनंदमय [अप्पा]

हम [अहं] अहंत [भवति] ॐ ।

लोका-

]

वपके प्रसा-

लोकको एक ही

अथ;—

जो जिणु केवलज्ञानमउ, परमाणंदसहाउ ।

सो परमप्यउ परमपउ, सो जिय अप्ससहाउ ॥ ३२८ ॥

यः जिनः केवलज्ञानमयः परमानंदसभावः ।

सः परमात्मा परमपरः स जीव आत्मस्वभावः ॥ ३२८ ॥

जो इनादि । जो यः जिणु अनेकमवगाहनव्यमनप्रापणदेनून् कर्मावर्तान् जयतीति जिनः । कथंभूतः । केवलज्ञानमउ केवलज्ञानाविनाभूतानंतगुणमयः । पुनरपि कथंभूतः । परमाणंदसहाउ इन्द्रियविरयातीतः स्वात्मोत्थः रागादिविकल्परहितः परमानंदस्वभावः सो परमप्यउ स पूर्वोक्तोऽहंभेद परमात्मा परमपरः प्रकृष्टानंतज्ञानादिगुणरूपा मा लक्ष्मीर्यस्य स भवति परमः संगारिभ्यः पर ऊच्छुष्टः पर इत्युच्यते परमध्यामौ परम परमपरः सो स पूर्वोक्तो रीतगणः सर्वज्ञः जिय हे जीव अप्ससहाउ आत्मस्वभाव इति । अत्र योगी पूर्वोक्तमनितो भगवान् स एव संगारावस्थायां निश्चयेन शक्तिरूपेण जित इत्युच्यते । केवलज्ञानावस्थायां स्वशक्तिरूपेण च । तथैव च परमत्रयारिनाच्छुद्धान्यः स एव तत्त्वः ।

समयमें केवल ज्ञानमें जानना हुआ अर्हत्तन कहलाना है । जिसका ज्ञान जाननेके क्रममें रहित है । एक ही समयमें समस्तलोकलोकको प्रत्यक्ष जानना है आगे पीछे नहीं जानना । सब धर्म सब काल सब मावको निर्नर प्रत्यक्ष जानना है । जो केवली भगवान परम आनंदमई है । पीतगण परम समरणी भावस्व जो परम आनंद अनीन्द्रिय अदिनासी गुण वही जिसका लक्षण है । निश्चयमें ज्ञानानंद स्वस्व है इनमें संदेह नहीं है ॥ ३२७ ॥

अने प्रेमा कहने हैं कि केवलज्ञान ही आत्माका निश्चयभाव है और केवलीको ही परमात्मा कहने हैं;—[यः जिनः] जो अनंत समाश्रयी वनेके भ्रमणके कारण ज्ञाना-
वर्णद अष्ट वर्णकी वही उनका जितनेयः वह [केवलज्ञानमयः] केवलज्ञानादि
अनंत गुणमई है [परमानंदस्वभावः] और इन्द्रियविरयमें रहित भागीदगादि
विकल्पात्ते रहित परमानंद ही जिसका स्वभाव है प्रेमा जितनेयः केवलज्ञानमई अर्हत्तन देह
[सः] वही [परमात्मा] ऊच्छुष्ट अनंत ज्ञानादि गुणस्वत्तनीय स आत्मा परमात्मा
है । उल्लेखों केअंग क्रम कहने हैं [जीव] हे जीव वही [परमपरः] संगारिबोने
ऊच्छुष्ट है प्रेमा को भगवान वह तो आत्मस्व है और [स आत्मस्वभावः] वह
आत्मस्व ही स्वभाव है । मन्त्रार्थ—सर्वत्र अवस्थाने निश्चयनयस्य शक्तिरूपः विशिष्टः
नर है इन्द्रिये समस्तका उत्पन्न जित कथन है और केवलीका जित कथन है ।
प्रकृष्ट देह परम देह को जानने के लिये ही सब जीव है इन माद आध्यात्मिकता को
उच्छुष्ट का वर्णदिक वही जितनेय को जानने के लिये ही निश्चयनयस्य विशिष्ट को

कल्पयेत् कथयति । निश्चयनयेन सर्वे जीवा जिनस्वरूपाः जिनोपि सर्वजीवस्वरूप इति
 भावार्थः । तथा चोक्तं । "जीवा जिनवर जो मुण्ह जिनवर जीर मुण्ह । सो समभावि
 परिनिर्वाण हून् जित्वाणु एदेह" ॥ ३२८ ॥ एवं चतुर्विंशतितुल्यप्रमितमहास्थलमध्ये
 कलहदग्धावयनगुण्यत्वेन सूत्रप्रवेष्ट द्वितीयमंतरस्थलं गतं ।

अग्रे उच्यते परमात्मप्रकाशानन्दस्वार्थकथनमुपगृह्यतेन तुल्यप्रत्ययनं व्याख्यानं करोति
 सन्मा;—

सपण्हं कम्महं दोसहं पि, जो जिणुदेउ पिभिण्णु ।

सो परमप्पपयासु तुहं, जोहय णियमं भण्णु ॥ ३२९ ॥

सकलेभ्यः कर्मभ्यः दोषेभ्यः अपि यो जिनदेवः विभिन्नः ।

तं परमात्मप्रकाशं त्वं योगिन् नियमेन मन्यस्व ॥ ३२९ ॥

सो तं परमप्पपयासु परमात्मप्रकाशसंतं तुहं त्वं कर्ता मण्णु मन्यस्व जानीहि जोहय
 दे योगिन् णियमं निश्चयेन । स कः । जो जिणुदेउ यो जिनदेवः । किंविशिष्टः ।
 विभिण्णु विनोपेण भिन्नः । केभ्यः । मयलहं कम्महं रागादिरहितचिदानन्दैकस्वभावपर-
 मात्मनो पानि भिन्नानि सर्वकर्मोणि तेभ्यः । न केवलं कर्मभ्यो भिन्नः । दोसहं पि ढंको-
 र्णीणहायकैकस्वभावस्य परमात्मनो वेदान्तज्ञानगुराविगुणास्तत्प्रच्छादका ये दोषास्तैभ्योपि
 भिन्न इत्यभिप्रायः ॥ ३२९ ॥

सब जीवोंके हैं सभी जीव जिनसमान हैं और जिनराज भी जीवोंके समान हैं ऐसा
 जानना । ऐसा दूसरी जगह भी कहा है । जो सम्यग्दृष्टि जीवोंको जिनवर जानें और
 जिनवरको जीव जानें जो जीवोंकी जाति है वही जिनवरकी जाति है और जो जिनवरकी
 जाति है वही जीवोंकी जाति है ऐसे महामुनि द्रव्यार्थिकनयकर जीव और जिनवरमें
 जातिभेद नहीं मानते ये मोक्ष पाते हैं ॥ ३२८ ॥ इसप्रकार चौबीस दोहाओंके महा-
 स्थलमें अरहंतदेवके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहाओंमें दूसरा अंतरस्थल कहा ।

आगे परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थके कथनकी मुख्यतासे तीन दोहा कहते हैं;—
 [सकलेभ्यः कर्मभ्यः] ज्ञानावरणादि अष्टकर्मोत्ते [दोषेभ्यः अपि] और सब कुभादि
 अटारह दोषोत्ते [विभिन्नः] रहित [यः जिनदेवः] जो जिनेश्वरदेव है [तं] उसको
 [योगिन् त्वं] हे योगी तू [परमात्मप्रकाशं] परमात्मप्रकाश [नियमेन] निश्चयसे
 [मन्यस्व] मान । अर्थात् जो निर्दोष जिनेश्वर है वही परमात्मप्रकाश है । भावार्थ—
 रागादि रहित चिदानन्द स्वभाव परमात्मामे भिन्न जो सब कर्म वे ही ससारके मूल हैं ।
 जगतके जीव तो कर्मोंकर रहित है और भगवान् जिनराज इनमें मुक्त हैं और सब
 दोषोंसे रहित है । ये दोष सब ससारी जीवोंके लगते हैं, ज्ञायकस्वभाव आत्माके अनंत

अथ,—

केवलदंसणु णाणु सुहु, धीरिउ जो जि अणंतु ।

सो जिणदेउवि परममुणि, परमपयासु मुणंतु ॥ ३३० ॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं य एव अनंतं ।

॥ जिनदेवोपि परममुनिः परमप्रकाशं मन्यमानः ॥ ३३० ॥

सो जिणदेउवि स जिनदेवोपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति । परममुनि परम वन्द्यो मुनिः प्रलभ्यानी । किं कुर्वन् सन् । मुणंतु मन्यमानो जानन् सन् । कं । परमपयासु परममुत्कृष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशम् परमप्रकाशं । न कः । केवलदंसणु णाणु सुहु धीरिउ जो जि केवलज्ञानदर्शनमुत्तरीय-
नरूपं य एव । कथंभूतं तत् केवलज्ञानादिषुषुषुषु । अणंतु युगपदननद्रव्यक्षेत्रकालभाव-
वर्तिष्ठेत्तद्वत्तद्विनिर्गतराक्षानंतमिति भावार्थः ॥ ३३० ॥

अथ,—

जो परमपणउ परमपउ, हरि हर संमुवि मुहु ।

परमपयासु भणंति मुणि, सो जिणदेउ विरुहु ॥ ३३१ ॥

यः परमपणो परमपदः हरिः हरः अत्रापि बुद्धः ।

परमप्रकाशं भणंति मुनयः ॥ जिनदेवो विरुद्धः ॥ ३३१ ॥

ज्ञानं य एव यं । के ते । जणि मनयः प्रत्यक्षज्ञानिनः । कथंभूतं भणंति । परमपयासु

परमप्रकाशः । यः कथंभूतः । जो परमपुत्र यः परमात्मा । पुनरपि कथंभूतः । परमपुत्र
परमानन्दज्ञानादिगुणाधारत्वेन परमपदस्यभावः । पुनरपि किंविशिष्टः । हरि हरिसंतः हर
मोक्षधामनिधानः संभुवि परमप्रकाशमिधानोपि सुदु सुदुः सुगतसंतः सो जिणदेउ स एव
पूर्वोक्तः परमात्मा जिनदेवः । किंविशिष्टः । विमुदु समस्तरागादिदोषपरिहारेण शुद्ध
इति । अत्र य एव परमात्मप्रकाशमहो निर्दोषपरमात्मा व्याख्यातः स एव परमात्मा, स
एव परमपदः, स एव विष्णुमहंतः, स एव धरमिधानः, स एव ब्रह्मशब्दाव्ययः स एव
सुगतदादाभिधेयः, स एव जिनेश्वरः, स एव विमुदु इत्यादिष्टाधिकसहस्रनामाभिधेयो
भवति । नानारूपीनां जनानां ॥ कस्यापि केनापि विवक्षितेन नाम्ना राध्यः स्यादिति
भावार्थः । तथा चोक्तं । “नामाष्टकसहस्रेण युक्तं मोक्षपुरेश्वर”मितादि ॥ ३३१ ॥ एवं
चतुर्विंशतिमूर्तिप्रतिममहास्यलभ्ये परमात्मप्रकाशशब्दार्थकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयेण तृतीय-
मंतरस्थलं गतम् ।

तदनंतरं निदित्यरूपकथनमुख्यत्वेन सूत्रत्रयपर्यंतं व्याख्यानं कतेति तथाभाः—

ज्ञानं कम्मस्खउ करिखि, मुद्धउ होइ अणंतु ।

जिणपरदेवइं सो जि जिण, पभणिउ सिद्ध महंतु ॥ ३३२ ॥

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनंतः ।

जिनवरदेवेन स एव जीव प्रमणितः सिद्धो महान् ॥ ३३२ ॥

हरि महादेव ब्रह्मा [शुद्धः परमप्रकाशः भवति] शुद्ध और परमप्रकाश नामसे कहते हैं
[सः] यद् [विमुदुः जिनदेवः] रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही हैं उसीके ये सब नाम
हैं । भावार्थ—प्रत्यक्षज्ञानी उसे परमानन्द ज्ञानादिगुणोंका आधार होनेसे परमपद कहते
हैं । वही विष्णु है वही महादेव है उसीका नाम पर ब्रह्म है, सबका शायक होनेसे
शुद्ध है, सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा अनेक नामोंसे गाया जाता
है । समस्त रागादिक दोषके न होनेसे निर्मल है ऐसा जो अरहत देव वही परमात्म-
प्रकाश है । निर्दोष परमात्माका व्याख्यान करनेसे वही परमात्मा परमपद, वही विष्णु,
वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही शिव, वही सुगत, वही जिनेश्वर और वो ही विमुदु-
इत्यादि एक हजार आठ नामोंसे गाया जाता है । नानारूपिके कारण ये संसारी जीव वे
नानाप्रकारके नामोंसे जिनराजको आराधते हैं । ये नाम जिनराजके सिवाय दूसरेके नहीं
हैं । ऐसा ही दूसरे ग्रंथोंमें भी कहा है— एक हजार आठ नामों सहित बह मोक्ष-
पुरका सामी उसकी आराधना सब करते हैं । उसके अनंत नाम और अनंतरूप हैं ।
वास्तवमें नामसे रहित रूपसे रहित ऐसे अगवान् ठेक्को हे प्राणियों नुम आराधो ॥ ३३१ ॥
इसप्रकार चौबीस दोहाओंके महास्यलमें परमात्मप्रकाश शब्दके अर्थकी मुख्यतामें तीन
दोहापर्यंत तीसरा अंतरस्थल कहा ।

अथ;—

केवलदंसणु णाणु सुहु, वीरिउ जो जि अणंतु ।

सो जिणदेउवि परममुणि, परमपयासु मुणंतु ॥ ३३० ॥

केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यं य एव अनंतं ।

स जिनदेवोपि परममुनिः परमप्रकाशं मन्यमानः ॥ ३३० ॥

सो जिणदेउवि स जिनदेवोपि एवं भवति । न केवलं जिनदेवो भवति । परममुणि परम उत्कृष्टो मुनिः प्रत्यक्षशक्ती । किं कुर्वन् सन् । मुणंतु मन्यमानो जानन् सन् । कं । परमपयासु परममुत्कृष्टं लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानं यस्य स भवति परमप्रकाशस्य परमप्रकाशं । स कः । केवलदंसणु णाणु सुहु वीरिउ जो जि केवलज्ञानदर्शनसुखवीर्य-स्वरूपं य एव । कथंभूतं तन् केवलज्ञानादिचतुष्टयं । अणंतु युगपदनंतद्रव्यक्षेत्रकालभाव-परिच्छेदकत्वादविनश्वरत्वाच्चानंतमिति भावार्थः ॥ ३३० ॥

अथ;—

जो परमप्पउ परमपउ, हरि हर पंसुवि बुद्धु ।

परमपयासु भणंति मुणि, सो जिणदेउ विसुद्धु ॥ ३३१ ॥

यः परमात्मा परमपदः हरिः हरः ब्रह्मापि बुद्धः ।

परमप्रकाशं भणंति मुनयः स जिनदेवो विशुद्धः ॥ ३३१ ॥

भणंति कथयंति । के ते । मुणि मुनयः प्रत्यक्षज्ञानिनः । कथंभूतं भणंति । परमपयासु

ज्ञान सुखादि गुणोक्तं आच्छादक है । उन दोषोत्से रहित जो सर्वज्ञ बड़ी परमात्मप्रकाश है योगीश्वरोक्तं मनमें ऐसा ही निश्चय है । श्रीगुरु शिष्यसे कहते हैं कि हे योगिन तू निश्चयसे ऐसा ही मान यही सत्पुरुषोक्ता अभिप्राय है ॥ ३२९ ॥

किर मी इसी कथनको दृढ करते हैं;—[केवलदर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यः] केवल दर्शन केवल ज्ञान अनंतसुख अनंतवीर्य [यदेव अनंतं] ये अनंतचतुष्टय त्रिमूके हैं [स जिनदेवः] बड़ी जिनदेव है [परममुनिः] बड़ी परममुनि अर्थात् प्रत्यक्ष शक्ती है । क्या करता मंत्रा ! [परमप्रकाशं मन्यमानः] उत्कृष्ट लोकालोकका प्रकाशक जो केवल ज्ञान बड़ी त्रिमूके परमप्रकाश है उसमें सकल द्रव्य क्षेत्र काल भव भावको जानता हुआ परमप्रकाशक है । ये केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय एक ही समयमें अनंतद्रव्य अनंतक्षेत्र अनंतकाल और अनंतभावोंको जानने हैं इसलिये अनंत हैं अविनश्वर हैं इनका अंत नहीं है ऐसा जानना ॥ ३३० ॥

जाने जिनदेवके ही अनेक नाम हैं ऐसा निश्चय करने हैं;—[यः] त्रिमू [पर-मात्मा] परमपदको [मुनयः] मुनि [परमपदः] परमपद [हरिः हरः ब्रह्मा त्रिभिः]

परमपदः । यः कथंभूतः । जो परमपदः यः परमात्मा । पुनरपि कथंभूतः । परमपदः परमानन्दानादिगुणाधारत्वेन परमपदप्रभावः । पुनरपि निविशिष्टः । हरि हरितः हर मदेभराभिधानः बंधुवि परममन्त्राभिधानोपि पुद्गु पुद्गुः गुणतत्तः सो जिणदेव ॥ एष पूज्यः परमात्मा जिनदेवः । निविशिष्टः । विगुद्गु समस्तारागारिदोषपरिहारेण ह्य इति । अत्र य एव परमात्मप्रकाशसंगो निर्दोषपरमात्मा व्याख्यातः स एव परमात्मा, स एव परमपदः, स एव विष्णुतः, स एवेभराभिधानः, स एव ब्रह्मसाम्पादः स एव गुणसाम्पादभिधेयः, स एव जिनोभरः, स एव विगुद्गु इत्यादिप्रकारादस्तनामाभिधेयो भवति । मानाकपीनां जनानां ॥ कस्यापि केनापि विवक्षितेन नामाश्रयः स्यादिति भावार्थः । तथा चोक्तं । “नामाष्टकादरेण मुक्तं मोक्षपुरोदरं” मितारि ॥ ३३१ ॥ एवं चतुर्विंशतिगुणमितमहास्थलमध्ये परमात्मप्रकाशसाम्पादिकथनगुरुत्वेन सूत्रप्रयेण स्वीय-मंतरस्थले गतम् ।

तदनन्तरं मिदम्यरूपकथनगुरुत्वेन सूत्रप्रयपर्यंतं व्याख्यानं करोति तत्तथा—

क्षार्णि कम्मकम्पउ करियि, मुपाउ होइ अणंतु ।

जिणवरदेवहं सो जि जिप, पमणिउ सिद्ध महंतु ॥ ३३२ ॥

ध्यानेन कर्मक्षयं कृत्वा मुक्तो भवति अनंतः ।

जिनवरदेवेन स एव जीव प्रमणितः सिद्धो महान् ॥ ३३२ ॥

हरि महादेव ब्रह्मा [पुद्गुः परमप्रकाशः भर्णति] बुद्ध और परमप्रकाश नामसे कहते हैं [मः] बद्ध [विगुद्गुः जिनदेवः] रागादि रहित शुद्ध जिनदेव ही हैं उसीके ये सब नाम हैं । भावार्थ—प्रत्यक्षज्ञानी उगे परमानन्द ज्ञानादिगुणोंका आधार होनेसे परमपद कहते हैं । वही विष्णु है वही महादेव है उसीका नाम पर ब्रह्म है, सबका शायक होनेसे बुद्ध है, सबमें व्यापक ऐसा जिनदेव देवाधिदेव परमात्मा अनेक नामोंसे गाया जाता है । समस्त रागादिक दोषके न होनेसे निर्मल है ऐसा जो अरहत देव वही परमात्म-प्रकाश है । निर्दोष परमात्माका व्याख्यान करनेसे वही परमात्मा परमपद, वही विष्णु, वही ईश्वर, वही ब्रह्म, वही जिव, वही गुणत, वही जिनोभर और वो ही विगुद्गु-इत्यादि एक हजार आठ नामोंसे गाया जाता है । नामाह्निके प्रकार के रीसारी जीव ये नामाप्रकारके नामोंसे जिनरात्रको आराधते हैं । ये नाम जिनरात्रके सिवाय दूसरेके नहीं हैं । ऐसा ही दूसरे भूतोंमें भी कहा है— एक हजार आठ नामों सहित बद्ध मोक्ष-पुरका स्वामी उत्तम आराधना सब करता है । उसके अनंत नाम और अनंत रूप हैं । बाह्यवर्गे नामसे रहित रूपसे रहित ऐसा नगवान दणवों के भणियों ह्य आ ॥ ३३२ ॥ इसप्रकार पीयास दोहाओंके गद्यात्मकमें परमात्मप्रकाश सम्बन्धे अभेद तीन दोहापर्यंत तीसरा अंतरालक कहा ।

पमगिउ प्रभगिनः कथितः । केन कर्तुंभूतेन । जिणपरदेवहं जिणपरदेवेन । कोणे भवितः । सिद्धु निद्धः । कथंभूतः । महंतु महापुरुषाराधितत्वात् केयउज्ञानारिमइत्तुत्ता-
 पारत्ताय मदान् । क एव । सो जि स एव । स कः । योसो मुक्तउ होइ शानारणारिभिः
 कर्मभिहुंलो रदिनः सम्यक्तागप्रगुणमदितथ जिम हे जीव । कथंभूतः । अणंतु न
 विणदेरो विनालो वप्प स भवत्यनंतः । किं कृत्वा पूर्ण मुक्तो भवति । कम्मवराउ करिणि
 विहुइज्ञानइगेनसामासादात्मप्रभ्याद्विलक्षणं यद्दर्शनैरुपभ्यानद्वयं तेनोपार्जितं यत्कर्म ह्यन-
 तः कर्मोत्तमं कर्मभवं कृत्वा । केन । क्षार्णि राणारिभिरुत्तरदितम्यमवेदनज्ञातभावेन
 एतदेवेति ह्यनंतम् ॥ ३३२ ॥

अर्थ —

अणुनि बंधुनि निहृगगहं, शानपरसुखसदाहउ ।

निणु नि सगणुनि कालु जिम, गियमइ लद्धसदाहउ ॥ ३३१ ॥

अणुरणि बंधुरणि विमुक्तस्य शानपरगुणसभासः ।

तदेव गच्छति कालं जीव नियमति लब्धसभासः ॥ ३३२ ॥

अणुवि इति । अणुवि अन्यदपि पुनरपि न पूर्वोक्तः सिद्धः । कथंभूतः । बंधुवि
बंधुव । बन्ध । निद्रुयपाहं प्रिमुननगमयजनस्य । पुनरपि किं विशिष्टः । सासमसुवरा-
सहाउ । रागादिरतिताम्यायाधरागतसुखस्यभावः । एवं गुणविशिष्टः सन् किं करोति ॥
भगवाय । निद्रुय जि तत्रैव मोक्षपदे निवसति । कथंभूतः सन् । लक्षसहाउ
लक्षमुद्रात्मकभावः । विद्यमानं निवसति । सयलुवि समस्तमप्यनंतकालपर्यंतं जिय
दे जीवेति । अप्रानेन समस्तकालमहमेन विमुक्तं भवति । ये केचन वदन्ति मुक्तानां पुनरपि
संसारे पतनं भवति तन्ममं निरन्तरमिति भावार्थः ॥ ३३३ ॥

अथ;—

जन्ममरणविवर्जित, चउगइदुखसविमुक्त ।

केवलदर्शनज्ञानमय, नंदइ तित्तु जि मुक्त ॥ ३३४ ॥

जन्ममरणविवर्जितः चतुर्गतिदुःखविमुक्तः ।

केवलदर्शनज्ञानमयः नंदति तत्रैव मुक्तः ॥ ३३४ ॥

पुनरपि कथंभूतः न भगवान् । जन्ममरणविवर्जितचउ जन्ममरणविवर्जितः । पुनरपि
विशिष्टः । चउगइदुखस विमुक्त महजगुदपरमानंदैकत्वभावं यदात्मसुखं तस्माद्विपरीतं
चचतुर्गतिदुःखं तेन विमुक्तो रहितः । पुनरपि किंस्वरूपः । केवलदर्शनज्ञानमयः क्रमकरण-

[लक्ष्यस्वभावः] निजस्वभावको पाकर [जीव] हे जीव [सकलमपि कालं] सदा
काल [निवसति] निवास करते हैं फिर चतुर्गतिमें नहीं आवेंगे । भावार्थ—सिद्ध
परमेष्ठी तीनलोकके नाथ हैं और जिनका भव्य जीव ध्यान करके भवसागरके पार होते
हैं इसलिये भक्तोंके बंधु हैं हितकारी हैं । जिनका रागादि रहित अव्याबाध अविनाशी
सुख स्वभाव है । ऐसे अनंत गुणरूप वे भगवान् उस मोक्षपदमें सदा काल विराजते
हैं । जिन्होंने शुद्ध आत्मस्वभाव पा लिया है । अनंत काल पीत गये और अनंतकाल
आवेंगे परंतु वे प्रभु राधा काल सिद्ध क्षेत्रमें बस रहे हैं । समस्त काल रहते हैं इसके
करनेका प्रयोजन यह है कि जो कोई ऐसा कहते हैं कि मुक्त जीवोंका भी संसारमें
पतन होता है तो उनका कहना खंडित किया गया ॥ ३३३ ॥

आगे फिर भी सिद्धोंका ही वर्णन करते हैं;—[जन्ममरणविवर्जितः] ये भगवान्
सिद्धपरमेष्ठी जन्म और मरणकर रहित हैं [चतुर्गतिदुःखविमुक्तः] चारों गतियोंके
दुःखोंसे रहित हैं [केवलदर्शनज्ञानमयः] और केवलदर्शनकेवलज्ञानमय हैं ऐसे
[मुक्तः] कर्म रहित हुए [तत्रैव] अनंतकालतक उसी सिद्ध क्षेत्रमें [नंदति] अपने
स्वभावमें आनंदरूप विराजते हैं । भावार्थ—सहज शुद्ध परमानंद . अमंड स्वभाव-
रूप जो आत्मसुख उसमें विपरीत जो चतुर्गतिके दुःख उनसे र

व्यवधानरहितत्वेन जगत्प्रयत्नकालप्रत्यवर्तिपदार्थानां प्रकाशकैवल्यदर्शनज्ञानाभ्यां निर्गुनः केवलदर्शनज्ञानमयः । एवं गुणविशिष्टः मन् किङ्कोति । णंदह् स्वकीयश्रामानिदानंदज्ञानादिगुणैः सह नंदति वृद्धिं गच्छति । क । तित्यु जि तत्रैव मोक्षपदे । पुनरपि किं विशिष्टः सन् । मुकु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मनिर्मुक्तो रहितः अत्र्यावाचाग्रनंतगुणैः सहितश्चेति भावार्थः ॥ ३३४ ॥ एवं चतुर्विंशतिमूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरिमेषिष्याभ्यानमुख्यत्वेन सूत्रप्रयेण चतुर्थमंतरस्थलं गतं ।

अद्यान्तरं परमात्मप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् मूत्रप्रयत्नं ध्यास्यानं करोति । तथाहि;—

जे परमप्पपयासु मुणि, भाविं भावहिं सत्यु ।

मोहु जिणेविणु सयलु जिय, ते बुजझहिं परमत्यु ॥ ३३५ ॥

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयन्ति साक्षं ।

मोहं जित्वा सकलं जीव ते बुध्यन्ति परमार्थम् ॥ ३३५ ॥

भावहिं भावयन्ति ध्यायन्ति । के । मुणि मुनयः जे ये केचन । किं भावयन्ति । सत्यु साक्षं । कथंभूतं साक्षं । परमप्पपयासु परमात्मस्वभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाशसंज्ञं । केन भावयन्ति । भाविं समस्तरागाद्यपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्वा पूर्वं । जिणेविणु जित्वा । कं । मोहु निर्मोहपरमात्मतत्त्वाद्विलक्षणं मोहं । कतिसंख्योपेतं । सयलु समस्तं

रोगोत्ते रहित हैं अविनश्वरपुरमें सदा काल रहते हैं । जिनका ज्ञान संसारी जीवोंकी तरह विचाररूप नहीं है कि किसीको पहले जानें किसीको पीछे जानें उनका केवलज्ञान और केवलदर्शन एक ही समयमें सब द्रव्य सब क्षेत्र सब काल और सब भावोंको जानता है । लोफालोक प्रकाशी आत्मा निज भाव अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंतमुख और अनंत वीर्य मई है । ऐसे अनंत गुणोंके सागर भगवान् सिद्ध परमेष्ठी स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल समावरूप चतुष्टयमें निवास करते हुए सदा आनंदरूप लोकके शितरपा विराजरहे हैं जिसका कभी अंत नहीं उसी सिद्धपदमें सदा काल विराजते हैं केवलज्ञान दर्शनकर षट् २ में व्यापक है । सकल कर्मोपाधिरहित महा निरुपाधि निरावापना आदिदे अनंतगुणों सहित मोक्षमें आनंद विराज करते हैं ॥ ३३४ ॥ इस तरह चौबीस दोहावाले महास्थलमें सिद्ध परमेष्ठीके व्याख्यानकी मुख्यताकर तीनदोहाओंमें चौथा अंतरस्थल कहा ।

आगे तीन दोहाओंमें परमात्मप्रकाशकी भावनामें तीन पुरुषोंके फलको दिलाते हुए व्याख्यान करते हैं;—[ये मुनयः] जो मुनि [भावेन] भावोंमें [परमात्मप्रकाशं साक्षं] इस परमात्मप्रकाश नामा साक्षका [भावयन्ति] चितवन करते हैं हमेशा इसीका

निरन्तरं जिय दे जीवेति ते न एवं गुणविशिष्टास्तपोपनाः शुद्धाहिं पुष्यंति । कं ।
परमात्मा परमात्मप्रकाशं चिदानन्दस्वभावं परमात्मानमिति भावार्थः ॥ ३३५ ॥

अथ;—

अणु जि भस्त्रिण जे मुणहिं, इह परमप्पपयासु ।

लोपालोपपयामयम पायहिं तेवि पयासु ॥ ३३६ ॥

अन्यदपि भस्य ये मन्यंते इमं परमात्मप्रकाशं ।

लोकोलोकप्रकाशकं प्राप्नुवंति तेवि प्रकाशम् ॥ ३३६ ॥

अणु जि इत्यादि । अणु जि अन्यदपि विशेषकं कथ्यते भस्त्रिण जे मुणहिं
भस्त्रिण ये मन्यंते जानंते । कं । परमप्पपयासु इमं प्रत्यक्षीभूतं परमात्मप्रकाशप्रथमर्पतस्तु
परमात्मप्रकाशप्रकाशं परमात्मनस्त्वं पायहिं प्राप्नुवंति तेवि तेवि । कं । पयासु प्रकाश-
प्रकाशं केवलज्ञानं तदापारपरमात्मानं वा । कथंभूतं परमात्मप्रकाशं । लोपालोप-
पयामयम अनन्तगुणपर्यायमहितत्रिकालविषयलोकोलोकप्रकाशकमिति तात्पर्यं ॥ ३३६ ॥

अभ्यास करते हैं [जीव] दे जीव [ते] ये [मूलक मोह] समस्त मोहको [जित्वा]
जौवर [परमार्थं पुष्यंति] परमत्त्वको जानते हैं । भावार्थ—जो कोई सम परिम-
हके ल्यागी साधु परमात्मस्वभावका प्रकाशक इस परमात्मप्रकाश नामा ग्रंथको समस्त
रागादि खोटे ध्यान रहित जो शुद्धभाव उससे निरन्तर निचारते हैं वे निर्मोह परमात्म-
स्वत्वे विपरीत जो मोह नामा कर्म उसकी समस्त प्रकृतियोंको मूलसे उखाड़ देते हैं
निष्कामरागादिकोंकी जीतकर निर्मोह निराकुल चिदानन्द स्वभाव जो परमात्मा उसको
अच्छीतरह जानते हैं ॥ ३३५ ॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके अभ्यासका फल कहते हैं;—[अन्यदपि] और भी
फल कहते हैं [ये] जो कोई भव्य जीव [भस्य] भक्तिसे [इमं परमात्मप्रकाशं]
इस परमात्मप्रकाश शास्त्रको [मन्यंते] पढ़ें सुनें इसका अर्थ जानें [तेवि] ये भी
[लोकोलोकप्रकाशकं] लोकोलोकको प्रकाशनेवाले [प्रकाशं] केवलज्ञान तथा उसके
आधारभूत परमात्मनस्त्वकी शीघ्र ही प्राप्तिकेने । अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मन-
स्त्वका भी है और इस ग्रंथका भी है सो परमात्मप्रकाशग्रंथके पढ़नेवाले दोनों हीको
प्राप्ते । प्रकाश ऐसा केवलज्ञानका नाम है उसका आधार जो शुद्ध परमात्मा अनन्त गुण-
पर्याय सहित तीनकालका जाननेवाला लोकोलोकका प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य उसे सुरत
ही प्राप्ते ॥ ३३६ ॥

व्यवधानरहितत्वेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्थानां प्रकाशककेवलदर्शनज्ञानाभ्यां निर्वृत्तः केवलदर्शनज्ञानमयः । एवं गुणविशिष्टः सन् किं करोति । णंदइ स्वकीयस्वाभाविकानंतज्ञानादिगुणैः सह नंदति वृद्धिं गच्छति । फ । तित्यु जि तत्रैव मोक्षपदे । पुनरपि किं विशिष्टः सन् । मुमु ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मनिर्मुक्तो रहितः अव्यावाधाद्यनंतगुणैः सहितमेति भावार्थः ॥ ३३४ ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये सिद्धपरिमेष्टिव्याख्यानमुत्पत्तेन सूत्रत्रयेण चतुर्थमंतरस्थलं गतं ।

अयानंतरं परमात्मप्रकाशभावनारतपुरुषाणां फलं दर्शयन् सूत्रपर्यंतं व्याख्यानं करोति ।
तथाहिः—

जे परमप्यपयास्तु मुणि, भार्चि भावहिं सत्यु ।

मोहजिणेयिणु सयल्लु जिय, ते बुज्झहिं परमत्थु ॥ ३३५ ॥

ये परमात्मप्रकाशं मुनयः भावेन भावयन्ति शास्त्रं ।

मोहं जित्वा सकलं जीव ते बुध्यन्ति परमार्थम् ॥ ३३५ ॥

भारहिं भारयन्ति ध्यायन्ति । के । मुनि मुनयः जे ये केषन । किं भाययन्ति । मत्पु
 शान्नं । कथंभूतं शान्नं । परमप्पपयामु परमात्मन्यभावप्रकाशत्वात्परमात्मप्रकाशमज्ञं ।
 केन भाययन्ति । भाविं समन्तशान्तपध्यानरहितशुद्धभावेन । किं कृत्वा पूर्णं । निनेपिणु
 तिन्वा । कं । मोहू निर्मोहपरमात्मनश्चाद्रिलक्षणं मोहं । कतिमंग्योपेतं । सपलु तमन्नं

रोगोंमें रहित हैं अत्रिधरपुरमें सदा काल रहते हैं । जिनका ज्ञान संगारी जीवोंकी तरह विचाररूप नहीं है कि किसीको पहले जानें किसीको पीछे जानें उनका केवल ज्ञान और केवलदर्शन एक ही समयमें सब द्रव्य सब क्षेत्र सब काल और सब भावोंको जानता है । ओकाओक प्रकाशी आत्मा निज भाव अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंतगुण और अनंत धर्म मई है । ऐमे अनंत गुणोंके सागर मगवान् मिद परमेष्ठी मद्रव्य स्वेश्व स्वकाल समावृत्त चतुष्टयमें निवास करने हुए सदा आनन्दरूप ओकके शिखर शिखरोंमें हैं जिनका कभी अंत नहीं उभी मिदपदमें सदा काल शिखरोंमें हैं केवलज्ञान दर्शनका घट २ में व्यापक है । सकल कर्मोपाधिरहित मद्रव्य निरुपाधि निरावयवता अदिद अनंतगुणों सहित बोधने आनन्द विनाश करने हैं ॥ ३३३ ॥ इन तरह श्रीगीत दोहावृत्ते मद्रव्यनन्दने मिद परमेष्ठीके व्याख्यानकी मुख्यताका तीनशेतामोंमें श्रीपा अग्रजन्त कहा ।

[illegible]

निरवशेषं जिय दे जीबेनि ते न एवं गुणविशिष्टास्तपोधनाः शुद्धाहिं धुष्यन्ति । कं ।
परमात्पु परमार्थशब्दवाच्यं विद्वानंदैकमभावं परमात्मानमिति भावार्थः ॥ ३३५ ॥

अथ,—

अणु जि भसिए जे मुणहिं, इहु परमप्पपयासु ।

लोयालोयपयामयरु पावहिं तेवि पयासु ॥ ३३६ ॥

अन्यदपि भक्त्या ये मन्यन्ते इमं परमात्मप्रकाशं ।

लोकालोकप्रकाशकं प्राप्नुवन्ति तेवि प्रकाशम् ॥ ३३६ ॥

अणु जि इत्यादि । अणु जि अन्यदपि विशेषकलं कथ्यते भसिए जे मुणहिं
मयत्ता ये मन्यन्ते जानन्ते । कं । परमप्पपयासु इमं मत्तझीभूतं परमात्मप्रकाशमयमर्थतस्तु
परमात्मप्रकाशशब्दवाच्यं परमात्मतत्त्वं पावहिं प्राप्नुवन्ति तेवि तेवि । कं । पयासु प्रकाश-
शब्दवाच्यं बेयल्लज्ञानं सदाधारपरमात्मानं वा । कथंभूतं परमात्मप्रकाशं । लोयालोयप-
यासयर अनंतगुणपर्यायसहिततीनकालविषयलोकालोकप्रकाशकमिति तात्पर्यं ॥ ३३६ ॥

अभ्यास करते हैं [जीव] दे जीव [वे] ये [सकल मोह] समस्त मोहको [जित्वा]
जीतकर [परमार्थ धुष्यन्ति] परमतत्त्वको जानते हैं । भावार्थ—जो कोई सब परिम-
हके त्यागी साधु परमात्मसमावका प्रकाशक इस परमात्मप्रकाश नामा ग्रंथको समस्त
रागादि छोटे ध्यान रहित जो शुद्धभाव उससे निरंतर विचारते हैं ये निर्मोह परमात्म-
तत्त्वसे विपरीत जो मोह नामा कर्म उसकी समस्त प्रकृतियोंको मूलसे उखाड़ देते हैं
निष्कामरागादिकोंको जीतकर निर्मोह निराकुल विद्वानंद समाव जो परमात्मा उसको
अच्छीतरह जानते हैं ॥ ३३५ ॥

आगे फिर भी परमात्मप्रकाशके अभ्यासका फल कहते हैं—[अन्यदपि] और भी
फल कहते हैं [ये] जो कोई भव्य जीव [भक्त्या] भक्तिसे [इमं परमात्मप्रकाशं]
इस परमात्मप्रकाश शास्त्रको [मन्यन्ते] पढ़े सुने इसका अर्थ जानें [तेवि] वे भी
[लोकालोकप्रकाशकं] लोकालोकको प्रकाशनेवाले [प्रकाशं] केवलज्ञान तथा उसके
आधारभूत परमात्मतत्त्वको शीघ्र ही पामकेंगे । अर्थात् परमात्मप्रकाश नाम परमात्मन-
स्वका भी है और इस ग्रंथका भी है सो परमात्मप्रकाशग्रंथके पढ़नेवाले दोनों हीको
पावेंगे । प्रकाश ऐसा केवलज्ञानका नाम है उसका आधार जो शुद्ध परमात्मा अनंत गुण-
पर्याय सहित तीनकालका जाननेवाला लोकालोकका प्रकाशक ऐसा आत्मद्रव्य उमे तुरन्त
ही पावेंगे ॥ ३३६ ॥

यह व्यवहारेणास्य परमात्मप्रकाशमिधानमर्थस्य परमार्थेन ॥ परमात्मप्रकाशमन्त्रवाच्यस्य निर्दोषपरमात्मनः । ते के । जे बीहिया ये भीताः । केषां । भवदुःखहं रागादिविषय-
रहितपरमात्मादरूपशुद्धात्मभावनोत्पत्तिपरमार्थिकमुखविलक्षणानां नारकादिभवदुःखानां । पुन-
रपि किं कुर्वन्ति । जे इच्छन्ति ये इच्छन्ति । किं । पठ पदं स्थानं । कथंभूतं । निज्याणु
निर्मुक्तिपरमात्माधारभूतं निर्वाणमन्त्रवाच्यं मुक्तिस्थानमित्यभिप्रायः ॥ ३३८ ॥

अथ,—

जे परमस्पर्धं भक्तिपर, विसयण जे विरमन्ति ।

ते परमस्पर्धयासयहं, मुनिवर जोग्य हयन्ति ॥ ३३९ ॥

ये परमात्मनो भक्तिपराः निषयेभ्यः ये विरमन्ति ।

ते परमात्मप्रकाशस्य मुनिवरा योग्या भवन्ति ॥ ३३९ ॥

हयन्ति भवन्ति जोग्य योग्याः । के ते । मुनिवर मुनिप्रधानाः । के । ते ते पुरुषाः ।
कस्य योग्या भवन्ति । परमस्पर्धयासयहं व्यवहारेण परमात्मप्रकाशमन्त्रार्थस्य परमार्थेन तु
परमात्मप्रकाशमन्त्रवाच्यस्य शुद्धात्मस्वभावस्य । कथंभूता ये । जे परमस्पर्धं भक्तिपर के
परमात्मनो भक्तिपराः । पुनरपि किं कुर्वन्ति ये । विषयण जे विरमन्ति निर्विषयपरमात्म-

आगे परमात्मप्रकाश शब्दसे कहा गया जो प्रकाशरूप शुद्ध परमात्मा उमर्ची भावना-
भावना करनेवाले महा पुरुषोंके लक्षण जाननेके लिये तीन दोहाओंमें व्याख्यात किया
है—[ते परं] ये ही महापुरुष [अथ परमात्मप्रकाशकस्य] इस परमात्मप्रकाश शब्द
अव्यास करनेके [योग्याः विजानीहि] योग्य जानो [ये] जो [भवदुःखेभ्यः]
चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंसे [भीताः] डर गये हैं और [निर्वाणं पदं] मोक्षपदको
[इच्छन्ति] चाहते हैं। भावार्थ—व्यवहारमय परमात्मप्रकाश नामा अवर्ची और निष्क-
पनयकर निर्दोषपरमात्मस्वरूपकी भावनाके योग्य ये ही हैं जो रागादि विषयपर रहित परमा-
त्मस्वरूप शुद्धात्मस्वरूपकी भावनासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय अदिनधर सुखके निर्दोष के
नारकादि संसारके दुःख उनसे डर गये हैं जिनको चतुर्गतिसे भ्रमणवा डर है और जो
सिद्धपरमेश्वरीका निवास मोक्षपदको चाहते हैं ॥ ३३८ ॥

आगे फिर भी उन्हीं पुरुषोंकी महिमा कहते हैं, [ये] जो [परमात्मनः भक्ति
पराः] परमात्माकी भावना करनेवाले [ये] जो मुनि [निषयेभ्यः विरमन्ति] विषयोंसे
कषाओंमें नहीं रमते हैं [ते मुनिवराः] ते मुनिवरा [परमात्मप्रकाशस्य योग्याः]
परमात्मप्रकाशके योग्या भवन्ति [भवन्ति] । भावार्थ—परमात्मप्रकाश नामका अर्थ आगे

तत्त्वानुभूतिसमुत्पन्नातीन्द्रियपरमानन्दमुखरसास्वादप्राप्ताः संतः सुलभान्मनोहरानपि विषयान्
रमन्त इत्यभिप्रायः ॥ ३३९ ॥

अथ;—

णाणवियक्खणु, सुद्धमणु, जो जणु एहउ कोइ ।

सो परमप्पपयासपहं, जोग्गु भणंति जि जोइ ॥ ३४० ॥

ज्ञानविचक्षणः शुद्धमना यो जन ईदृशः कश्चिदपि ।

तं परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं भणंति ये योगिनः ॥ ३४० ॥

भणंति कथयंति जि जोइ ये परमयोगिनः । कं भणंति । जोग्गु योग्यं । कस्य ।
परमप्पपयासपहं व्यवहारनयेन परमात्मप्रकाशमिधानशाम्भस्य निश्चयेन तु परमात्मप्रका-
शशब्दवाच्यस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य । कं पुरुषं योग्यं भणंति । सो तं । तं कं । जो जणु
एहउ कोइ यो जनः इत्थंभूतः कश्चित् । कथंभूतः । णाणवियक्खणु स्वसंवेदनज्ञानविच-
क्षणः । पुनरपि कथंभूतः । सुद्धमणु परमात्मानुभूतिविलक्षणरागद्वेषमोहस्यरूपसमन्वित-
स्पर्जालपरिहारेण शुद्धात्मा इत्यभिप्रायः ॥ ३४० ॥ एवं चतुर्विंशतिसूत्रप्रमितमहाशालमभ्ये-
परमाराधकपुरुषलक्षणकथनरूपेण सूत्रत्रयेण पञ्चमन्तरम्यत्वं गतम् ।

तत्पर हैं वे विषय रहित जो परमात्मतत्त्वकी अनुभूति उससे उपार्जन किया जो अती-
न्द्रिय परमानन्दसुख उसके रसके आस्वादसे तृप्त हुए विषयोंमें नहीं रमते हैं । जिनको
मनोहर विषय आकर प्राप्त हुए हैं तौभी वे उनमें नहीं रमते ॥ ३३९ ॥

आगे फिर भी यही कथन करते हैं;—[यः जनः] जो प्राणी [ज्ञानविचक्षणः]
स्वसंवेदनज्ञानकर विचक्षण (बुद्धिमान) है और [शुद्धमनाः] जिसका मन परमा-
त्माकी अनुभूतिमें विपरीत जो रागद्वेषमोहरूप समन्वित विकल्परजाल उनके त्यागसे शुद्ध
है [कश्चिदपि ईदृशः] ऐसा कोई भी सत्पुरुष हो [तं] उसे [ये योगिनः] जो
योगीधर हैं वे [परमात्मप्रकाशकस्य योग्यं] परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य [भणंति]
कहते हैं । भावार्थ—व्यवहारनयकर यह परमात्मप्रकाश नामा द्रव्यमूत्र और निश्चयन-
यकर शुद्धात्मस्वभाव सूत्र उसके आराधनेको ये ही पुरुष योग्य हैं जो कि आत्मज्ञानके
प्रभावसे महा प्रीति हैं और जिनके मिथ्यात्व राग द्वेषादिमन्त्रक रहित शुद्ध भाव हैं ।
ऐसे पुरुषोंके मित्राव दमरा कोट भी परमात्मप्रकाशके आराधने योग्य नहीं हैं ॥ ३४० ॥
इस प्रकार चौतीस दोशोंके महात्म्यमें आराधक पुरुषके लक्षण तीन दोशोंमें कर
लगा अनामक समान हुआ ।

अथ शास्त्रफलकथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं तदनंतरमौद्भत्यपरिहारेण च सूत्रद्वयपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तथा—

लक्षणछंदविचित्रियउ, एहु परमप्पपयासु ।

कुणइ सुहाविं भावियउ, चउगइदुक्खविणासु ॥ ३४१ ॥

लक्षणछंदोविचर्जितः अयं परमात्मप्रकाशः ।

करोति सुभावेन भावितः चतुर्गतिदुःखविनाशं ॥ ३४१ ॥

लक्षण इत्यादि । लक्षणछंदविचित्रियउ लक्षणछंदोविचर्जितोऽयं । अयं कः । इहु परमप्पपयासु एष परमात्मप्रकाशः । एवंगुणविशिष्टोऽयं किं करोति । कुणइ करोति । कं । चउगइदुक्खविणासु चतुर्गतिदुःखविनाशं । कथंभूतः सन् । भावियउ भावितः । केन । सुहावइ शुद्धस्वभावेनेति । तथाहि । यद्यप्ययं परमात्मप्रकाशप्रबंधः शास्त्रक्रमव्यवहारेण दोहछंदसा प्राकृतलक्षणेन च युक्तः तथापि निश्चयेन परमात्मप्रकाशगोचराध्यशुद्धात्मस्वरूपेक्षया लक्षणछंदोविचर्जितः । एवंभूतः सन्नयं किं करोति । शुद्धभावनया भावितः सन् शुद्धात्मसंवित्तिमनुपन्नरागादिविकल्परहितपरमानंदैकलक्षणसुखविपरीतानां च-तुर्गतिदुःखानां विनाशं करोतीति भावार्थः ॥ ३४१ ॥

अथ श्रीयोगीन्द्रदेव औद्भत्यं परिहरति,—

इत्थु ण लिट्ठवउ पंडिप्पहिं, गुणदोसुयि पुणुत्तु ।

भट्ठपभायरकारणइं, मह पुणु पुणुयि पउत्तु ॥ ३४२ ॥

आगे शास्त्रके फलके कथनकी मुख्यताकर एक दोहा और उद्धृतपनेके त्यागकी मुख्यताकर दो दोहे इसतरह तीनदोहाओंमें व्याख्यान करते हैं;—[अयं परमात्म-प्रकाशः] यह परमात्मप्रकाश [सुभावेन भावितः] शुद्ध भावोकर भाषा हुआ [चतुर्गतिदुःखविनाशं] चारो गतीके दुःखोंका विनाश [करोति] करता है । जो परमात्मप्रकाश [लक्षणछंदोविचर्जितः] यद्यपि व्यवहारनयकर प्राकृतरूप दोहा छंदोकर सहित है और अनेक लक्षणोंकर सहित है तौभी निश्चयनयकर परमात्मप्रकाश जो शुद्धात्मस्वरूप वह लक्षण और छंदोंकर रहित है । भावार्थ—शुद्धलक्षण और मबंध ये दोनों परमात्मामें नहीं हैं । परमात्मा शुभाशुमलक्षणोंकर रहित है और जिसके कोई मबंध नहीं अनंतरूप है उपयोगलक्षणमई परमानंदलक्षणस्वरूप है सो भावोसे उसको आगधो, वही चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करने वाला है ॥ शुद्ध परमात्मा तो व्यवहार लक्षण और स्वरूप छंदोंसे रहित है इनमें भिन्न निजलक्षणमई है और वह परमात्मप्रकाशनाम अध्यात्म प्रबंध यद्यपि दोहछंदरूप है और प्राकृतलक्षणरूप है परंतु इनमें स्वभावद्वन्द्व नहीं मुख्यता है छद्म अलंकारादिकी मुख्यता नहीं है ॥ ३४२ ॥

अत्र न ग्राह्यः पंडितैः गुणो दोषोपि पुनरुक्तः ।

मदृप्रमाकरकारणेन मया पुनः पुनरपि प्रोक्तम् ॥ ३४२ ॥

इत्थु इत्यादि । इत्थु अत्र ग्रंथे ण लेख्य न ग्राह्यः । कैः । पंडितैर्हि पंडितैर्विचिन्तिः । कोसौ । गुण दोषोपि गुणो दोषोपि । कथंभूतः । पुनरुक्तः पुनरुक्तः । कस्मात्त ग्राह्यः । यतः मदृ पुनः पुनरपि पठन्तु मया पुनः पुनः प्रोक्तं । किं तन् । वीतरागपरमात्मनस्त्वं । किमर्थं । मदृपहायरकारणं प्रमाकरभट्टनिमित्तेनेति । अत्र भावनाप्रत्ये समाधिगतकादिवन् पुनरुक्तदृश्यं नास्ति इति । तदपि कस्मादिति चेन् । अर्थं पुनः पुनश्चित्तनलक्षणमिति वचनादिति मत्वा प्रमाकरभट्टव्याजेन समस्तजनानां मुख्यवार्थं यद्विरतः परमात्मभेदेन तु त्रिविधात्मनस्त्वं बहुधाप्युक्तमिति भावार्थः ॥ ३४२ ॥

अर्थः—

जं मदृ किंपिपि जंपियउ, जुत्ताजुत्तुपि इत्थु ।

तं वरणाणि श्रमंतु मद्दु, जे घुज्झहिं परमत्थु ॥ ३४३ ॥

यन् मया किमपि जल्पितं युक्तयुक्तमपि अत्र ।

तन् वरजानिनः क्षाम्यंतु मम ये बुध्यन्ते परमार्थम् ॥ ३४३ ॥

जं इत्यादि । जं मदृ किंपिपि जंपियउ यन्मया किमपि जल्पितं । किं जल्पितं । जुत्ताजुत्तुपि शब्दविषये अर्थविषये वा युक्तयुक्तमपि इत्थु अत्र परमान्मप्रकाशमिषानमर्थे श्रमंतु क्षमां कुर्वंतु । किं तन् । पूर्वोक्तदृश्यं । के । वरणाणि वीतरागनिर्विकल्पनमवैदन्-

भागो भी योगीश्वरेव उद्धतपनेका त्याग दित्तगते है—[अत्र] भी योगीश्वरेव कहते हैं अशो मय्यतीव ही इम ग्रंथमें [पुनरुक्तः] पुनरुक्तका [गुणो दोषोपि] दोष भी [पंडितैः] आप पंडितजन [न ग्राह्यः] महज नहीं करें और कविकवका गुण भी न छे क्योंकि [मया] मैंने [मदृप्रमाकरकारणेन] प्रमाकर भट्टके ग्रंथोपदेशनेकेलिए [पुनः पुनरपि प्रोक्तं] वीतरागपरमानंदरूप परमान्म तत्त्वका कथन बार बार किया है । भावार्थ—इम शब्दान्मभावनाके ग्रंथमें पुनरुक्तका दोष नहीं लगना । समाधिग्रंथ ग्रंथी

ज्ञानयुक्ता त्रिणिष्ठानिनः । कस्य । महु मम योगीन्द्रदेवाभिधानस्य । कथंभूता ये शानिनः ।
 जे बुद्धिहिं ये केचन बुध्यन्ते जानन्ति । कं । परमत्पु रागादिदोषरहितमनंतज्ञानदर्शनगुरु-
 वीर्यमहितं च परमार्थशब्दवाच्यं शुद्धात्मानमिति भावार्थः ॥ ३४३ ॥ इति सूत्रत्रयेण
 सप्तमंतरस्यलं गतं । एवं सप्तभिरंतरस्यलंब्रतुर्बिग्नतिसूत्रप्रमितं महाखलं समाप्तम् ।

अथैकवृत्तेन प्रोत्साहनार्थं पुनरपि फलं दर्शयति;—

जं तत्त्वं पाणरूपं परममुणिगणा णिच प्राप्यन्ति चित्ते
 जं तत्त्वं देहवत्त्वं णियसइ भुवणे सव्वदेहीण देहे ।
 जं तत्त्वं दिव्यदेहं तिहुयणगुरुकं सिज्झण संतजीवे
 तं तत्त्वं जस्स सुद्धं पुरइ णियमणं पायण सो हि सिद्धिं ॥ ३४४ ॥

यत् तत्त्वं ज्ञानरूपं परममुणिगणा नित्यं ध्यायन्ति चित्ते
 यत् तत्त्वं देहवत्त्वं निवसति भुवने सर्वदेहिनां देहे ।
 यत् तत्त्वं दिव्यदेहं त्रिभुवनगुरुकं सिध्यति शान्तजीवे
 तत् तत्त्वं यस्य शुद्धं स्फुरति निजमनसि प्राप्नोति स हि सिद्धिम् ॥ ३४४ ॥

पावण सो प्राप्नोति स हि सुद्धं । कं । सिद्धिं मुक्तिं । यस्य हि । जस्य णियमणे
 पुरइ यस्य निजमनसि स्फुरति प्रतिभानि । किं कर्मतापत्रं । तं तत्त्वं तत्त्वम् । कथंभूतं ।

[युक्तायुक्तमपि जल्पितं] युक्त अथवा अयुक्त शब्द कहा होवे तो [तत्] उसे [ये
 परमात्मानिनः] जो महान ज्ञानके धारक [परमार्थ] परम अर्थको [बुध्यन्ते] जानते हैं
 वे पंडित जन [मम ध्यायन्तु] मेरे ऊपर ध्याना करें । भावार्थ—मेरी छछरखी बुद्धि है
 जो कदाचित् मेरे शब्दमें अर्थमें तथा छंद अलंकारमें अयुक्त कहा हो वह मेरा दोष क्षमा
 करो । सुधार लो । जो विवेकी परमार्थको अच्छी तरह जानते हैं वे शराप इषा वगे
 मेरा दोष न लो । यह प्रार्थना योगीन्द्राचार्यने महाभुक्तियोंसे की । जो महाभुक्ति अपने छुट-
 सरूपको अच्छी तरह अपनेमें जानते हैं । जो निजस्वरूप रागादि दोष रहित अनंत
 दर्शन अनंत गुरु अनंत वीर्यकर सहित हैं ऐसे अपने स्वरूपको अपनेमें ही देखते हैं,
 जानते हैं और अनुभवते हैं वे ही इस ग्रंथके सुननेके योग्य हैं और सुपरमेष्ठ योग्य
 हैं ॥ ३४३ ॥ इस प्रकार तीन दोहाओंमें सानका अंतरखल कहा । इस तरह चौदह
 दोहाओंका महाखल पूर्ण हुआ ।

आगे एक राश्रस नामक १५० [१५०] जो इस ग्रंथके पदनेके ५० वर हैं — तत्
 तत् [तत्त्वं] निज आत्मनस्त्वं यस्य निजमनसि । ३४४ ॥ [स्फुरति] स्फुरति
 मान हो जाना है [स हि] जो ही । [सिद्धिं प्राप्नोति] । ३४४ ॥

जयउ सर्वोत्कर्षेण शुद्धिं गच्छतु । कोसौ । दिव्यकाओ परमौदारिकप्रतीतिभिधान-
 दिव्यकायस्तदाधारो भगवान् । कथंभूतः । भासओ दिवाकरमहमादप्यधिकतेजस्वाङ्गामकः
 प्रकाशकः । केपां कायः । परमपद्मगयाणं परमानंतज्ञानादिगुणास्पदं यद्दर्शयदं तत्र
 गतानां । न केवलं दिव्यकायो जयतु । दिव्यजोओ द्वितीयशुद्ध्यानाभिधानो वीतरागो
 निर्विकल्पममाधिरूपो दिव्ययोगः । कथंभूतः । मोक्षदो मोक्षप्रदायकः । क जयतु ।
 मणसि मनसि । केपां । मुनिवराणं मुनिपुंगवानां । न केवलं योगो जयतु । केरलो
 कोवि चोहो केवलज्ञानाभिधानः कोप्यपूर्वो बोधः । कथंभूतः । मित्रमरूओ मित्रगण्यवाक्यं
 यदनंतसुर्यं तत्स्वरूपः । पुनरपि कथंभूतः । दुष्टहो जो दुष्टो दुर्लभो दुष्प्रापः यः
 दुष्टः । क । लोके । केपां दुर्लभः । विसयसुहरयाणं विषयसुगतीतपरमान्ममाभिनोत्पन्न-
 परमानंदैकरूपमुत्पात्वाद्दर्शितत्वेन पंचेंद्रियविषयासक्तानामिति भावार्थः ॥ ३४५ ॥

इति 'परं जाणंतुवि परममुजि परमंसगु पयंनि' इत्याद्येकादशीतिमूत्रपर्यंतं सामान्यभेद-
 भावना, तदनंतरं 'परमममाहि महासरहि' इत्यादि चतुर्विंशतिमूत्रपर्यंतं वृत्तायत्नं, तदनंतरं
 वृत्तद्वयं चेति सर्वसमुदायेन संप्राधिकमूत्रजतेन द्वितीयमहाधिकारे वृत्तिवागनेति ॥
 एवमत्र परमात्मप्रकाशानभिधानग्रंथे प्रथमतयावन् 'जे जाया ज्ञानगियण, इत्यादि त्रयो-
 विंशत्यधिकमूत्रजतेन प्रक्षेपकप्रयमहितेन प्रथममहाधिकारो गतः । तदनंतरं चतुर्विंशति-
 शतद्वयेन प्रक्षेपकपंचकमहितेन द्वितीयोपि महाधिकारो गतः । एवं पंचाधिकारार्थात्म-

आगे ग्रंथके अंतर्मगलकेलिये आशीर्वादरूप नमस्कार करते हैं:—[दिव्यकायः]
 त्रिमका ज्ञान आनंदरूप शरीर है अथवा [परमपद्मगतानां भासकः] आनंदपरको
 भास हुए जीवोंका प्रकाशमान परमौदारिक शरीर है ऐसा परमात्म तब [जयतु]
 सर्वोत्कर्षपनेसे वृद्धिको प्राप्त होवे । जो परमौदारिक शरीर ऐसा है कि त्रिमका तब एकादश
 एकोसे अधिक है अर्थात् सकल प्रकाशी है । जो परमपरको प्राप्त हुए केवली है उनको
 सो साक्षात् दिव्यकाय पुरुषाकार भासता है [मुनिवराणां] स्तौर जो महागुणि हैं उनके
 [मनसि] मनमें [दिव्ययोगः] द्वितीयशुद्ध्यानारूप वीतराग निर्विकल्पममाधिरूप
 भास रहा है । [मोक्षदः] और मोक्षदा देनेवाला है । [केरलः कोवि बोधः]
 विसका केवल ज्ञान सभाव है ऐसी अपूर्व ज्ञानग्योति [शिवमरूपः] सदा ब्रह्मरूप
 है । [लोके] लोकमें [विषयसुहरयानां] शिवस्वरूप अनन्य परमात्मको कायदा
 उत्पन्न जो परमानंद अतीन्द्रियसुर्य उगम उत्पन्न जो पांच इंद्रियों १२५५ जने के
 आसक्त हैं उनको [यः हि] जो परमात्मपर [दुर्लभः] दुर्लभ आकाश—
 इस लोकमें विषयी जीव १२५५ ॥ ३४५ ॥

मुद्धं रागादिरहितं । पुनरपि कथंभूतं यन् । जं तत्तं णाणरूढं यदात्मतत्त्वं ज्ञानरूपं ।
 पुनरपि किं विशिष्टं यन् । णिच ज्ञायंति नित्यं ध्यायंति । क । चित्ते मनसि । के
 ध्यायंति । परममुणिगणा परममुनिसमूहाः । पुनरपि किं विशिष्टं यन् । जं तत्तं देहचत
 यत्परमात्मतत्त्वं देहलक्षकं देहाद्धिर्ज्ञं । पुनरपि कथंभूतं यन् । णिवसद् निवसति । क ।
 भुवणे सव्यदेहीण देहे त्रिभुवने सर्वदेहिनां संसारिणां देहे । पुनरपि कीदृशं यन् । जं तत्तं
 दिव्यदेहं यन् शुद्धात्मतत्त्वं दिव्यदेहं दिव्यं केवलज्ञानादिशरीरं । शरीरमिति कोपः ।
 स्वरूपं । पुनश्च कीदृशं यन् । तिद्वयणगुरुगं अव्यावाधानंतमुखादिगुणेन त्रिभुवनादि
 गुरुं पूज्यमिति त्रिभुवनगुरुकं । पुनरपि किं रूपं यन् । सिद्ध्यै सिद्ध्यति निष्पत्तिं याति ।
 क । संतजीवे प्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथविकल्पजालरहितत्वेन परमोपशांतजीव-
 स्वरूपे इत्यभिप्रायः ॥ ३४४ ॥

अथ ग्रन्थस्यावसाने मंगलार्थमाशीर्वादरूपेण नमस्कारं करोति;—

परमपयगयाणं भासओ दिव्यकाओ
मणसि मुणियराणं सुखखदो दिव्वजोओ ।

यिसयसुहरयाणं दुल्लहो जो हू लोण
जयउ सियसरूयो केयलो कोवि मोहो ॥ ३४५ ॥

परमपद्मगतानां भासको दिव्यकायः

मनसि मुनिवराणां मोक्षदो दिव्ययोगः ।

विषयसुसरतानां दुर्लभो यो हि लोके

जयतु शिवस्वरूपः केवलः कोपि बोधः ॥ ३४५ ॥

हे बहू तत्त्व ! जो कि [शुद्ध] रागादि मन्त्रहित है [ज्ञानरूप] और ज्ञानरूप है
 त्रिमूर्ति [परममुनिगणाः] परममुनीधर [नित्य] सदा [चित्ते ध्यायंति] अपने
 चित्तमें ध्याते हैं [यन् तत्त्वं] जो तत्त्व [भुवने] इस लोकमें [गर्भदेहिना देह]
 सब प्राणियोंके शरीरमें [निवसति] मौजूद है [देहल्यक्त] और आप देहसे रहित है
 [यन् तत्त्वं] जो तत्त्व [दिव्यदेह] केवलज्ञान और आनंदरूप अनुपम देहको धारण
 करता है [त्रिभुवनगुरुकं] तीनभुवनमें श्रेष्ठ है [ज्ञानजीवे मिथ्यनि] त्रिमूर्ति जगत्-
 धर ज्ञानपरिणामी मन्त्रपुरुष मिटवत पाने है । भावार्थ—देखा वह ऐतन्मयतम त्रिमूर्ति
 चित्तमें प्रकट हुआ है वही मातृ मूर्तिको धारण है । अथाप्यत्र जननमुप आदि गुणो-
 क्त बहू तत्त्व त्रिमूर्तिको पुरुष है मन्त्र पुरुषोंके ही दृश्यमान बहू तत्त्व मिट होना है ।
 केन है मन्त्र जो अथवा बहू तत्त्व जगत् प्राणियों के लिये मन्त्रोंमें प्रकट
 प्रकट होना है । अतएव जगत् प्राणियों के लिये मन्त्रोंमें प्रकट होना है ॥ ३४४ ॥

जयउ सर्वोत्कर्षेण शुद्धिं गच्छतु । कोमो । दिव्यकाओ परमौन्नरिक्शरीरानिधान-
दिव्यकायसदाधारो भगवान् । कथंभूतः । भासओ दिवाकरमहेश्वरविष्णुदेवताङ्गामरः
प्रकाशकः । केषां कायः । परमपयगयाणं परमानंतज्ञानादिगुणाग्रदं यद्वर्णनं नृप
पदानां । न केवलं दिव्यकायो जयतु । दिव्यजोओ द्वितीयशुद्ध्यानामिधानो योगगणे
निर्विकल्पसमाधिरूपो दिव्ययोगः । कथंभूतः । मोरग्रदो मोक्षप्रदायकः । क जयतु ।
मणसि मनसि । केषां । मुणिवराणं गुणिपुंगवानां । न केवलं योगो जयतु । केदो
कोपि घोहो केवलज्ञानाभिधानः कोप्यपूर्वो बोधः । कथंभूतः । मित्रमूर्त्तौ मित्रज्ञानरूपं
यदंतमुरं सत्त्वरूपः । पुनरपि कथंभूतः । दुर्लभो ज्ञो दुर्लोणं दुर्लभो दुर्लभायः कः
शुद्धं । क । लोके । केषो दुर्लभः । विसयगुहरयाणं विषयगुणातीतपरमात्मज्ञानोपक-
परमानंदैकरूपसुखास्वादरहितत्वेन संवेष्टियविषयागमनानामिति भावार्थः ॥ ३५ ॥

इति 'परु जाणंनुवि परममुणि परमंसग्गु पयंति' इत्याद्येकवर्तीतिगुप्रत्ययेन शास्त्रादपेक्ष-
मावना, तदन्तर्गतं 'परमसमादि महावरदि' इत्यादि बहुविधविगुप्रत्ययेन शास्त्रादपेक्ष, नन्तः
एतद्वयं चेति सर्वसमुदायेन समाधिकमुद्गतेन द्वितीयमहाधिकारो ज्ञेयः ॥
एवमत्र परमारमप्रकाशाभिधानप्रथे' प्रथमतयावन 'जे जाया शाण्णियायण, इत्यादि ज्ञेयः
विगत्यधिकमुद्गतेन प्रश्नेपकप्रथमहितेन प्रथममहाधिकारो गणः । तदन्तर्गतं 'कामुद्वय' एव
नान्यद्वयेन प्रश्नेपकप्रथमहितेन द्वितीयोपि महाधिकारो गणः । एवं चत्वारिपञ्चमद्वयानि ॥

आगे प्रथमके अंतर्मग्नकेलिये आशीर्वादरूप गम्यकार करते हैं,—[दिव्यवाचः]
 त्रिमया ज्ञान आनंदरूप शरीर है अथवा [परमपदगतानां भागवतः] ॥ १०८ ॥
 मान हुए जीवोंका प्रकाशमान परमेश्वरिक शरीर है ऐसा प्रमाण १०८ [उपनिषद्]
 सर्वोत्कर्षपनेसे बुद्धिको प्राप्त होवे। जो परमेश्वरिक शरीर ऐसा है कि त्रिमया १०८ ॥
 पृथ्वीसे अधिक है अर्थात् सकल प्रकाशी है । जो परमपदको प्राप्त हुए प्रकाश है १०८ ॥
 जो साक्षात् दिव्यवाच पुरुषाकार भासता है [मुनिवराणां] ॥ १०९ ॥
 [मनसि] मनमें [दिव्ययोगः] द्वितीयपुरुषाधानरूप दीप्तमान ॥ १०९ ॥
 भाग रहा है । [मोक्षदा] और मोक्षका देनेवाला है । [वैश्वः] सर्वविशेषः]
 त्रिमया केवल ज्ञान स्वभाव है ऐसी अपूर्व ज्ञानमूर्ति [विश्वम्भरः] ॥ ११० ॥
 है । [लोकः] लोकमें [विषयगुणरतानां] विषयस्वरूप अद्वय ॥ ११० ॥
 उत्पन्न जो परमानंद आशीर्वादरूप उमाग निवर्तित जो ॥ ११० ॥
 भाग्य है उनको [यः हि] जो परम ॥ ११० ॥
 ११० लोकमें विषयी ॥ ११० ॥
 रवे ॥ ११५ ॥

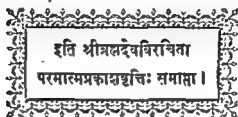
हितगतत्रयप्रमित श्रीयोगीन्द्रदेवविरचिन दोहकमूत्राणां विवरणमूना परमात्मप्रकाशशक्तिः
समाप्ता ॥

इसप्रकार इस परमात्मप्रकाशनामा ग्रंथमें पहले 'जे जाया ज्ञानगीग' इत्यादि पद्यों
तेषीस दोहा तीन प्रश्नेपकों सहित ऐसे १२६ दोहाओंमें पहला अविचार समाप्त हुआ ।
एकसौ चौदह दोहा तथा ५ प्रश्नेपक सहित दूसरा महाविचार कहा । और 'पर ज्ञान-
तुंवि' इत्यादि एकसौ सात दोहाओंमें तीसरा महाविचार कहा । प्रश्नेपक और अंतके दो
छंद उन सहित तीनसौ पैंतालीस ३४५ दोहाओंमें परमात्मप्रकाशका व्याख्यान ब्रह्मदेवकृत

पंचेंद्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोर्कर्मख्यातिपूजालाभदृष्टानु-
 नुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशक्त्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहं, जगत्त्रये
 कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेपि जीवाः,
 इति निरंतरं भावना कर्त्तव्येति ॥ ग्रंथमंख्या ४००० ।

पंडेवरामहिं णरवरहिं, पुत्रिउ भसिभरेण ।

सिरिसासणु जिगभासियउ, णंदउ सुक्खमणहिं ॥ १ ॥



शुभोक्ति सैकड़ाभोकर वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ यह परमात्मप्रकाश ग्रंथका व्याख्यान प्रभाकर
 महर्षके संशोधनेकेलिये श्रीयोगीन्द्रदेवने किया उसपर श्री ब्रह्मदेवने संस्कृतटीका की । श्री
 योगीन्द्रदेवने प्रभाकरमहर्षके समझानेकेलिये तीनसौ तैतालीस दोहा किये उसपर श्री ब्रह्म-
 देवने संस्कृतटीका पांच हजार चार प्रमाण की । उसपर दौलतरामने भाषावचनिकाके
 श्लोक अष्टमटिप्पौ मध्यै संख्याप्रमाण किये ।

इमप्रकार श्री योगीन्द्राचार्य विरचित परमात्मप्रकाशकी
 पं० दौलतराम हन भाषाटीका समाप्त हुई.



अथ परमात्मप्रकाशस्य विषयानुक्रमणिका ।

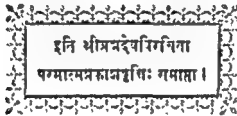


विषय	पृ.सं. दो.सं.	विषय	पृ.सं. दो.सं.
मंगलचरण ११	निश्चय सम्यग्दृष्टिका स्वरूप	८२।७७
त्रिविधात्माधिकार ॥ १ ॥		मिथ्यादृष्टिके लक्षण	८३।७८
श्रीयोगीन्द्रगुरुसे प्रभाकरभट्टका		सम्यग्दृष्टिकी भावना	८९।८६
प्रश्न	१६।८	भेदविज्ञानकी मुख्यतासे आत्माका	
श्रीगुरुका तीन प्रकार आत्माके		कथन	९६।९४
कथनका उपदेशरूप उत्तर	१९।११	मोक्षाधिकार ॥ २ ॥	
बहिरात्माका लक्षण	२२।१३	मोक्षके बारेमें प्रश्न	१२८।१२७
अंतरात्माका स्वरूप	२३।१४	मोक्षके विषयमें उत्तर	१२८।१२८
परमात्माका लक्षण	२४।१५	मोक्षका फल	१२९।१३७
परमात्माके स्वरूप जाननेकी		मोक्षमार्गका व्याख्यान	१२९।१३८
रीति	२६।१७	अभेदरत्नत्रयका व्याख्यान	१६७।१५७
क्षतिकरूपसे सब जीवोंके शरीरमें		परम उपशमभावकी मुख्यता	१७८।१६५
परमात्मा विराजमान है	३३।२६	निश्चयसे पुण्यपापको एकपना	१९४।१८०
जीव और अजीवमें लक्षण-		शुद्धोपयोगकी मुख्यता	२०९।१९४
भेदसे भेद है	३६।३०	(चूलिकाव्याख्यान)	
शुद्धात्माका मुख्य लक्षण ...	३७।३१	परद्रव्यके संबंधका त्याग	२५२।२३५
शुद्धात्माके ध्यानसे संसार-		त्यागका दृष्टांत	२५४।२३७
भ्रमणका रुकना....	३८।३२	मोक्षका त्याग	२५५।२३८
जीवको अपने २ देहके प्रमाण		इंद्रियोंमें लपटी जीवोंका	
माननेमें अपने मत और		विनाश ...	२५८।२४२
परमतत्वा विचार	५४।५१	लोभकृपायमें दोष ...	२६०।२४३
द्रव्य गुण पर्यायकी मुख्यतासे		येहका त्याग	२६१।२४४
आत्माका कथन	५९।५६	जीवहिंसाका दोष ...	२६८।२५५
द्रव्यगुणपर्यायका स्वरूप ...	६१।५७	जीवरक्षासे लाभ	२७१।२५७
जीवकर्मके संबंधका विचार	६४।५९	अभ्रुवभावना	२७३।२५९
आत्माका परवस्तुसे भिन्नपनेका		जीवको शिक्षा	२७८।२६१
कथन	७४।६८	पंचेन्द्रियको जीतना	२८१।२६६

पंचेन्द्रियविरयज्याहारमनोरचनहायज्याहारभारकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरयानिपूजाशामटष्टपुता-
नुभूतभोगाकांक्षाभ्युनिदानमायामिध्यागन्धप्रयादिभर्यविभारपरिणामरहितगन्धोऽहं, जगदये
काष्ठप्रयेनि मनोरचनकायैः कृतकारितानुमनैश्च शुद्धनिश्चयनेन । तथा सर्वेति जीवाः,
इति निरंतरं भावना कर्तव्येति ॥ प्रथमं मन्त्रा ५००० ।

पंडितरामहिं परचरहिं, पुत्रिड भगिभरेण ।

निरिमामनु जिनभानियड, पंडड मुत्तरमण्डि ॥ १ ॥



दुर्भीष्ट निवृत्ताभेदः वृत्तिको प्राप्त होवे ॥ वद परमात्मप्रकाश प्रेषका व्याख्यान प्रभाकर
ब्रह्मदेव संन्यासे किये श्रीयोगीन्द्रदेवने किया उमपर भी ब्रह्मदेवने संन्यासीका की । भी
बे-न्यासे किये ब्रह्मदेवने गमज्ञाने किये तीनगो सेनालीम दोहा किये उमपर भी ब्रह्म-
देवने संन्यासीका पांच हजार बार प्रमाण की । उमपर श्रीजनगमने मातापतिगण
कोई अहमहिंसे नही संन्यासमाण किये ।

इत्युक्तः श्री योगीन्द्राचार्य विरचित परमात्मप्रकाशकी

पं० श्रीजनगम ११ माताटीका समाप्त हुई.



अथ परमात्मप्रकाशस्य विषयानुक्रमणिका ।

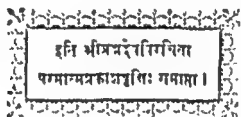


विषय	पृ.सं. दो.सं.	विषय	पृ.सं. दो.सं.
मंगलाचरण १११	निश्चय सम्यग्दृष्टिका स्वरूप	८२।७७
त्रिविधात्माधिकार ॥ १ ॥		मिथ्यादृष्टिके लक्षण	८३।७८
श्रीयोगीन्द्रगुरुसे प्रभाकरमहृका		सम्यग्दृष्टिकी भावना	८९।८६
प्रश्न	१६।८	भेदविज्ञानकी मुख्यतासे आत्माका	
श्रीगुरुका तीन प्रकार आत्माके		कथन	९६।९४
कथनका उपदेशरूप उत्तर	१९।११	मोक्षधिकार ॥ २ ॥	
बहिरात्माका लक्षण	२२।१३	मोक्षके वारेमें प्रश्न	१२८।१२७
अंतरात्माका स्वरूप	२३।१४	मोक्षके विषयमें उत्तर	१२८।१२८
परमात्माका लक्षण	२४।१५	मोक्षका फल	१३९।१३७
परमात्माके स्वरूप जाननेकी		मोक्षमार्गका व्याख्यान	१३९।१३८
रीति	२६।१७	अभेदरत्नत्रयका व्याख्यान	१६७।१५७
शक्तिरूपसे सब जीवोंके शरीरमें		परम उपशमभावकी मुख्यता	१७८।१६५
परमात्मा विराजमान है	३३।२६	निश्चयसे पुण्यपापको एकपना	१९४।१८०
जीव और अजीवमें लक्षण-		शुद्धोपयोगकी मुख्यता	२०९।१९४
भेदसे भेद है	३६।३०	(चूलिकाभ्याख्यान)	
शुद्धात्माका मुख्य लक्षण ...	३७।३१	परद्रव्यके संबंधका त्याग	२५२।२३५
शुद्धात्माके ध्यानसे संसार-		त्यागका दृष्टांत ...	२५४।२३७
भ्रमणका रुकना....	३८।३२	मोहका त्याग	२५५।२३८
जीवको अपने २ देहके प्रमाण		इंद्रियोंमें लंपटी जीवोंका	
माननेमें अपने मत और		विनाश ...	२५८।२४२
परमतका विचार	५४।५१	लोभकषायमें दोष ...	२६०।२४३
द्रव्य गुण पर्यायकी मुख्यतासे		खेहका त्याग	२६१।२४४
आत्माका कथन ...	५९।५६	जीवहिंसाका दोष ...	२६८।२५५
द्रव्यगुणपर्यायका स्वरूप	६१।५७	जीवरक्षासे लाभ	२७१।२५७
जीवकर्मके सबधका विचार	६४।५९	अध्रुवभावना	२७३।२५९
आत्माका परवस्तुसे भिन्नपनेका		जीवको शिक्षा	२७८।२६३
कथन ...	७४।६८	पंचेन्द्रियको जीतना	२८१।२६६

पंचेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकारव्यापारभावकर्मद्वन्द्वकर्मनो कर्मकारातिपूजात्वाभट्टभुता-
नुमूतभोगतत्कर्मकारनिदानमायामिष्यामत्ययपरिमर्शविभासरतिनामरहितगुणोद्भूतं, जगत्त्रये
कालत्रयेति मनोवचनकारैः कृतकारितानुमनैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेति जीवाः,
इति निरन्दरे भावना कर्तव्येति ॥ मंत्रमंश्या ४००० ।

पंडितानां च परमार्थं, पुनित भविभवेन ।

निरिमात्तु त्रिगभागिवत्, जंरत्त मुग्गगणदि ॥ १ ॥



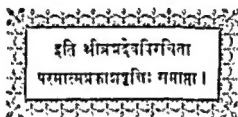
अथ परमानन्दमन्त्राणाम् विषयानुक्रमिका ।

विषय	पृ. सं. दो. सं.	विषय	पृ. सं. दो. सं.
प्रस्तावना	१११	निश्चय सम्पत्ति का मूल	८२१७७
निदिधायाधिकार ॥ १ ॥		निश्चयार्थिके लक्षण	८२१७८
जीवोन्मीलनार्थे प्रमाणमाहवा		सम्पत्ति की भावना	८२१८६
प्रथम	१६१८	भेदविज्ञान की मुख्यतामे आत्माका	
प्रमाण का तीन प्रकार आत्माके		वचन	९६१९४
वचन का उपदेशार्थ उत्तर	१९१११	मोक्ष अधिकार ॥ २ ॥	
प्रमाण का लक्षण	१९१११	मोक्ष के बारेमें प्रथम	१२८११२७
प्रमाण का स्वरूप	१९११४	मोक्ष के विषयमें उत्तर	१२८११२८
प्रमाण का लक्षण	१९११५	मोक्ष का फल	१२९११३७
प्रमाण के स्वरूप जानने की		मोक्ष मार्ग का व्याख्यान	१२९११३८
विधि	२६११७	अभेद लक्षण का व्याख्यान	१६७११५७
प्रमाण के सब जीवों के शरीरमें		परम उपशमभाव की मुख्यता	१७८११६५
प्रमाण का विराजमान हो	१३१२६	निश्चय से पुण्यप्राप्त की एकपना	१९४११८०
जीव और अजीवों के लक्षण-		मुद्रोपयोग की मुख्यता	२०९११९४
भेद में भेद है	१६१३०	(पूरुषार्थ व्याख्यान)	
मुद्राभावा का मुख्य लक्षण ...	२७१३१	परब्रह्म के संबंध का त्याग	२५२१२३५
मुद्राभावा के ध्यान में संसार-		त्याग का दृष्टान्त ...	२५४१२३७
प्रमाण का स्वरूप	३८१३२	मोक्ष का त्याग	२५५१२३८
जीव की अपने २ देह के प्रमाण		इंद्रियों में छपटी जीवों का	
मानने में अपने मत और		विनाश ...	२५८१२४२
परमत्त का विचार ...	५४१५१	लोभ कृपाय में दोष ...	२६०१२४३
प्रमाण गुण पर्याय की मुख्यता से		खेद का त्याग	२६११२४४
आत्मा का वचन	५९१५६	जीव हिंसा का दोष ...	२६८१२५५
प्रमाण गुण पर्याय का स्वरूप	६११५७	जीव रक्षामे लाभ	२७११२५७
जीव कर्म के सम्यक् विचार	६४१५९	अभ्रव भावना	२७३१२५९
आत्मा का परब्रह्म में निक्षेप का		जीव की शिक्षा	२७८१२६३
वचन	७४१६८	पंचेन्द्रिय की जीवना	२८११२६६

पंचेन्द्रिविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरत्यातिपूजाश्रमदृष्टमुता-
नुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिध्यानात्यवयवारिमर्चविभावसरिणामरहितगुण्योऽहं, जगदये
काष्ठत्रयेरि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमनैश्च शुद्धनिश्चयनयेन । तथा सर्वेपि जीवाः,
इति निरंतरं भावना कर्तव्येति ॥ ग्रंथसंख्या ४००० ।

पंडेवरामहि परवरहि, पुनिउ मतिभरेन ।

मिरिमासनु जिगभासियउ, णंदउ मुररामणहि ॥ १ ॥



दुर्भेद ईश्वराभेदर वृद्धिको प्राग होये ॥ यह परमात्मप्रकाश ग्रंथका व्याख्यान समाप्त
बहुतेक मन्त्रोक्तिक्रिये श्रीयोगीश्वरदेवने किया उगपर श्री ब्रह्मदेवने संस्कृतटीका की । श्री
ब्रह्मदेवने प्रनाममहोदय गमगानेकक्रिये तीनमो तेजाजीम दोहा किये उगपर श्री ब्रह्म-
देवने संस्कृतटीका पांच द्वात्राचार प्रमाण की । उगपर दोहनगमने भाषावपनिकाहे
कोई अद्वयद्वैत नये मन्त्राप्रमाण किये ।

इत्येवम् श्री योगीश्वराचार्य विग्विन परमात्मप्रकाशकी

पंच दोहनगम इन भाषाटीका समाप्त हुई.



विषय	पृ.सं. दो.सं.
इंद्रियसुखको अनित्यपना	२८३।२६९
मनको जीतनेसे इंद्रियोंका	
जीतना	२८५।२७१
सम्पत्तवकी दुर्लभता	२८८।२७४
गृहवास व ममत्वमें दोष	२९०।२७५
देहसे ममत्वत्याग	२९१।२७६
देहकी भलिनताका कथन	२९३।२७७
आत्माधीन सुखमें प्रीति	२९८।२८५
चित्त स्थिर करनेसे आत्मस्व-	
रूपकी प्राप्ति	३००।२८७
निर्विकल्प समाधिका कथन	३०४।२९२
दानपूजादि श्रावकधर्मपरंपरा	
मोक्षका कारण है	३१२।२९९

विषय	पृ.सं. दो.सं.
चिंतारहित ध्यानभुक्तिका कारण	३१३।३००
यह आत्माही परमात्मा है	३१८।३०५
देह और आत्माकी भेदभावना	३२०।३०८
सच्चिदाओंका निषेध	३२७।३१८
परमसमाधिका व्याख्यान	३२९।३२०
अर्हतपदका कथन	३३४।३२६
परमात्मप्रकाश शब्दका अर्थ	३३७।३२९
सिद्धस्वरूपका कथन	३३९।३३२
परमात्मप्रकाशका फल	३४२।३३५
परमात्मप्रकाशके योग्य पुरुष	३४४।३३८
परमात्मप्रकाशशास्त्रका फल	३४९।३४४
अंतिम संग्रह	३५०।३४५



विषय	पृ.सं. दो.सं.
इंद्रियसुखको अनित्यपना	२८३।२६९
मनको जीतनेसे इंद्रियोंका जीतना	२८५।२७१
सम्यक्त्वकी दुर्लभता	२८८।२७४
गृहवास व ममत्वमें दोष	२९०।२७५
देहसे ममत्वत्याग	२९१।२७३
देहकी मलिनताका कथन	२९३।२७९
आत्माधीन सुखमें प्रीति	२९८।२८५
चित्त स्थिर करनेसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति	३००।२८७
निर्विकल्प समाधिका कथन	३०४।२९२
दानपूजादि श्रावकधर्मपरंपरा मोक्षका कारण है	३१२।२९९

विषय	पृ.सं. दो.सं.
चिंतारहित ध्यानमुक्तिका कारण	३१३।३००
यह आत्माही परमात्मा है	३१८।३०५
देह और आत्माकी भेदभावना	३२०।३०८
सर्वचिंतार्थोंका निषेध	३२७।३१८
परमसमाधिका व्याख्यान	३२९।३२०
अर्हतपदका कथन	३३४।३२६
परमात्मप्रकाश शब्दका अर्थ	३३७।३२९
सिद्धस्वरूपका कथन	३३९।३३२
परमात्मप्रकाशका फल	३४२।३३५
परमात्मप्रकाशके योग्य पुरुष	३४४।३३८
परमात्मप्रकाशशास्त्रका फल	३४९।३४४
अंतिम मंगल	३५०।३४५

